Prakrit Text Society Series No. 10

NANDISŪTRAṂ

by

SHRĪ DEVAVĀCAKA

with the VṚTTI by

SHRĪ HARIBHADRĀCARYA

and

DURGAPADAVYĀKHYĀ ON VṚTTI

By

SHRĪ ŚRĪCANDRĀCĀRYA

and

VIṢAMAPADAPARYĀYA ON VṚTTI

Edited by

MUNI SHRĪ PUNYAVIJAYAJĪ

General Editors :

Dr. V. S. AGRAWĀLA

Pandit DALSUKH MĀLVANIĀ

PRĀKRIT TEXT SOCIETY

VARANASI-5 AHMEDABAD-9

1966

Published by
DALSUKH MALVANIA
Secretary,
PRAKRIT TEXT SOCIETY
VARANASI-5

Price Rs. 15/-

Available from :

1 MOTILAL BANARASIDASS, NEPALI KHAPRA, Post Box 75, VARANASI.

2 CHAUKHAMBA VIDYABHAVAN, CHAWK, VARANASI

3 GURJAR GRANTHARATNA KARYALAYA, GANDHI ROAD, AHMEDABAD-1.

4 SARASWATI PUSTAK BHANDAR, RATANPOLE, HATHIKHANA, AHMEDABAD-1.

5 MUNSHI RAM MANOHARLAL, NAI SARAK, DELHI.

Printed by :-
JAYANTI DALAL
Vasant P. Press
Gheekanta, Ghelabhai's Wadi,
AHMEDABAD-1.

प्राकृतग्रन्थपरिषद् ग्रन्थाङ्क १०

श्रीदेववाचकविरचितं

नन्दिसूत्रम्

श्री-श्रीचन्द्राचार्यकृतदुर्गपदव्याख्या-अज्ञातकर्तृकविषमपदपर्यायाभ्यां समलङ्कृतया
आचार्यश्रीहरिभद्रसूरिकृतया वृत्त्या सहितम्

संशोधकः सम्पादकश्च

मुनिपुण्यविजयः

जिनागमरहस्यवेदिजैनाचार्यश्रीमद्विजयानन्दसूरिवर(प्रसिद्धनाम—आत्मारामजीमहाराज)शिष्यरत्न—
प्राचीनजैनभाण्डागारोद्धारकप्रवर्तकश्रीमत्कान्तिविजयान्तेवासिनां
श्रीजैनआत्मानन्दग्रन्थमालासम्पादकानां मुनिप्रवरश्रीचतुरविजयानां विनेयः

प्राकृत ग्रन्थ परिषद्,

वाराणसी–५ अहमदाबाद–९,

वीरसंवत् २४९२ विक्रमसंवत् २०२२ इस्वीसन् १९६६

प्रकाशक :–
दलसुख मालवणिया
सेक्रेटरी, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी,
वाराणसी–५

मुद्रक :–
जयंति दलाल
वसंत प्रिन्टींग प्रेस
घीकांटा, घेलाभाईकी वाडी
अहमदाबाद–१

गंथसमप्पणं

सव्वण्णुसत्थत्थपयासणत्थं भव्वाण जीवाण विबोहणत्थं ।
गंथा अणेगा रइया महग्घा जेहिं महत्था विविहा विसुद्धा ॥१॥

'भवविरहसूरि' इतिगुण्णणाम जेसिं जयम्मि सुपसिद्धं ।
जाइणिमहत्तराए धम्मसुयत्तं च जे पत्ता ॥२॥

अणुवकयपरोवकया अम्हारिसऽणेयजणगणम्मि जे ।
महमाहणाण महसमणवराणं पुज्जपायाणं ॥३॥

सिरिहरिभद्दायरियाणऽणुवमचरियाण महमईणं णं ।
ताणं ताणाणऽहयं तव्विरइयवित्तिसंजुयं एयं ॥४॥

पुण्णपवित्ते करकयकोसे अप्पेमि नंदिसुत्तं हं ।
भत्ति-बहुमाणगहिल्लो विणयणओ अप्पयं धन्नं ॥५॥

मन्नमाणो वारं वारं सकयत्थयं च भावंतो ।
मुणिपुण्णविजयणामो णिग्गंथो चरणरयकप्पो ॥६॥ छहिं कुलयं ॥

ग्रन्थसमर्पण

भव्यजीवों के विबोध के लिए सर्वज्ञ के शास्त्रों के अर्थप्रकाशन के हेतु जिन्होंने विविध विशुद्ध और महार्थको प्रकट करनेवाले महामूल्यवान अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनका उपनाम 'भवविरहसूरि' जगत में सुप्रसिद्ध है और जो याकिनीमहत्तरा के धर्मपुत्र थे, हमारे जैसे अनेक जनोंको जिन्होंने अनुपकृत होते हुए भी उपकार किया है, जो महाब्राह्मण महाश्रमणश्रेष्ठ और पूज्यपाद है, ऐसे महामति अनुपमचारित्रधर **श्रीहरिभद्राचार्य** के पुण्यपवित्र करकमलकोषमें उन्हींकी बनाई वृत्ति के साथ यह नन्दिसूत्र को भक्ति और बहुमान से विवश अपने को धन्य मानता हुआ—पुनः पुनः अपने को कृतार्थ समझता हुआ मैं उनकी चरणरजके समान निर्ग्रन्थ मुनि **पुण्यविजय** समर्पित करता हूँ ।

प्रकाशकीय निवेदन

जैन आगम ग्रन्थों के प्रकाशनके लिए अब तक अनेक व्यक्ति और संस्थाओंने प्रयत्न किया है। ई. १८४८ में सर्व प्रथम स्टिवेन्सन ने कल्पसूत्रका अनुवाद प्रकाशित किया किन्तु वह क्षतिपूर्ण था। वस्तुतः वेबर ही सर्वप्रथम विद्वान माने जायंगे जिन्होंने इस दिशामें नया प्रस्थान शुरू किया। उन्होंने ई. १८६५–६६ में भगवती सूत्रके कुछ अंशों का संपादन किया और उन पर टिप्पणीरूप अपना अध्ययन भी लिखा।

राय धनपतसिंह बहादुरने आगमोंका प्रकाशन १८७४ में शुरू किया और कई आगम प्रकाशित किये किन्तु उनका मूल्य हस्तप्रतों की मुद्रित आवृत्तिसे कुछ अधिक था। फिर भी– विद्वानों को दुर्लभ वस्तु सुलभ बनानेका श्रेय उन्हें है ही। जेकोबीका कल्पसूत्र (ई. १८७९), और आचारांग (ई. १८८२), ल्युमनका औपपातिक (ई. १८८३) और आवश्यक (ई. १८९७), स्टेइन्थलका ज्ञाताधर्मकथा का कुछ अंश (ई. १८८१), होर्नेलका उपासकदशा (ई. १८९०), शुब्रिंगके आचारांग (ई. १९१०) इत्यादि ग्रन्थ आगमों के संपादनकी कला में आधुनिक विद्वानों को संमत ऐसी पद्धति को अपनाकर प्रकाशित हुए थे। फिर भी लाला सुखदेव सहायद्वारा ऋषि अमोलककृत हिन्दी अनुवाद के साथ (ई. १९१४–२०) जो ३२ आगम प्रकाशित हुए तथा आगमोदय समिति द्वारा समग्र सटीक आगमों का ई. १९१५में जो मुद्रण प्रारंभ हुआ उनमें उस पद्धति की उपेक्षा ही हुई। आचार्य सागरानन्दसूरि द्वारा संपादित संस्करण शुद्धिकी और मुद्रण की दृष्टिसे राय धनपतसिंहके सस्करणसे आगे बढा हुआ है और विद्वानोंके लिये उपयोगी भी सिद्ध हुआ है। इस संस्करणके प्रकाशनके बाद जैनधर्म और दर्शनके अध्ययन और संशोधन में जो प्रगति हुई उसका श्रेय आचार्य सागरानन्दसूरिको है। किन्तु इतना होने पर भी आगमों की आधुनिक पद्धतिसे समीक्षित वाचना की आवश्यकता तो बनी ही रही थी। पाटनमें ई. १९४३ में आगम प्रकाशनके लिए जिनागम प्रकाशिनी ससदकी स्थापना की गई किन्तु उससे अब तक कुछ भी प्रकाशन हुआ नहीं। पू. पा. मुनिश्री पुण्यविजयजी लगातार चालीससे भी अधिक वर्ष से इस प्रयत्नमें है कि आगमोंका सुसंपादित संस्करण प्रकाशित हो। उन्होंने इस दृष्टिसे प्राचीन प्रतों की शोध करके कई मूल आगमों और उनकी प्राकृत-संस्कृत टीकाओं के पाठ सशोधित किए हैं। इतना ही नहीं उन्होंने टीकाओं में या अन्य ग्रन्थों में आगमोंके जो अवतरण आये है उनका आधार लेकर भी पाठशुद्धिका प्रयत्न किया है। उनके इस प्रयत्नको ही मुख्यरूपसे नजर समक्ष रख कर स्वतन्त्र भारतके प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसादने ई. १९५३ में प्राकृत ग्रन्थ परिषद्की स्थापना की। अबतक इस परिषद् के द्वारा प्राकृत भाषाके कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सुसंपादित होकर प्रकाशित हुए हैं। तथा पं. हरगोविंददासका सुप्रसिद्ध पाइयसद्दमहण्णवो भी पुनः मुद्रित हुआ है। प्राकृत ग्रन्थपरिषद् के द्वारा सटीक आगमों का प्रकाशन होना है यह जानकर केवल मूल आगमों के प्रकाशनके लिए बंबईके महावीर जैन विद्यालयने ई. १९६० में योजना बनाई और पू. मुनिश्री का सहकार मांगा जो सहर्ष दिया गया।

यह परम हर्षका विषय है कि प्राकृत ग्रन्थ परिषद् अब अपने मुख्य ध्येय के अनुसार आगमप्रकाशनके क्षेत्रमें भी प्रवेश कर रही है और समग्र आगमके मंगलभूत नन्दीसूत्र आ० जिनदास महत्तर कृत चूर्णि और आचार्य हरिभद्रकृत वृत्ति आदिके साथ नवम और दशम ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित कर रही है। इसका श्रेय पू. पा. मुनिराज श्री पुण्यविजयजी को है जिन्होंने बड़े परिश्रम से इनका संपादन दीर्घकालीन अध्यवसायसे अनेक हस्तप्रतो और टीकाओंके आश्रयसे किया है। इसके लिए प्राकृत ग्रन्थ परिषद् और विद्वज्जगत उनका ऋणी रहेगा।

ता. २९–६–६६

दलसुख मालवणिया
मंत्री

नंदिवृत्ति

नंदिलघुवृत्ति

का २५ पृ७

३७

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिविरचित नन्दिसूत्रटीकाकी ता० प्रतिके पत्रका प्रथम और अन्तिम (३८वें) पत्रका द्वितीय पृष्ठ।

नन्दिसूत्रटीका(दुर्गपद-व्याख्या)के प्रथम नाम [illegible] प्रति [illegible] पत्रों प्रथम और द्वितीय पृष्ठ जेसलमेर जैन ज्ञानभंडार

॥ जयन्तु वीतरागाः ॥

प्रस्तावना

आज विद्वानों के करकमलोंमें नन्दीसूत्र, उसकी हरिभद्रसूरिकृत वृत्ति, हारिभद्री वृत्तिकी चन्द्रकुलीन आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरिकृत दुर्गपदव्याख्या, जिसका अपरनाम टिप्पनक है, और हारिभद्रीवृत्तिके पर्याय, ये चार ग्रन्थ उपहृत किये जाते हैं। इनका संशोधन मूल नन्दीसूत्रकी आठ प्रतियाँ, हारिभद्री वृत्तिकी चार प्रतियाँ, दुर्गपदव्याख्याकी तीन प्रतियाँ और पर्याय या संक्षिप्त टिप्पनककी दो प्रतियाँ, इस प्रकार कुल सत्रह प्रतियोंके आधारसे किया गया है।

मूल **नन्दीसूत्रकी** आठ प्रतियोंका विस्तृत परिचय, इसी प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित चूर्णीसहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनामें दिया गया है, इसको न दुहरा कर, विद्वानोंसे विज्ञप्ति है कि इस परिचयको चूर्णीसहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनासे ही देख लें। मूल नन्दीसूत्र के संख्याबन्ध पाठभेद आदिके विषयमें जो कुछ वक्तव्य और ज्ञातव्य था वह उसमें ही दिया है। इस ग्रन्थमें सिर्फ हरिभद्रसूरि महाराजने जिन पाठोंको लक्षित करके व्याख्या की है, वे पाठ सूत्रप्रतियोंमें मिले हों या न मिले हों, तथापि वृत्तिकारअभिमत सूत्रपाठ वृत्तिअनुसार मैंने दिये हैं। इन सब बातोंका सूचन चूर्णिसहित नन्दीसूत्र की पादटिप्पणीयोंमें स्थान स्थान पर किया है. चूर्णी, हारिभद्री वृत्ति और मलयगिरिवृत्तिमें पाठभेदोंके अलावा सूत्रोंकी और गाथाओंकी कमी-बेशी भी है, जिनका सूचन भी पाद टिप्पणीयोंमें किया हैं। अत एव सूत्रांक और सूत्रगत गाथांकमें फरक जरूर ही है, इस बातको गीतार्थ मुनिगण और विद्वद्वर्ग ध्यानमें रक्खें। चूर्णीके अनुसार सूत्रांक ११८ और सूत्रगत गाथांक ८५ है, तब हारिभद्री वृत्ति अनुसार सूत्रांक १२० और सूत्रगत गाथांक ८७ हुआ है। मूल नन्दीसूत्रकी बहुतसी प्राचीन प्रतियोंमें पाई जाती गुणरयणुज्जलकडयं० नगर रह चक्क पउमे० वदामि अज्जधम्मं० वदामि अज्जरक्खियं० गोविंदाणं पि णमो० तत्तो य भूयदिन्नं० ये छह गाथायें चूर्णीकार जिनदासगणि महत्तर, लघुवृत्तिकार आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि और बृहद्वृत्तिकार श्रीमलयगिरि आचार्य, इन तीनों ही व्याख्याकारोंकी व्याख्यामें नहीं है। इन छह गाथाओं के अतिरिक्त जिनशासनकी स्तुति-रूप णेव्वुइ पहसासणयं० और नेरइय देव तित्थंकरा० ये दो गाथायें भी चूर्णीमें नहीं हैं, जो हरिभद्रसूरि और मलयगिरि-सूरिकी व्याख्यामें पाई जाती हैं। इन सबका चूर्णीकी पादटिप्पणीयों में निर्देश किया गया है। सामान्यतया सूत्रपाठके मुद्रण-विषय में मेरा यह क्रम रहा है कि जो जो व्याख्या सम्पादित की जाय उसमें उस व्याख्याकारको अभिमत सूत्रपाठ दिये जायँ। नन्दीचूर्णी और नन्दीहारिभद्री वृत्तिके साथ दिये सूत्रपाठोंमें विद्वद्वर्ग को इस कथनका साक्षात्कार होगा।

हारिभद्री वृत्तिकी प्रतियाँ

१. आ. प्रति—आगमोद्धारक पूज्यपाद श्रीसागरानन्दसूरिसम्पादित एवं संशोधित मुद्रित आवृत्ति। जिसका प्रकाशन वि. स. १९८४ में श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था–रतलामकी ओरसे हुआ है।

२. दा. प्रति—पूज्यपाद आचार्य महाराज श्री विजयदानसूरीश्वरजी संशोधित। जो भाई श्री हीरालालके द्वारा वि. स. १९८८ में प्रकाशित हुई है।

३. सं. प्रति—पाटण श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिरस्थित श्रीसंघके ज्ञानभंडारकी कागज पर लिखित प्रति।

४. वा. प्रति—पाटण श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिरस्थित वाडीपार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडारकी कागज पर लिखित प्रति।

सं. और वा. ये दोनों प्रतियाँ विक्रमकी पंद्रहवीं शतीके चतुर्थ चरणमें लिखित प्रतीत होती हैं। इनके अतिरिक्त

और भी प्रतियाँ संशोधनके समय पासमें रक्खी गई थीं। किन्तु उनका उपयोग जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ ही किया गया है।

श्रीचन्द्रीयदुर्गपदव्याख्या–टिप्पनक की प्रतियाँ

हारिभद्रीवृत्तिसमेत नन्दीसूत्रके बादमें चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीधनेश्वरसूरिके शिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरिविरचित हारिभद्रीवृत्तिका टिप्पनक छपा है, जिसका आचार्यने 'नन्दीटीकादुर्गपदव्याख्या' नाम दिया है। इसके संशोधनके लिये तीन प्रतियाँ एकत्र की गई हैं—

१. जे. प्रति—जेसलमेरके खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनभद्रसूरिके ताडपत्रीय ज्ञानभंडारकी ताडपत्रीय प्रति, सूचिमें इस प्रतिका क्रमांक ७६ है। इस प्रतिके पत्र २२१ हैं। प्रति अति शुद्ध और उसमें कहीं कहीं किसी विद्वान् मुनिवरकी लिखी हुई महत्त्वकी टिप्पनीयाँ भी हैं। प्रतिके अंतमें इस प्रकार लेखककी पुष्पिका पाई जाती है—

॥ ग्रंथाग्रम् ३३०० ॥ छ ॥ मंगलमस्तु ॥ छ ॥ संवत् १२२६ वर्षे द्वितीयश्रावण शुदि ३ सोमेऽद्येह **मंडलीवास्तव्य** श्रीजाल्योधरगच्छे **मोढवंशे** श्रावक श्री **सदेवसुतेन** ले० **पल्हणेन** लिखिता। लिखापिता च श्री**गुणभद्रसूरि**भिः ॥ छ ॥ मंगलमस्तु ॥ छ ॥

सकलभुवनप्रकाशनभानुश्री**हेमचन्द्रसुगुरूणाम्**। स्थापयिताऽऽसीद् **भाण्डागारिकसोमाकसुश्राद्धः** ॥१॥

मरुदेवागर्भजया तत्सुतया **सोमिकाह्वया** क्रीत्वा। **नन्द्यध्ययनसुविवरणटिप्पित**पुस्तकमिदमुदारम् ॥२॥

मुनिबालचन्द्रशिष्यश्रीमद्**गुणभद्रसूरि**सुगुरुभ्यः। दत्तमुपलभ्य वर्यं फलममलं ज्ञानदानस्य ॥३॥

सं. १३१३ श्री**जिनपद्मसूरि**गुरूपदेशेन सा० **केलिपुत्र** सा० **किरता** सुश्रावकेण सत्पुत्र सा० **विजमल** सा० **कर्मसिंह** पौत्र **कीका** सकलपरिवारेण **सवृत्ता नन्दीटीका** गृहीता। भगिनी**नायक**सुश्राविकाश्रेयोर्थम्। आचन्द्रार्कं नन्दतात् ॥ श्रीः ॥

दुर्गपदव्याख्याकी प्रतिके अन्तमें लिखित इस पुष्पिकासे ज्ञात होता है कि– यह प्रति **गुणभद्र** आचार्यने वि. स. १२२६ में **मंडलीवास्तव्य जाल्योधरगच्छीय मोढज्ञातीय पल्हण** नामक श्रावक लेखकके पास लिखाई थी। जिसको भंडारी **सोमाक**की धर्मपत्नी **मरुदेवा**की पुत्री **सोमी**ने खरीद कर ('लेखनमूल्य दे कर) **हेमचन्द्राचार्य**के शिष्य **बालचन्द्रमुनिके** शिष्य **गुणभद्रसूरि**को उपहृत की थी।

बादमें अस्तव्यस्त हो जाने के कारण इस प्रतिको–वि. सं. १३१३ में श्री**जिनपद्मसूरिके** उपदेशसे **किरता**नामक श्रावकने अपनी बहिन **नायक** सुश्राविकाके श्रेयोनिमित्त खरीद की।

इस पुष्पिकामें निर्दिष्ट श्री**हेमचन्द्राचार्य**, **बालचन्द्रमुनिके** गुरु होनेके कारण सम्भव है कि– ये चालुक्यराज कुमारपालनृपप्रतिबोधक हेमचन्द्राचार्य हों। पुष्पिकागत 'सकलभुवनप्रकाशनभानु' यह विशेषण भी इस अनुमानको पुष्ट करता है।

इस पुष्पिकासे यह भी सूचित होता है कि– प्राचीनकालमें भी ज्ञानभंडारको पुस्तकें अस्तव्यस्त हो जाती थीं और इनको पुनः खरीद भी कर ली जाती थीं।

इस प्रतिके आदिके दो पत्र प्राचीन कालसे ही गुम हो गए हैं। यही कारण है कि– आज इस दुर्गपदव्याख्याकी जो प्राचीन अर्वाचीन हस्तप्रतियाँ देखनेमें आई हैं उन सभीमें इस व्याख्याका मंगलाचरण आदि प्रारम्भिक अंश प्राप्त नहीं है।

२. पा.—यह प्रति पाटन–श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिरस्थित श्रीसंघके ज्ञानभंडारकी प्रति है। यह प्रति अनुमान विक्रमकी सत्रहवीं शतीमें लिखित है।

३. ई.— यह प्रति बडौदा श्रीआत्मारामजी जैन ज्ञानमंदिरस्थित पूज्यपाद श्रीहंसविजयजी महाराज संगृहीत ज्ञान-भंडारकी है और नई लिखी हुई है ।

नन्दीसूत्रकी हारिभद्रीवृत्ति एव उसके ऊपरकी दुर्गपदव्याख्यामें कोई पाठभेद प्राप्त नहीं हैं ।

नन्दीसूत्रविषमपदटिप्पनककी प्रतियाँ

नन्दीसूत्रविषमपदपर्याय या टिप्पनक, यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, किन्तु 'सर्वसिद्धान्तपर्याय' नामक ग्रन्थमेंसे विभाजित अंशमात्र है । इसके सशोधनके लिये पाटन–श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिरकी दो प्रतियोंका उपयोग किया गया है, जो अनुमान विक्रमकी सत्रहवीं शतीकी लिखित प्रतीत होती है ।

इस प्रकार इन सत्रह हस्तप्रतियोंके आधारसे इस ग्रन्थाङ्कका सशोधन एवं सपादन किया गया है ।

नन्दीसूत्रकार

नन्दीसूत्रके प्रणेता स्थविर देव वाचक है । इनके सम्बन्धमें जो कुछ कहनेका था वह चूर्णि सहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनामें कह दिया है ।

लघुवृत्तिकार श्रीहरिभद्रसूरि

इस ग्रन्थाङ्कमें प्रकाश्यमान वृत्तिके प्रणेता याकिनीमहत्तराधर्मसूनु आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि महाराज हैं । इनके विषयमें विद्वानोंने अनेक दृष्टिसे विचार किया है और लिखा भी बहुत है । अतः यहाँ पर मुझे अधिक कुछ भी कहनेका नहीं है । जो कुछ कहनेका था, वह मैंने, श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृतिविद्यामन्दिरग्रन्थावलीके चतुर्थ ग्रन्थाङ्करूपमें प्रसिद्ध किये गये 'सटीक योगशतक और ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय'की प्रस्तावनामें कह दिया है । अत· विद्वानोंसे प्रार्थना है कि उस प्रस्तावनाको देखें ।

दुर्गपदव्याख्याकार श्री श्रीचन्द्रसूरि

इस ग्रन्थाङ्कमें सम्पादित नन्दीवृत्तिटिप्पनक, जिसका नाम ग्रन्थकारने **दुर्गपदव्याख्या** दिया है, इसके प्रणेता आचार्य **श्रीश्रीचन्द्रसूरि** है । ये अपनेको **चन्द्रकुलीन** आचार्य श्री**शीलभद्र**सूरिके शिष्य श्री**धनेश्वराचार्य** के शिष्य बतलाते हैं ।

इनका, आचार्यपदप्राप्तिकी पूर्वावस्थामें नाम **पार्श्वदेवगणि** था, ऐसा उल्लेख इन्हींकी रचित पाटन–खेत्रवसी पाडाकी **न्यायप्रवेशपञ्जिका**की ताडपत्रीय प्रतिकी पुष्पिकामें पाया जाता है । जो इस प्रकार है—

न्यायप्रवेशशास्त्रस्य सद्वृत्तेरिह **पञ्जिका** । स्वपरार्थं दृष्टा(दृब्धा) स्पष्टा **पार्श्वदेव**गणिनाम्ना ॥१॥
ग्रह ९ रस ६ रुद्रै ११ र्युक्ते विक्रमसंवत्सरेऽनुराधायाम् । कृष्णायां च नवम्यां फाल्गुनमासस्य निष्पन्ना ॥२॥
न्यायप्रवेशविवृते· कृत्वेमां पञ्जिकां यन्मयाऽवाप्तम् । कुशलोऽस्तु तेन लोको लभतामवबोधफलमतुलम् ॥३॥
यावल्लवणोदन्वान् यावन्नक्षत्रमण्डितो मेरुः । खे यावच्चन्द्रार्कौ तावदियं पञ्जिका जयतु ॥४॥
शुभमस्तु सर्वजगत· परहितनिरता भवन्तु भूतगणा· । दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥५॥

इति श्री**शीलभद्र**सूरिशिष्यसुगृहीतनामधेयश्रीम**द्धनेश्वरसू**रिशिष्यैः सामान्यावस्थाप्रसिद्धपण्डित**पार्श्वदेव**गण्यभिधान-विशेषावस्थावाप्तश्री**श्रीचन्द्रसू**रिनामभिः स्वपरोपकारार्थं दृब्धा विषमपदभञ्जिका **न्यायप्रवेशकवृत्तेः पञ्जिका** परिसमाप्तेति ॥

आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरि, जिनका पूर्वावस्थामें **पार्श्वदेवगणि** नाम था, उन्होंने अपने गुरु श्रीधनेश्वराचार्यको श्रीजिन-वल्लभगणिविरचित सार्धशतकप्रकरण-अपरनाम-सूक्ष्मार्थविचारसारप्रकरणकी वृत्तिकी रचना और उसके सशोधनादिमें साहाय्य

दिया था, ऐसा इस वृत्तिकी प्रशस्तिमें खुद वृत्तिकार गुरुने सूचित किया है। इस प्रशस्तिमें श्री श्रीचन्द्रसूरिकी गुरु–प्रगुरु आदि परम्पराका और वैशादिका उपयुक्त वर्णन होनेसे यह प्रशस्ति यहाँ दी जाती है—

सम्पूर्णनिर्मलकलाकलितं सदैव जाड्येन वर्जितमखण्डितवृत्तभावम् ।
दोषानुषङ्गरहितं नितरां समस्ति चान्द्रं कुलं स्थिरमपूर्वशशाङ्कतुल्यम् ॥१॥

तस्मिँश्चरित्रधनधामतया यथार्थाः संजज्ञिरे ननु **धनेश्वरसूरिवर्याः** ।
नीहारहारहरहारविकाशिकाशसंकाशकीर्त्तिनिवहैर्धवलीकृताशाः ॥२॥

ये निःसङ्गविहारिणोऽमलगुणा विश्रान्तविद्याधरव्याख्यातार इति क्षितौ प्रविदिता विद्वन्मनोमोदिनः ।
येऽनुष्ठानिजनेषु साम्प्रतमपि प्राप्तोपमाः सर्वतस्तेभ्यस्तेऽ**जितसिंहसूरय** इहाभूवन् सतां सम्मताः ॥३॥

उद्दामधामभवजन्तुनिकामवामकामेभकुम्भतटपाटनसिंहपोताः ।
श्री**वर्द्धमानमुनिपाः** सुविशुद्धबोधास्तेभ्योऽभवन् विशदकीर्त्तिवितानभाजः ॥४॥

लोकानन्दपयोधिवर्द्धनवशात् सद्वृत्ततासङ्गतैः सौम्यत्वेन कलाकलापकलनाच्छ्लाघ्योदयत्वेन च ।
ध्वस्तध्वान्ततया ततः समभवँश्चन्द्रान्वयं सान्वयं कुर्वाणाः शुचिशालिनोऽत्र मुनिपाः श्री**शीलभद्रा**भिधाः ॥५॥
निःसंख्यैरपि लब्धमुख्यगणनैराशाविकाशं सतां कुर्वाणैरपि सङ्कटीकृतदिगाभोगैर्गुणप्रीणिकैः ।
श्वेतैरप्यनुरञ्जितत्रिभुवनैर्येषां विशालैर्गुणैश्चित्रं कोऽपि यशःपटः प्रकटितः श्वेतो विचित्रैरपि ॥६॥
सत्तर्ककर्कशधियः सुविशुद्धबोधाः सुव्यक्तसूक्तशतमौक्तिकशुक्तिकल्पाः ।
तेषामुदारचरणाः प्रथमाः सुशिष्याः सद्योऽभवन्न**जितसिंह**मुनीन्द्रवर्याः ॥७॥

तेषां द्वितीयशिष्या जाताः श्रीम**द्धनेश्वराचार्याः** । सार्द्धशतकस्य वृत्तिं गुरुप्रसादेन ते चक्रुः ॥८॥
शशि१मुनि७पशुपति११सङ्ख्ये वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते । चैत्रे सितसप्तम्यां समर्थितेयं गुरौ वारे ॥९॥
युक्तायुक्तविवेचन-संशोधन-लेखनैकदक्षस्य । निजशिष्यसुसाहाय्याद् विहिता श्री**पार्श्वदेवगणेः** ॥१०॥
प्रथमादर्शे वृत्तिं समलिखतां प्रवचनानुसारेण । **मुनिचन्द्र-विमलचन्द्रौ** गणी विनीतौ सदोयुक्तौ ॥११॥
श्री **चक्रेश्वरसूरि**मिरतिपटुमिर्निपुणपण्डितोपेतैः । **अणहिलपाटक**नगरे विशोध्य नीता प्रमाणमियम् ॥१२॥

इस प्रशस्तिमें आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरिकी पूर्वजपरम्परा इस प्रकार है—



न्यायप्रवेशपञ्जिकाकी प्रशस्तिका उपर जो उल्लेख किया है उसके अंतमें 'श्रीश्रीचन्द्रसूरिका ही पूर्वावस्थामें पार्श्वदेवगणि नाम था' ऐसा जो उल्लेख है वह खुद ग्रन्थप्रणेताका न होकर तत्कालीन किसी शिष्य–प्रशिष्यादिका लिखा हुआ प्रतीत होता है। अस्तु, कुछ भी हो, इस उल्लेखसे इतना तो प्रतीत होता ही है कि– श्रीचन्द्राचार्य ही पार्श्वदेव गणि है या पार्श्वदेवगणी ही श्री श्रीचन्द्रसूरि हैं, जिनका उल्लेख धनेश्वराचार्यने सार्धशतकप्रकरणकी वृत्तिमें किया है।

श्रीश्रीचन्द्रसूरि का आचार्यपद

श्रीश्रीचन्द्रसूरिका आचार्यपद किस संवतमें हुआ? इसका कोई उल्लेख नहीं मीलता है, फिर भी आचार्यपदप्राप्तिके बादकी इनकी जो ग्रन्थरचनायें आज उपलब्ध हैं उनमें सबसे पहली रचना निशीथ चूर्णिविंशोद्देशकव्याख्या है। जिसका रचनाकाल वि. सं. ११७४ है। वह उल्लेख इसप्रकार है—

सम्यक् तथाऽऽम्नायाभावादत्रोक्तं यदुत्सूत्रम् (?)। मतिमान्द्याद्वा किञ्चित् क्षन्तव्यं श्रुतधरैः कृपाकलितैः ॥१॥
श्रीशीलभद्रसूरीणां शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः। विंशकोद्देशकव्याख्या दब्धा स्वपरहेतवे॥२॥
वेदाश्वरुद्रसङ्ख्ये ११७४ विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे। माघसितद्वादश्यां समर्थितेयं रवौ वारे ॥३॥

निशीथचूर्णिविंशोद्देशकव्याख्याप्रशस्तिके इस उल्लेखको और इनके गुरु श्री धनेश्वराचार्यकृत सार्धशतकप्रकरणवृत्तिकी प्रशस्तिके उल्लेखको देखते हुए, जिसकी रचना ११७१ में हुई है और जिसमें श्रीचन्द्राचार्य नाम न होकर इनकी पूर्वावस्थाका पार्श्वदेवगणि नाम ही उल्लिखित है, इतना ही नहीं, किन्तु प्रशस्ति के ७ वें पद्यमें जो विशेषण इनके लिये दिये हैं वे इनके लिये घटमान होनेसे, तथा खास कर पाटन–खेत्रवसी पाडाकी न्यायप्रवेशपञ्जिकाकी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके अंतमें उनके किसी विद्वान शिष्य-प्रशिष्यादिने– "सामान्यावस्थाप्रसिद्धपण्डितपार्श्वदेवगण्यभिधान-विशेषावस्थावाप्तश्रीश्रीचन्द्रसूरिनामभिः" ऐसा जो उल्लेख दाखिल किया है, इन सब का पूर्वापर अनुसन्धान करनेसे इतना निश्चित रूपसे प्रतीत होता है कि– इनका आचार्यपद वि. स. ११७१ से ११७४ के बिचके किसी वर्षमें हुआ है।

ग्रन्थरचना

ग्रन्थरचना करनेवाले श्रीश्रीचन्द्राचार्य मुख्यतया दो हुए हैं। एक मलधारगच्छीय आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिके शिष्य और दूसरे चन्द्रकुलीन श्री धनेश्वराचार्यके शिष्य, जिनका पूर्वावस्थामें पार्श्वदेवगणि नाम था। मलधारी श्रीश्रीचन्द्रसूरिके रचे हुए आज पर्यंतमें चार ग्रन्थ देखनेमें आये हैं–१ सग्रहणी प्रकरण २ क्षेत्रसमासप्रकरण ३ लघुप्रवचनसारोद्धारप्रकरण और ४ प्राकृत मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र। प्रस्तुत नन्दीसूत्रवृत्तिदुर्गपदव्याख्याके प्रणेता चन्द्रकुलीन श्रीश्रीचन्द्राचार्यकी अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनके नाम, उनके अन्तकी प्रशस्तियोंके साथ यहाँ दिये जाते हैं—

(१) न्यायप्रवेशपञ्जिका और (२) निशीथचूर्णिविंशोद्देशकव्याख्याके नाम और प्रशस्तियोंका उल्लेख उपर हो चूका हैं। (३) श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति। रचना संवत् १२२२। प्रशस्ति—

कुवलयसद्विकासप्रदस्तमःप्रहतिपटुरमलबोधः। प्रस्तुततीर्थाधिपतिः श्रीवीरजिनेन्दुरिह जयति ॥१॥
विजयन्ते हतमोहाः श्रीगौतममुख्यगणधरादित्याः। सन्मार्गदीपिकाः कृतसुमानसाः जन्तुजाड्यभिदः ॥२॥

नित्यं प्राप्तमहोदयत्रिभुवनक्षीराब्धिरत्नोत्तमं, स्वर्ग्यौतिस्ततिपात्रकान्तकिरणैरन्तस्तमोभेदकम्।
स्वच्छातुच्छसिताम्बरैकतिलकं बिभ्रत् सदा कौमुदं श्रीमत् चन्द्रकुलं समस्ति विमलं जाड्यक्षितिप्रत्यलम् ॥३॥

तस्मिन् सूरिपरम्पराक्रमसमायाता बृहद्ग्रामभवाः सम्यग्ज्ञानसुदर्शनातिविमलश्रीपद्मखण्डोपमाः।
सच्चारित्रविभूषिताः शमधनाः सद्धर्मकल्पांह्रिपा विख्याता भुवि सूरयः समभवन् श्रीशीलभद्राभिधाः ॥४॥

ततश्च तेषां पदपद्महंसः, समग्रगच्छाभरणावतंसः । धनेश्वरः सूरिरभूत् प्रशस्यः, शिष्यः प्रभावप्रथितो यदीयः ॥५॥

निःशेषागमतर्कशास्त्रसकलालङ्कारसर्वावनिधेर्यस्येन्दोरिव दीधितीर्वितमसो वाचोऽमृतस्यन्दिनीः ।

आस्वाद्यामितभक्तिसद्मभविकाः स्वात्मानमस्ताशुभं मन्यन्ते स्म सुरापवर्गरुचिरश्रीपात्रमत्युत्तमम् ॥६॥

श्रीचन्द्रसूरिनामा शिष्यस्तेषां बभूव गुरुभक्तः । तेन कृता स्पष्टार्था श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्तिरियम् ॥७॥

करनयनसूर्यवर्षे १२२२ प्रात पुष्यार्कमधुसितद्वम्याम् । धृतियोगनवमकक्षे समर्थिता प्रकृतवृत्तिरियम् ॥८॥

उत्सूत्रं यद् रचितं मतिदौर्बल्यात् कथञ्चनापि मया । तच्छोधयन्तु कृतिनोऽनुग्रहबुद्धिं मयि विधाय ॥९॥

यावत् सुमेरुशिखरी शिखरीकृतोऽत्र, नित्यैर्विभाति जिनबिम्बगृहैर्मनोज्ञैः ।

श्रीचन्द्रसूरिरचिता भुवि तावदेषा, नन्द्यात् प्रतिक्रमणवृत्तिरधीयमाना ॥१०॥

प्रत्यक्षरं निरूप्यास्य ग्रन्थमानं विनिश्चितम् । श्लोकपञ्चाशदुत्तरशतान्येकोनविंशतिः ॥११॥

॥ ग्रन्थाग्रम् १९५० ॥

(४) **जीतकल्पबृहच्चूर्णिदुर्गपदव्याख्या** । रचनासंवत् १२२७ । प्रशस्ति—

इति **जीतकल्पचूर्णि**विषया व्याख्या समाप्ता ।

जीतकल्पबृहच्चूर्णौ व्याख्या शास्त्रानुसारतः । **श्रीचन्द्रसूरि**भिर्दब्धा स्व-परोपकृतिहेतवे ॥१॥

मुनि-नयन-तरणिवर्षे १२२७ श्री**वीरजिन**स्य जन्मकल्याणे । प्रकृतग्रन्थकृतिरियं निष्पत्तिमवाप रविवारे ॥२॥

सङ्घ-चैत्य-गुरूणां च सर्वार्थप्रविधायिनः । **वशाऽभयकुमारस्य** वसतौ दब्धा सुबोधकृत् ॥३॥

एकादशशतविंशत्यधिकं श्लोकप्रमाणग्रन्थाग्रम् । ग्रन्थकृति प्रविवाच्या मुनिपुङ्गवसूरिभिः सततम् ॥४॥

यदिहोत्सूत्रं किञ्चिद् दब्धं छद्मस्थबुद्धिभावनया । तन्मयि कृपानुकलितैः शोध्यं गीतार्थविद्वद्भिः ॥५॥

समाप्ता चेयं श्री**शीलभद्र**प्रभु-श्री**धनेश्वरसूरि**पादपद्मचञ्चरीकश्री**श्रीचन्द्रसूरि**संरचिता **जीतकल्पबृहच्चूर्णिदुर्गपद**विषया **निशीथादिशास्त्रानुसारतः** सम्प्रदायाच्च सुगमा **व्याख्येति** ।

यावल्लवणोदन्वान् यावन्नक्षत्रमण्डितो मेरुः । खे यावच्चन्द्रार्कौ तावदियं वाच्यतां भव्यैः ॥१॥

(५) **नन्दीसूत्रलघुवृत्तिदुर्गपदव्याख्या** । प्रशस्ति—

श्री**धनेश्वर**सूरीणां पादपद्मोपजीविना । **नन्दिवृत्तौ** कृता व्याख्या **श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिणा** ॥१॥

इति समाप्ता श्री**शीलभद्र**प्रभु-श्री**धनेश्वरसूरि**शिष्यश्री**श्रीचन्द्रसूरि**विरचिता **नन्दिटीकाया दुर्गपदव्याख्या** ॥

नन्दिवृत्तिदुर्गपदव्याख्यान्ते ।

(६) **सुखबोधा सामाचारी** । प्रशस्ति—

इचेसा गिहत्थसाहुसत्थाणुट्ठाणविहिपदरिसणपरा **सिरिसीलभद्दसूरि-धणेसरसूरिसिस्ससिरिचंदसूरिसमुद्धरिया सुहबोहा** सामायारी सम्मत्ता । इति बहुविध**प्रतिष्ठाकल्पान्** संवीक्ष्य समुद्धृतेयं श्री**श्रीचन्द्रसूरिणा** ॥

समुच्चय ग्रन्थाग्रम् १३८६ ॥

कमलवने पाताले क्षीरोदे संस्थिता यदि स्वर्गे । भगवति ! कुरु सान्निध्यं बिम्बे **श्रीश्रमणसङ्घे** च ॥१॥

॥ इति श्रीसुबोधा सामाचारी समाप्ता ॥

सं. १३०० माघ शुदि १० गुरौ **श्रीचन्द्रगच्छे मण्डनीय शुद्धांकसूरि**भिर्लिखापिता ।

(७) **निरयावलिकादिपञ्चोपाङ्गसूत्रवृत्ति** । रचना सं. १२२८ । प्रशस्ति—

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिविरचितं **निरयावलिकाश्रुतस्कन्धविवरणं** समाप्तमिति । निरयावलिकादिपञ्चोपाङ्गसूत्रवृत्तिग्रन्थाग्रम् ६३७ ॥

वसु-लोचन-रविवर्षे १२२८ श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिभिर्दृब्धा । आभडवसाकवसतौ **निरयावलिशास्त्रवृत्तिरियम्** ॥१॥

(८) **पिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्ति** । रचना सवत् ११७८ । प्रशस्ति—

समाप्तेयं श्रीश्रीचंद्रसूरिविरचिता सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिष्कषणपट्टकसन्निभप्रतिभ**जिनवल्लभा**भिधानाचार्यदृब्ध**पिण्डविशुद्धि**शास्त्रस्य वृत्ति ॥

यच्चक्रे **जिनवल्लभो** दृढमति· पिंडैषणागोचरं, प्रज्ञावर्जितमानवोपकृतये प्राज्यार्थमल्पाक्षरम् ।

शास्त्रं **पिण्डविशुद्धि**संज्ञितमिदं **श्रीचन्द्रसूरिः** स्फुटां तद्वृत्ति सुगमां चकार तनुधीः **श्रीदेवतानुग्रहात्** ॥१॥

वसु-मुनि-रुद्रैर्युक्ते विक्रमवर्षे ११७८ रवौ समाप्येषा । कृष्णैकादश्यां कार्तिकस्य योगे प्रशस्ते च ॥२॥

अस्यां चतु सहस्राणि शतानां च चतुष्टयम् । प्रत्यक्षरप्रमाणेन श्लोकमानं विनिश्चितम् ॥३॥ ग्रं० ४४०० ॥

उपर श्री श्रीचन्द्रसूरिकी जिन आठ कृतियोंके नाम उनकी प्रशस्तियोंके साथ उल्लिखित किये हैं, उनको देखनेसे यह स्पष्ट होता है कि– प्रारम्भकी छ रचनायें चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीधनेश्वरके शिष्य श्रीश्रीचन्द्रसूरिकी ही है । सातवीं निरयावल्यादिपंचोपांगव्याख्या भी अनुमान इन्हींकी रचना मानी जाती है । आठवीं पिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्तिकी रचना इन्ही आचार्यकी है या नहीं, यह कहना जरा कठिन है । क्यों कि इस रचनामें वृत्तिकारने " श्रीदेवतानुग्रहात् " ऐसा उल्लेख किया है, जो दूसरी कोई कृतिमें नहीं पाया जाता है । यद्यपि रचनाकाल ऐसा है, जो अपनेको इन्ही आचार्य की रचना होने की ओर आकर्षण करता है । फिर भी इस बातका वास्तविक निर्णय मै तज्ज्ञ विद्वानोंके पर छोड देता हू ।

उपर मैंने श्रीश्रीचन्द्राचार्यकी रचनाओंके नाम और उनके अन्तकी प्रशस्तियोंका उल्लेख किया है, उनको देखते ही विद्वानोंके दिलमें एक कल्पना जरूर ऊठेगी कि इन आचार्यकी विक्रमसंवत् ११६९, ११७४, ११७८, ११८०, १२२२, १२२७, १२२८ आदि सवतमें रची हुई जो कृतियाँ पाई गई हैं उनमें स. ११८० बाद एकदम उनकी रचना सं. १२२२ में आ जाती है, तो क्या ये आचार्य चालीस वर्ष के अंतरमें निष्क्रिय बैठ रहे होंगे ? जरूर यह एक महत्त्वका प्रश्न है, किन्तु अन्य साधनोंके अभावमें इस समय में इतना ही जवाब दे सकता हूं कि– प्राचीन ग्रन्थोंकी सूची बृहट्टिप्पनिकामें, जैनग्रन्थावली आदिमें १ श्रमणप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति २ जयदेवछन्दःशास्त्रवृत्तिटिप्पनक ३ सनत्कुमारचरित र. सं. १२१४ ग्रं. ८१२७ आदि नाम पाये जाते हैं । इसी तरह इनकी और कृतियाँ जरूर होंगी, किन्तु जब तक ऐसी कृतियाँ कहीं भी देखने–सुननेमें न आयें तब तक इनके विषयमें कुछ कहना उचित प्रतीत नहीं होता है । परन्तु यह तो निर्विवाद है कि– बिचके वर्षोंमें रची हुई इनकी ग्रन्थकृतियाँ अवश्यमेव होनी चाहिए ।

पाटन–श्रीहेमचन्द्राचार्य जैनज्ञानमंदिरस्थित श्रीसंघजैनज्ञानभंडार क्रमांक १०२३ वाली प्रकरणपुस्तिकामें श्रीश्रीचन्द्राचार्यकृत अनागतचतुर्विंशतिजिनस्तोत्र है, जो यहाँ उपयुक्त समझ कर दिया जाता है, किन्तु यह कृति कौनसे श्रीचन्द्राचार्यकी है यह कहना शक्य नहीं हैं । स्तोत्र—

वीरवरस्स भगवओ वोलियचुलसीयवरिससहसेहिं । पउमाई चउवीसं जह हुंति जिणा तहा थुणिमो ॥१॥

पढमं च पउमनाहं सेणियजीवं जिणेसरं नमिमो । बीयं च सूरसेणं वंदे जीवं सुपासस्स ॥२॥

तइयं **सुपास**नामं उदायजीवं पणट्ठभववास । वंदे **सयंपभ**जिणं **पुट्टिल**जीवं चउत्थमहं ॥३॥
सव्वाणुभूयनामं दढउजीवं च पंचमं वंदे । छट्ठं **देवसुय**जिणं वंदे जीवं च **कित्तिस्स** ॥४॥
सत्तमयं **उदय**जिणं वंदे जीवं च **संख**नामस्स । पेढालं अट्ठमयं **आणंद**जियं नमंसामि ॥५॥
पुट्टिलजिणं च नवमं सुरकयसेवं **सुनंद**जीवस्स । **सयकित्ति**जिणं दसमं वंदे **सयगस्स** जीवं ति ॥६॥
एगारसमं **मुणिसुव्वयं** च वंदामि **देवई**जीवं । बारसमं **अमम**जिणं **सच्चइ**जीवं जगपईवं ॥७॥
निकसायं तेरसमं वंदे जीवं च **वासुदेवस्स** । **बलदेव**जियं वंदे चउदसमं **निप्पुलाइ**जिणं ॥८॥
सुलसाजीवं वंदे पनरसमं **निम्ममत्त**नामाणं । **रोहिणि**जीवं नमिमो सोलसमं **चित्तगुत्तं** ति ॥९॥
सत्तरसमं च वंदे रेवइजीवं **समाहि**जिणनामं । संवरमट्ठारसमं **सयालि**जीवं पणिवयामि ॥१०॥
दीवायणस्स जीवं **जसोहरं** वंदिमो इगुणवीसं । **कन्ह**जियं गयतन्हं वीसइमं **विजय**मभिवंदे ॥११॥
वंदे इगवीसइमं **नारय**जीवं च **मल्लि**नामाणं । **देव**जिणं बावीसं **अंबड**जीवस्स वंदे हं ॥१२॥
अमरजियं तेवीसं **अणंतविरिया**भिहं जिणं वंदे । तह **साइबुद्ध**जीवं चउवीसं **भद्द**जिणनामं ॥१२॥
उस्सप्पिणीए चउवीसजिणवरा कित्तिया सनामेहिं । **सिरिचंदसूरि**नामेहिं सुहयरा हुंतु सयकालं ॥१४॥

॥ इति अनागतचतुर्विंशतिजिनस्तोत्रम् ॥

यहाँ पर एक बातको स्पष्ट करना अति आवश्यक है कि– प्राकृत **पृथ्वीचन्द्रचरित**के प्रणेता **चन्द्रकुलीन श्रीशान्तिसूरिजी**ने अपने इस चरितकी मंगलगाथामें सूचित किया है कि– '**धनेश्वरा**चार्यकी अर्थगम्भीर वाणीका आपके उपर बडा प्रभाव पडा है' और इसी चरितकी प्रशस्तिमें आपने लिखा है कि–चन्द्रकुलीन श्री**सर्वदेव**सूरिके स्वहस्तसे दीक्षा पाने वाले **श्रीश्रीचन्द्राचार्य**की कृपासे आपको आचार्यपद प्राप्त हुआ है। वह मगलगाथान्तर्गत गाथा और प्रशस्ति इस प्रकार हैं।

मंगलगाथान्तर्गतगाथा—

जन्नाणधणलवेणं ववहरमाणा वय मइदरिद्दा । करिमो परोवयारं तेसि नमो गुरु **धणेसाणं** ॥१०॥

प्रशस्ति—

आसी कुंदिंदुसुद्धे विउल**ससि**कुले चारुचारित्तपत्तं सूरी **सेयंबराणं** वरतिलयसमो **सव्वदेवा**भिहाणो ।
नाणासूरिप्पसाहापिहियसुमहिमो कप्परुक्खो व्व गच्छो जाओ जत्तो पवित्तो गुणसुरसफलो सुप्पसिद्धो जयम्मि ॥१॥
तेसिं चाऽऽसी सुयजलनिही खंतदंतो पसंतो, सीसो वीसो सियगुणगणो **नेमिचंदो** मुणिंदो ।
जो विक्खाओ पुहइवलए सुगचारी विहारी, मन्ने नो से मिहिर-ससिणो तेय-कंतीहिं तुल्ला ॥२॥
तेसिं च सीसो पयईजडप्पा, अदिट्ठपुव्विल्लविसिट्ठसत्थो । परोवयारेक्करसावियज्झो, जाओ निसग्गेण कइत्तकोडी ॥३॥
जो **सव्वदेव**मुणिपुंगवदिक्खिएहिं, साहित्त-तक्क-समएसु सुसिक्खिएहिं ।
संपाविओ वरपयं **सिरिचंदसूरि**पुज्जेहिं पक्खमुवगम्म गुणेसु भूरि ॥४॥
संवेगंबुनिवाणं एयं सिरि**संतिसूरि**णा तेणं । वज्जरियं वरचरियं **मुणिचंद**विणेयवयणाओ ॥५॥
जइ किंचि अजुत्तं वुत्तमेत्थ मइजड्ड-रहसवित्तीहि । तमणुग्गहबुद्धीए सोहेयव्वं छइल्लेहिं ॥६॥
इगतीसाहियसोलससएहिं वासाण निव्वुए वीरे । कत्तियचरिमतिहीए कित्तियरिक्खे परिसमत्तं ॥७॥

उपर दी गई पृथ्वीचन्द्रचरितकी मंगलगाथान्तर्गत दसवीं गाथा और उसकी प्रशस्तिको देखनेसे यह प्रतीत होता है कि– प्राकृत पृथ्वीचन्द्रचरित के प्रणेता आचार्य श्रीशान्तिसूरिके हृदयपर श्रीधनेश्वराचार्यके अर्थगंभीर विचारोंका भारी प्रभाव पडा

है और श्र ' श्रीचन्द्राचार्य, जो साहित्य, तर्क और सिद्धान्तके पारंगत थे, उनकी कृपासे आपको आचार्यपद प्राप्त हुआ था। इस प्रकार यहाँ पर इस आचार्ययुगलके नामोंको सुनते ही यह भी सभावना हो आती है कि– ये दो आचार्य, सार्धशतक-प्रकरणवृत्ति आदिके प्रणेता श्रीधनेश्वराचार्य और न्यायप्रवेशपञ्जिका, निशीथविंशोद्देशकव्याख्या आदिके प्रणेता पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्रीश्रीचन्द्राचार्य, गुरु–शिष्यकी जोडी हों ! । परन्तु पूर्वापर उल्लेखोंका अनुसधान करनेसे प्रतीत होता है कि– **पृथ्वीचन्द्रचरित**में निर्दिष्ट श्री**धनेश्वराचार्य** और श्री **श्रीचन्द्राचार्य** जुदा हैं । इसका कारण यह है कि– यद्यपि पृथ्वीचन्द्र-चरितमें निर्दिष्ट धनेश्वराचार्य कौन थे ? किनके शिष्य थे ? यह स्पष्ट नहीं है, तो भी श्री श्रीचन्द्राचार्य, जिनकी सहायसे श्रीशान्तिसूरिको सूरिपद प्राप्त हुआ था, वे चन्द्रकुलीन श्रीसर्वदेवसूरिके हस्तसे दीक्षा पाये थे, ऐसा तो इस प्रशस्तिमें साफ उल्लेख है, इससे ज्ञात होता है कि– पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्री श्रीचन्द्राचार्यसे पृथ्वीचन्द्रचरितनिर्दिष्ट श्रीचन्द्राचार्य भिन्न है । दूसरी बात यह भी है कि– पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्री श्रीचन्द्राचार्यका आचार्यपद, मैं उपर लिख आया हू तदनुसार वि. स ११७१ से ११७४ के बीचके किसी भी वर्षमें हुआ है, तब पृथ्वीचन्द्रचरितकी रचना वारसवत् १६३१ अर्थात् विक्रम-सवत ११६१ में हुई है, जिस समय शान्त्याचार्यको आचार्यपदप्रदानकरनेके लिये सहायभूत होनेवाले श्री श्रीचन्द्राचार्य प्रौढावस्थाको पा चूके थे । अत· ये धनेश्वराचार्य और श्रीचन्द्राचार्य प्रस्तुत नन्दीसूत्रवृत्तिदुर्गपदव्याख्याकार श्रीचन्द्राचार्य और उनके गुरु धनेश्वराचार्यसे भिन्न ही हो जाते हैं ।

इस प्रकार यहाँ नन्दिवृत्तिदुर्गपदव्याख्याकार चन्द्रकुलीन श्री श्रीचन्द्राचार्यका यथासाधनप्राप्त परिचय दिया गया है ।

मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत नन्दिटिप्पनक

इस नन्दिवृत्तिके उपर मलधारगच्छीय आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत टिप्पनक भी था, जो आज प्राप्त नहीं है । आज पर्यंतमें मैंने सख्याबन्ध ज्ञानभडारो को देखे है, उनमेंसे कोइ ज्ञानभंडारमें वह देखनेमें नहीं आया है । फिर भी आपने इस टिप्पनककी रचना की थी–इसमें कोई सशय नहीं है । खुद आपने ही विशेषावश्यकमहाभाष्यवृत्तिके प्रान्त भागमें अपनी ग्रन्थरचनाओंका उल्लेख करते हुए इस रचनाका भी निर्देश किया है । जो इस प्रकार है—

इह ससारवारांनिधौ मा निमग्नं . .अवलोक्य कोऽपि ..महापुरुषः....चारित्रमय महायानपात्रं समर्पयामास । भणितवांश्च–भो महाभाग ! समधिरोह त्वमस्मिन् यानपात्रे । समारूढश्चात्र ...भवजलधिमुत्तीर्य प्राप्स्यसि **शिवरत्नद्वीपम्** । समर्पितं च मम तेन महापुरुषेण सद्भावनामञ्जूषायां प्रक्षिप्य **शुभमनो**नामकं महारत्नम् । अभिहितं च मां प्रति–रक्षणीयमिदं प्रयत्नतो भद्र ! । . . एतदभावे तु सर्वमेतत् प्रलयमुपयाति । अत एव तव पृष्ठत· सर्वादरेणैतदपहरणार्थं लगिष्यन्ति ते मोहराजादयो दुष्टतस्करा । .. ..'रे रे तस्कराधमा· ! किमेनदारब्धम् ? स्थिरीभूय लगत लगत सर्वात्मना ' इति ब्रुवाणो मोहचरटचक्रवर्ती ससैन्य एवाऽऽरब्धो युगपत् प्रहर्तुम् । केचित्त्वतीवच्छलघातिनो मोहसैनिका· . . .जर्जरयन्ति सद्भावनाङ्गानि । ततो मया तस्य परमपुरुषस्योपदेशं स्मृत्वा विरचय्य झटिति निवेशित**मावश्यकटिप्पनका**भिधानं मद्भावनामञ्जूषायां नूतनफलकम्, ततोऽपरमपि **शतकविवरण**नामकम्, अन्यदप्य**नुयोगद्वारवृत्ति**संज्ञितम्, ततोऽपरमप्यु**पदेशमाला**सूत्राभिधानम्, अपरं तु **तद्वृत्ति**नामकम्, अन्यच्च **जीवसमासविवरण**नामधेयम्, अन्यत्तु **भवभावना**सूत्रसज्ञितम्, अपरं तु **तद्विवरण**नामकम्, अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्याः सद्भावनामञ्जूषाया अङ्गभूतं निवेशितं **नन्दिटिप्पनक**नामधेयं नूतनं दृढफलकम् । एतैश्च नूतनफलकैर्निवेशितैर्वज्रमयीव सञ्जाताऽसौ मञ्जूषा तेषां पापानामगम्या । ततस्तैरतीवच्छलघातितया सञ्चूर्णयितुमारब्धं तद्द्वारकपाटसम्पुटम् । ततो मया ससम्भ्रमेण निपुणं तत्प्रतिविधानोपायं चिन्तयित्वा विरचयितुमारब्धं तद्द्वारपिधानहेतो· **विशेषावश्यकविवरणा**भिधानं वज्रमयमिव नूतनकपाटसम्पुटम् । तत्श्चा**भयकुमारगणि-धनदेवगणि-जिनभद्रगणि-लक्ष्मणगणि-विबुधचन्द्रादि**मुनिवृन्द-श्री**महानन्द**-श्री**महत्तरावीरमती**गणिन्यादिसाहाय्याद 'रे रे निश्चितमिदानीं हता वयं यद्येतद् निष्पद्यते,

ततो धावत धावत, गृह्णीत गृह्णीत, लगत लगत ' इत्यादि पूत्कुर्वतां सर्वात्मशक्त्या युगपत् प्रहरतां हाहारवं कुर्वतां च मोहादिचरटानां चिरात् कथं कथमपि विरचय्य तद्द्वारे निवेशितमेतदिति । ततः शिरो हृदयं च हस्ताभ्यां कुट्टयन् विषण्णो मोहमहाचरटः, समस्तमपि विलक्षीभूतं तत्सैन्यम्, निलीनं च सनायकमेव । ततः क्षेमेण शिवरत्नद्वीपं प्रति गन्तुं प्रवृत्तं तद् यानपात्रमिति ॥

—मलधारीयश्रीहेमचन्द्रसूरिकृतविशेषावश्यकवृत्तिप्रान्ते ।

इस उल्लेखको पढनेसे प्रतीत होता है कि आपने आवश्यकहारिभद्रीवृत्तिटिप्पनककी तरह नन्दिहारिभद्रीवृत्तिटिप्पनककी भी रचना की थी । यद्यपि श्री**हेमचन्द्राचार्य** महाराज इस **टिप्पनक**रचनाका उल्लेख आप करते ही हैं, फिर भी आश्चर्यकी बात यह है कि- इनके ही शिष्य श्री **श्रीचन्द्रसूरि** महाराजने प्राकृत **मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र**की प्रशस्तिमें अपने दादागुरु और गुरुके, सक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वके चरित्रका वर्णन करते हुए श्रीहेमचन्द्राचार्य की ग्रन्थकृतियोंका उल्लेख किया है, उसमें सभी कृतियोंके नाम दृष्टिगोचर होते हैं, सिर्फ इस **नन्दिटिप्पनक**का नाम उसमें नहीं पाया जाता है । वह उल्लेख इस प्रकार है—

जे तेण सयं रइया गंथा ते संपइ कहेमि ॥

सुत्तमुवएसमाला-भवभावणपगरणाण काऊण । गंथसहस्सा चउदस तेरस **वित्ती** कया जेण ॥
अणुओगदाराणं जीवसमासस्स तह य **सयगस्स** । जेणं छ सत्त चउरो गंथसहस्सा कया **वित्ती** ॥
मूलावस्सयवित्तीए उवरि रइयं च **टिप्पणं** जेणं । पंचसहस्सपमाणं विसमट्ठाणावबोहयरं ॥
जेण **विसेसावस्सयसुत्तस्सुवरिं** सवित्थरा **वित्ती** । रइया परिष्फुडत्था अडवीससहस्सपरिमाणा ॥

मुनिसुव्रतस्वामिचरित्रप्रशस्ति ।

इस उल्लेखमें श्री श्री**चन्द्रसूरि**ने अपने गुरुकी सब कृतियोंके नाम दिये हैं । सिर्फ **नन्दिटिप्पनक**का नाम इसमें नहीं है, जिसका नामोल्लेख खुद मलधारी श्री**हेमचन्द्राचार्य** महाराजने **विशेषावश्यकवृत्ति**के प्रान्तभागमें किया हैं । यद्यपि मुनिसुव्रतस्वामिचरितके इस उल्लेखको प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे मीलाया गया है, तथापि सम्भव है कि प्राचीन कालसे ही **नन्दिटिप्पनक**के नामको निर्देश करनेवाली गाथा छूट गई हो । अस्तु, कुछ भी हो, फिर भी जब **विशेषावश्यकवृत्ति**के अंतमें खुद श्री**हेमचन्द्राचार्य** महाराज आप ही **नन्दिटिप्पनक**रचनाका निर्देश करते हैं तो यह निर्विवाद ही है कि आपने **नन्दिटिप्पनक**की रचना अवश्यमेव की थी, जो आज नहीं पाई जाती है ।

नन्दीविषमपदटिप्पनक

इस ग्रन्थाङ्कमें पृ. १८२ से १८६में **नन्दीसूत्रवृत्तिविषमपदटिप्पनक** मुद्रित है । इस टिप्पनकको श्री **चन्द्रकीर्त्तिसूरि**की कृति बतलाया हैं, किन्तु यह रचना वास्तवमें उनकी रचना नहीं है । इस टिप्पनकके मुद्रण समय खंभातकी वि. स. १२१२में लिखित ताडपत्रीय प्रतिको ध्यानमें रख कर, एवं पाटनके भंडारोंकी कुछ प्रतियों के अन्त भागमें **निरयावलिकादिपंचोपाङ्गपर्याय** और **नन्दीवृत्तिविषमपदपर्याय**को इसी टिप्पनकके साथ देख कर ' श्री**चन्द्रकीर्त्तिसूरि**कृत ' ऐसा लिख तो दिया है, किन्तु **खंभात**के भंडारकी और **जैसलमेर**के भंडारकी प्राचीन ताडपत्रीय **निःशेषसिद्धान्तपर्याय** और **सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय** की प्रतियोंको गौरसे देखी तब यह समझ भ्रान्त प्रतीत हुई है । खंभातके भंडारकी प्रतिमें और जैसलमेरभंडारकी प्रतिमें अलग अलग सिद्धान्तोंके पर्याय होनेसे दोनों प्रतियाँ जुदी जुदी है । अतः इतना निश्चित होता है कि—खंभातकी **निःशेषसिद्धान्तपर्याय** की प्रति, जो जिस वर्षमें ग्रन्थरचना हुई उसी वर्षमें लिखी हुई है—, उसमें जितने सिद्धान्तोंके पर्याय हैं, उतनी ही श्री**चन्द्रकीर्त्तिसूरि**की रचना है । शेष सिद्धान्तपर्यायोंकी रचना किसी अन्य गीतार्थ की रचना है, जिसका नाम ज्ञात नहीं है । खंभात भंडारकी प्रतिमें **नन्दीविषमपदपर्याय** नहीं है, तब जैसलमेर भंडारकी

प्रतिका प्रारम्भ **नन्दीविषमपदपर्यायसे** ही होता है। अतः यह निर्विवाद ही है कि इस मुद्रित नन्दीविषमपदटिप्पनककी रचना श्री**चन्द्रकीर्त्तिसूरि**की न हो कर किसी अन्य गीतार्थकी रचना है।

नन्दीविषमपदपर्याय प्रायशः **नन्दीवृत्तिदुर्गपदव्याख्या**से उद्धृत होनेके कारण, अज्ञातकर्तृक अन्य **सर्वसिद्धान्त-विषमपदपर्याय** ग्रन्थ अगर एककर्तृक ही है तो, यह रचना निर्विवादरूपसे श्री श्रीचन्द्राचार्यके बाद की ही है।

यहाँ पर विद्वानोंकी जानकारीके लिये उपयुक्त समझ कर खंभातकी प्रतिका पूर्ण परिचय दिया जाता है—

क्रमाङ्क ८७ (१) **निःशेषसिद्धान्तविचार** (व्यवहार सप्तमोद्देशपर्यन्त) पत्र १२९वाँ + १ – २१०

(२) **निःशेषसिद्धान्तविचार** (व्यवहार अष्टमोद्देशसे आगे) पत्र १ – २०

अन्तिम प्रशस्ति—

शिष्याम्भोजदिवाकरस्य पुरतः श्री**धर्मघोषप्रभोः**, सिद्धान्तं **विमलाख्यसूरि**गणभृच्छिष्येण सशृण्वता।
स्मृत्यर्थं गणि**चन्द्रकीर्त्ति**कृतिनो केचिद् विचारा वराः, सन्त्येते परिपिण्डिताः परिलसत्सिद्धान्तरत्नाकरात्॥

(३) **प्रतिष्ठाविधि** पत्र २१–२२

(४) **प्रायश्चित्तविचार** पत्र २३ वाँ

(५) **निःशेषसिद्धान्तपर्याय** पत्र २४–१११

दढगालिधोयपोत्ती सदसवत्थं नि भणियं होइ ५। रालग कंगू॥छा॥ सवत् १२१२ आषाढ वदि १२ गुरौ लिखितेयं **सिद्धान्तोद्धार**पुस्तिका लेखक **देवप्रसादे**नेति॥छा॥ ग्रन्थाग्रम् १६७०॥ द्वितीयखण्डम्॥छा॥

शिष्याम्भोजवनप्रबोधनरवेः श्री**धर्मघोषप्रभोः** वक्त्राम्भोजविनिर्गताः कतिपयाः सिद्धान्तसत्का अमी।
पर्याया गणि**चन्द्रकीर्त्ति**कृतिना सञ्चिन्त्य सम्पिण्डिताः स्वस्य श्री**विमलाख्यसूरि**गणभृच्छिष्येण चिन्ताकृते॥छा॥
आस्ते श्रीमदखर्वपर्वततिभिः सर्वोदयः क्ष्मातले छायाछन्नदिगन्तरः परिलसत्पत्रावलीसङ्कुलः।
सेवाकारिनृणां नवीनफलदोऽप्यश्रान्तमान्द्रद्युतिः निश्छिद्रः सरलत्वकौतुककरः **प्राग्वाट**वंशः सताम्॥
मौक्तिकहारसङ्काशः समासीत् तत्र **वीहिलः**। श्रावको गुणसयोगान्नराणां हृदये स्थितः॥
समजनि **धनदेवः** श्रावकस्तस्य सूनुः, प्रथितगुणसमुद्रो मञ्जुवाणीविलासः।
गगनवलयरङ्गत्कीर्त्तिचन्द्रोदयेऽस्मिन्, लगति न च कलङ्काः खञ्जनं यस्य सत्काः॥

तस्य च भार्या **यशोमती**, तयोश्च पुत्रो गुणरत्नैकरोहणाचलो धर्मचन्दनद्रुममलयः कीर्त्तिसुधाधवलितसमस्तविश्ववलयो **यशोदेव**श्रेष्ठी। तस्य च—

आंबीति नाम्ना जनवत्सलाऽभूद्, भार्या **यशोदेव**गृहाधिपस्य। यस्याः सतीनां गुणवर्णनायामाद्यैव रेखा क्रियते मुनीन्द्रैः॥

तयोश्च पुत्रा **उद्धरण-आम्बिग-वीरदेवा**ख्या बभूवुः। **सोली-लोली-सोखी**नामानश्च पुत्रिकाः सञ्जज्ञिरे। अन्यदा च सिद्धान्तलेखनबद्धादरेण जिनशासनानुरञ्जितचित्तेन **यशोदेव**श्रावकेण **सिद्धान्तविचार-पर्याय**पुस्तिका लेखयामास।

पूज्य श्री **विमलाख्यसूरि**गणभृच्छिष्यस्य चारित्रिणो योग्याऽसौ गणि**चन्द्रकीर्त्ति**विदुषो विद्वज्जनानन्दिनी।
शास्त्रार्थस्मृतिहेतवे परिलसज्ज्ञानप्रपा पुस्तिका भक्तिप्राञ्चितयत्युपासक**यशोदेवेन** निर्मापिता॥
यावच्चन्द्र-रवी नभस्तलजुषौ यावच्च देवाचलो यावत् सप्तसमुद्रमुद्रितमही यावन्नभोमण्डलम्।
यावत् स्वर्गविमानसन्ततिरियं यावच्च दिग्दन्तिनस्तावत् पुस्तकमेतदस्तु सुधियां व्याख्यायमानं मुदे॥

॥ इति प्रशस्तिः समाप्ता ॥ छ ॥

(६) **कतिचित् सिद्धान्त विचार तथा पर्याय पत्र ११**

यहाँ पर **खंभातके** श्रीशान्तिनाथ ताडपत्रीय जैन ज्ञानभंडारकी क्रमांक ८७ पुस्तिकाका जो विवरण और प्रशस्तियाँ दी गई है, इससे ज्ञात होता है कि– यह प्रति दो खंडमें विभक्त है। प्रथम खंडके प्रारंभके १२८ पत्र इस समय प्राप्त नहीं हैं, जिनमें संभव है कि– आचार्य श्री **चन्द्रकीर्त्तिसूरि** की ही कोई कृति होगी। १२९ वाँ + १–२२० + १–२० पत्रोंमें अंग-उपांग-छेद-आगमगत उपयुक्त विचारोंका संग्रह है, जो आचार्य श्री **चन्द्रकीर्त्तिने** अपने विद्यागुरु श्री **धर्मघोषसूरिके** पास जैन सिद्धान्तोंका श्रवण अध्ययन करते करते किया है, जिसका निर्देश आपने प्रशस्तिपद्यमें किया है। २१ से २३ पत्रोंमें प्रतिष्ठाविधि एवं प्रायश्चित्ताधिकारका संग्रह है।

पत्र २४ से १११ में **निःशेषसिद्धान्तपर्याय** है। जिनमें आचार्य श्री**चन्द्रकीर्त्तिने** पञ्चवस्तुक, आचाराङ्ग, सूत्र-कृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवतीसूत्र, प्रश्नव्याकरण, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, निशीथचूर्णि, कल्प, व्यवहार, पञ्चकल्प, दशा, जीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, इन सोलह शास्त्रोंके पर्याय अर्थात् विषमपदके अर्थ दिये है।

पाटन, जैसलमेर आदिके ज्ञानभंडारकी प्रतियोंमें नन्दीसूत्रवृत्ति, आवश्यकवृत्ति, दशवैकालिकवृत्ति, ओघनिर्युक्ति, पिण्ड-निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्तिगाथा, उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति, आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवतीसूत्र, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, प्रज्ञापनाविवरण, जीतकल्प, इन सोलह शास्त्रोंके पर्याय है। यद्यपि इस **सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय** ग्रन्थमें आचाराङ्गादि शास्त्रोंके पर्याय अवश्यमेव शामिल है, तथापि दोनों पर्याय अलग अलग है। कितनेक शास्त्रों के पर्याय श्रीचन्द्रकीर्त्ति-सूरिकी रचनामें विस्तृत हैं, तो कितनेक शास्त्रोंके पर्याय दूसरी रचनामें विस्तृत हैं। इसी तरह कितनेक शास्त्रोंके पर्याय परस्पर एक दूसरेमें नहीं भी है। यह दोनों **विषमपद**पर्यायकी दी हुई सूचीयोंको देखनेसे प्रतीत होगा। अतः दोनों विषम-पदपर्यायकारोंका प्रयत्न अलग अलग है, ग्रन्थ भी जुदे है, ग्रन्थकार भी भिन्न है। पाटनके भंडार आदिमें ऐसी प्रतियाँ भी नजर आती हैं, जिनमें दोनों विषमपदपर्याय ग्रन्थ साथमें लिखे हैं। किन्तु आचार्य **चन्द्रकीर्त्तिसूरिकी** ग्रन्थरचनाप्रशस्ति खंभातकी प्रतिके सिवा और कोई प्रतिमें नजर नहीं आती है, जो अनेक दृष्टिसे महत्त्वकी है।

इस प्रशस्तिको देखनेसे पता चलता है कि– यह प्रति श्रावक **यशोदेवने** वि. सं. १२१२ आषाढमासमें खुद ग्रन्थ-कार श्री**चन्द्रकीर्त्तिसूरिके** लिये लिखवाई है। साथमें इस प्रशस्तिको देखते हुए ग्रन्थरचनाका समय भी वि. सं. १२१२ संभावित किया जा सकता है। यह पुस्तिका खुद ग्रन्थकारके लिये लिखवाई होनेके कारण इस प्रतिको प्रथम प्रति कह सकते है, इस दृष्टिसे इस प्रतिका और भी महत्त्व बढ जाता है। इन आचार्यकी अन्य कोई कृति अभी तक देखनेमें नहीं आई है।

इस पुस्तिकाके साथ कतिचित्सिद्धान्तविचार तथा पर्यायके जो ग्यारह पत्र जुडे हुए है, इनका इस ग्रन्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये विप्रकीर्ण पन्ने है।

यहाँ पर गीतार्थ मुनिगण एवं विद्वद्वर्गसे निवेदन है कि इस ग्रन्थमें मेरे अनवधानसे **नन्दीवृत्तिदुर्गपदव्याख्याके** शीर्षकोंमें श्री **श्रीचन्द्राचार्यनामके** साथ जो **मलधारि** विशेषण छपा है उन सभी स्थानोंमें **चन्द्रकुलीन** ऐसा सुधार लिया जाय। और **नन्दीवृत्तिसंक्षिप्तटिप्पनकके** साथ 'श्री **चन्द्रकीर्त्तिसूरिप्रणीत**' छपा है उसको मिटा दिया जाय।

यहाँ पर ग्रन्थकारोंके विषयमें जो वक्तव्य था, वह समाप्त हो जाता है।

संशोधन और सम्पादन

प्रस्तुत नन्दिसूत्र, हारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या और विषमपदटिप्पनकके संशोधन एवं सम्पादनके लिये मात्र उनकी प्रतियोंका ही आधार लिया गया है, ऐसा नहीं है किन्तु मूलसूत्र, और हारिभद्रीवृत्ति के उद्धरण जो मलधारी आचार्य श्रीहेम-चन्द्रसूरि, आचार्य श्रीमलयगिरि आदिने अपने अपने ग्रन्थोंमें दिये हैं, उनका भी इस संशोधनमें उपयोग किया गया है।

हारिभद्रीवृत्ति के संशोधनमें इसकी प्रतियोंके अतिरिक्त इसकी श्रीचन्द्रीयदुर्गपदव्याख्याको भी लक्ष्यमें रक्खी है, इतना ही नहीं किन्तु आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिजीने अपनी वृत्तिमें जो जो उद्धरण दिये हैं, उन सबको, हो सका वहाँ तक,—मूल स्थानों के साथ तुलना कर, प्राचीन कालसे चली आती अशुद्धियोंका परिमार्जन करनेका प्रयत्न किया है। दुर्गपदव्याख्याका परि-मार्जन प्रतियोंके अलावा विशेषावश्यककी मलधारी वृत्तिके आधारसे किया गया है। आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने विशेषावश्यक-महाभाष्य आदिके जो उद्धरण दिये है, उनके पाठोंकी ओर दुर्गपदव्याख्याकारने कोई खास ध्यान दिया प्रतीत नहीं होता है। यही कारण है कि आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके उद्धरण और दुर्गपदव्याख्याकारने दी हुई गाथाओंमें पाठभेद पाये जाते है। दुर्गपदव्याख्याकारने हारिभद्रीवृत्तिमें उद्धृत विशेषावश्यकमहाभाष्यकी गाथाओंके उपर कोई स्वतंत्र व्याख्या नहीं की है, किन्तु उन गाथाओंकी मलधारी आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिने जो व्याख्या की है उसीका अक्षरशः ऊतारा ही कर लिया है। अत ऐसे पाठोंको तत्तत् स्थानके पाठोंके साथ मिलाया गया है।

नन्दिमूलसूत्र के उपर आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने जिस पाठको लक्ष्यमें रख कर व्याख्या की है, वही सूत्रपाठ मैंने वृत्तिके आधारसे मूलमें दिया है। ऐसे स्थानोमें आचार्य श्रीहरिभद्रको इष्ट सूत्रपाठ प्रतियोंमें कहीं पाया गया है और कहीं नहीं भी पाया गया है। फिर भी आचार्यकी व्याख्याकी सगतिको लक्ष्यमें रख कर यह परिवर्तन मैंने उचित माना है। आज अपने सामने नन्दिसूत्रकी जो प्राचीन—अर्वाचीन प्रतियाँ विद्यमान है, उनमेंसे एक भी प्रति ऐसी नहीं है जो श्री**चूर्णि-कार**, श्री**हरिभद्रसूरि** या श्री**मलयगिरि**की व्याख्याके साथ पूर्णतया सहमत हो। इस दशामें तत्तद् वृत्तिके साथ तत्तत् सूत्रपाठोंका स्थापन या परावर्तन करना असगत नहीं है। फिर भी मैंने नन्दीसूत्रकी प्रतियोंमें पाये गये महत्त्वके कोई भी पाठभेद की उपेक्षा नही की है, इतना ही नहीं ग्रन्थान्तरोंमें नन्दीसूत्रके उद्धृत उद्धरणोंसे उपलब्ध पाठभेद भी मैंने दिये है। साथमें चूर्णिकार, हरिभद्रसूरि और श्रीमलयगिरि, ये तीन व्याख्याकार महर्षियोंमेंसे, किसको कौनसा या कैसा सूत्रपाठ अभिमत है ?— इसका भी सर्वत्र विवेक किया गया है। इन पाठभेदोंके जिज्ञासुओंसे विज्ञप्ति है कि— इस संस्थाकी ओरसे प्रकाशित चूर्णिसहित नन्दीसूत्रकी पादटिप्पणीओंको ध्यानसे देखें।

परिशिष्ट

इस ग्रन्थके साथ पांच परिशिष्ट एवं शुद्धिपत्र दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्टमें मूलनन्दीसूत्रकी गाथाओंका क्रम दिया है। दूसरे परिशिष्टमें नन्दीहारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या और अनुज्ञानन्दी या लघुनन्दीकी वृत्तिमें दिये उद्धरणोंका क्रम दिया है। तीसरे परिशिष्टमें नन्दीसूत्रमूल, हारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या, विषमपदटिप्पनक, अनुज्ञानन्दी और योगनन्दीमें स्थित विशेषनामोंका क्रम दिया है। चतुर्थ परिशिष्टमें नन्दीहारिभद्रीवृत्तिगत पाठान्तर-मतान्तर-व्याख्यान्तरोंके स्थान दिये हैं। पांचवें परिशिष्टमें नन्दीसूत्र और व्याख्याओंमें स्थित व्याख्यात, अव्याख्यात एवं विषयद्योतक शब्दोंका अनुक्रम दिया है। और अन्तमें मुनिवर श्रीजम्बूविजयजी, भाई श्रीदलसुखभाई मालवणिया और पंडित श्रीबेचरदास दोसीने तैयार किया शुद्धि-पत्रक है। विद्वानोंसे प्रार्थना है कि— इस ग्रन्थके पढनेके पूर्व शुद्धिपत्रकका उपयोग करें।

उपसंहार

प्रस्तावनाके प्रारम्भमें उल्लिखित प्रतियोंके आधारसे प्रस्तुत ग्रन्थका संशोधन किया गया है। इस मुद्रणके प्रूफपत्रोंका निरीक्षण एवं परिशिष्ट भी पं. भाई अमृतलाल मोहनलाल भोजक ने किया है। भाई श्रीदलसुखभाई मालवणियाजीका साहाय्य भी आदिसे अन्त तकमें रहा है। इतना होते हुए भी अगर इस संशोधनमें कोई क्षति प्रतीत हो तो विद्वानोंसे प्रार्थना है कि— ऐसी क्षतियोंकी सूचना देनेकी कृपा करें। जिनका उपयोग यथावसर अवश्य ही किया जायगा।

सं. २०२२ माघ शुक्ल पूर्णिमा
अहमदाबाद

मुनि पुण्यविजय

हारिभद्रि वृत्ति सहित नन्दीसूत्रका विषयानुक्रम।

॥ णमो त्थु णं समणस्स भगवओ महइ-महावीर-वद्धमाणसामिस्स ॥

णमो अणुओगधराणं थेराणं ।

श्रीदेववाचकविरचितं

नन्दिसूत्रम् ।

याकिनीमहत्तराधर्मसूनुना आचार्यश्रीहरिभद्रसूरिणा

सूत्रितया वृत्त्या समलङ्कृतम् ।



॥ श्रीसर्वज्ञाय नमः ॥

जयति भुवनैकभानुः सर्वत्राविहतकेवलालोकः ।
नित्योदितः स्थिरस्तापवर्जितो वर्द्धमानजिनः ॥ १ ॥

इह सर्वेणैव संसारिणा सत्त्वेन नारक-तिर्यङ्-नरा-ऽमरगतिनिबन्धनानेकशारीर-मानसातितीव्रतरदुःखौघसङ्घात-पीडितेन जाति-जरा-मरण-शोक-रोगाद्युपद्रवव्रातरहित-निरतिशयालोकसुखस्वभावापवर्गगतिसम्भवे सति पीडानिर्वेदात् तत्परित्यागाय, निरतिशयालोकसुखाभिलाषाच्च तदवाप्तये, आत्म-परतुल्यचित्तेन सर्वथा स्व-परोपकाराय प्रवर्त्तितव्यमिति । तत्रान्यपरिरक्षणादिना परोपकारपूर्वक एवाऽऽत्मोपकार इति विशेषतस्तत्र । स पुनः परोपकारो द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो भोजनादिविचित्रविभवप्रदानजनितः, अयं चानेकान्तिकोऽनात्यन्तिकश्च । भावतस्तु सद्धर्मप्रदानजनितः, अयं चैकान्तिकस्तथाऽऽत्यन्तिकश्च । सद्धर्मश्च श्रुतधर्म-चारित्रधर्मभेदाद् द्विभेदः । तत्र श्रुतधर्मो जिनवचनस्वाध्यायः, चारित्रधर्मस्तु तदुक्तः श्रमणधर्म इति । उक्तं च—

सुयधम्मो सज्झाओ चरित्तधम्मो समणधम्मो । [ ]

तत्र श्रुतधर्मसम्पत्समन्विता एव प्रायश्चारित्रधर्मग्रहण-परिपालनसमर्था भवन्तीति तत्प्रदानमेवाऽऽदौ न्याय्यमिति । तत्रापि श्रुतप्रदाने सत्यपि नाविज्ञातार्थादेव तस्मादभिलपितार्थावाप्तिः प्राणिनामित्यतः प्रारभ्यतेऽर्हद्वचनानुयोगः । अयं च परमपदप्राप्तिहेतुत्वाच्छ्रेयोभूतो वर्त्तते । श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति । यथोक्तम्—

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः ॥ १ ॥
[ ] इति ।

अतोऽस्य प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलाधिकारे नन्दिर्वक्तव्यः ।

अथ नन्दिरिति कः शब्दार्थः ?, उच्यते–"टुणादि समृद्धौ" [पा. धा. पा. ६७] इत्यस्य धातोः "इदितो नुम् धातोः" [पा. ७. १. ५८] इति नुमि विहितेऽनुबन्धलोपे च कृते औणादिकः इन् प्रत्ययो विधीयते, "सर्वधातुभ्य इन्" [पा. उ. ५६७] इति वचनात्, अनुबन्धलोपे च कृते सति नन्दि, सो रुत्वं विसर्जनीयश्चेति नन्दिः । नन्दनं नन्दिः । नन्दन्त्यनेनेति वा नन्दन्त्यस्मिन्निति वा नन्दयन्तीति वा तदभेदोपचाराद् नन्दिः हर्षः प्रमोद इत्यनर्थान्तरम्, "ताभ्यामन्यत्रोणादयः" [पा. ३. ४. ७५] इति वचनात् ताभ्यामिति सम्प्रदाना-ऽपादानाभ्यामन्यत्र उणादयः प्रत्यया भवन्ति । अन्ये तु "नन्दी" इत्यभिदधति, तत्रापि नन्दिरिति स्थिते "इक् कृष्यादिभ्यः" [पा. वा. ३. ३. १०८] इति इक् प्रत्ययः, स च "कृत्यल्युटो बहुलम्" [पा. ३. ३. ११३] इति वचनाद् भावे करणे

१ तत्र इति परोपकारे, यतितव्यमिति शेषः ॥ २ अन्ये इति नन्दीचूर्णिकृदादयः ॥

वाऽवगन्तव्य इति, ततः "कृदिकारादक्तिनः" [पा. वार्तिकम् ४. १. ४५] "सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके" [पा. वा. ४. १. ४५] इति ङीप्रत्ययः; अस्य भावार्थः-कृदिकारान्तो यः शब्दः क्तिन्वर्जितस्तस्मात् ङीप्रत्ययो भवति, अपरे तु सर्वतः अक्तिन्नर्थादिकारान्तात् ङीप्रत्ययो भवतीति मन्यन्ते; अनुबन्धलोपे च कृते "यस्य" [पा. ६. ४. १४८] इतीकारलोपे च नन्दी इति रूपं भवति । नन्दनं नन्दी । नन्दन्त्यनयेति वा भव्याः प्राणिन इति नन्दी इत्यलमप्रस्तुतातिप्रसङ्गेनेति ।

अयं च नन्दिश्चतुर्विधः, तद्यथा-नामनन्दिः १ स्थापनानन्दिः २ द्रव्यनन्दिः ३ भावनन्दि ४ श्चेति । तत्र नाम-स्थापने प्रकटार्थे । द्रव्यनन्दिर्द्विधा-आगमतो नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो नन्दिपदार्थज्ञः तत्र चाऽनुपयुक्तः, "अनुपयोगो द्रव्यम्" [अनुयोग. सू. १३] इति वचनात् । नोआगमतस्तु ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तश्च द्रव्यनन्दिः । तत्र ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः नन्दिपदार्थज्ञस्य शरीरं जीवविप्रमुक्तम्, अनुभूतनन्दिभावत्वात्, पश्चात्कृतभावस्य द्रव्यत्वात् । यथोक्तम्—

भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतना-ऽचेतनं कथितम् ॥ १ ॥
[ ]

भव्यशरीरद्रव्यनन्दिश्च नन्दिपदार्थपरिज्ञानभावयोग्यं बालादिशरीरम्, पुरस्कृतभावत्वादस्य । व्यतिरिक्तश्च पुनः क्रियाविष्टो द्वादशविधस्तूर्याङ्गसङ्घातः । अयं तद्यथा—

भंभा १ मउंद २ मद्दल ३ कडंब ४ झल्लरि ५ हुडुक्क ६ कंसाला ७ ।
काहल ८ तलिमा ९ वंसो १० संखो ११ पणवो १२ य बारसमो ॥ १ ॥ [ ]

भावनन्दिरपि द्विविधैव-आगमतो नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो भावनन्दिः नन्दिपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, उपयोगो भाव इति कृत्वा । नोआगमतस्तु भावनन्दिः पञ्चप्रकारज्ञानसमुदायः, नोशब्दो देशवचनः । अथवा पञ्चप्रकारज्ञानस्वरूपप्रतिपादकोऽध्ययनविशेषः, नोशब्दो देशवचन एव, अयं चाध्ययनविशेषः श्रुतांशेन सर्वश्रुताभ्यन्तरभूतो वर्त्तते । अत एव सर्वश्रुतारम्भेष्वेव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमभिधीयत इति ।

अस्य च मङ्गलस्थानावसरप्राप्तस्य सत आचार्या विनेयानां सूत्रा-ऽर्थगौरवोत्पादनार्थमविच्छेदेन सन्तानागतसूत्रा-ऽर्थपददर्शनार्थं चाऽऽदावेवाऽऽवलिकामभिधाय व्याख्यानाय यतन्ते । सर्वे श्रुतार्थाश्च यतस्तीर्थकरप्रभवा अतः प्रज्ञापक-श्रावक-पाठकाः अभिलषितार्थसिद्धये प्रवर्त्तमानाः प्रधानोपायत्वाद् भगवत एव नमस्कारपूर्वकं प्रवर्त्तन्त इत्यत आह ग्रन्थकारः—

[सुत्तं १]

जयइ जगजीवजोणीवियाणओ जगगुरू जगाणंदो ।
जगणाहो जगबंधू जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥ १ ॥

१. जयति० गाथा । व्याख्या—इन्द्रिय-विषय-कषाय-घातिकर्म-भवोपग्राहिकर्मप्रभृतिगणजयाज्जयतीत्युच्यते । किंविशिष्टो जयति ? 'जगज्जीवयोनिविज्ञायकः' इह जगच्छब्देन सकलधर्मा-ऽधर्मा-ऽऽकाश-पुद्गलास्तिकायपरिग्रहः, जीवशब्देन तु सकलजीवास्तिकायपरिग्रहः । उक्तं च—

जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम् । [ ]

योनयः सचित्ताद्याः । उक्तं च—"सचित्त-शीत-संवृतेतर-मिश्रास्तद्योनयः" [तत्त्वा. २. ३३] जीवोत्पत्तिस्थानानीत्यर्थः। "यु मिश्रणे" [पा. धा. पा. १०३३] युवन्ति—तैजस-कार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकादिशरीरेण मिश्रीभवन्त्यस्यामिति योनिः । उक्तं च —

जोएण कम्मएणं आहारेई अणंतरं जीवो । तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ १ ॥
[सूत्रकृ. नि. गा. १७७]

ततश्च जगच्च जीवाश्च योनयश्च जगज्जीव-योनयः, विविधम्—अनेकधा उत्पादाद्यनन्तधर्मात्मकं जानातीति विज्ञायकः, जगज्जीव-योनीनां विज्ञायको जगज्जीव-योनिविज्ञायक इति समासः, अनेन केवलज्ञानप्रतिपादनात् स्वार्थसम्पदमाह । तथा जगद् गृणातीति जगद्गुरुः, यथोपलब्धजगद्वक्तेति भावना, अनेनापि स्वार्थसम्पदमेवाह । तथा 'जगदानन्दः' इह जगच्छब्देन संज्ञिपञ्चेन्द्रियपरिग्रहः, तेषां सद्धर्मदेशनाद्वारेणाऽऽनन्दहेतुत्वादैहिका-ऽऽमुष्मिकप्रमोदकारणत्वाज्जगदानन्द इति, अनेन परार्थसम्पदमाह । तथा 'जगन्नाथः' इह जगच्छब्देन सकलचराचरपरिग्रहः, तस्य यथावस्थितस्वरूपप्ररूपणद्वारेण वितथप्ररूपणापायेभ्यः पालनाद् नाथवद् नाथ इति, अनेनापि परार्थसम्पदमिति । तथा 'जगद्बन्धुः' इह जगच्छब्देन सकलप्राणिपरिग्रहः, तदव्यापादनोपदेशप्रणयनेन सुखस्थापकत्वाद् बन्धुवद् बन्धुः । तथा चोक्तम्— "सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा [ण परिघेत्तव्वा] ण परितावेयव्वा ण उवद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते, समेच्च लोयं खेदण्णेहिं पवेदिते" [आचा. श्रु. १ अ. ४ उ. १ सू. १-२] इत्यादि, अनेनापि परार्थसम्पदमिति । तथा 'जयति जगत्पितामहः' इति, इह जगच्छब्देन सकलसत्त्वपरिग्रह एव, तेषां च कुगतिगमनभयापायरक्षणात् पिता धर्मो वर्तते, तथोक्तम्—

दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् यस्माद् धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद् धर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥
[ ]

तस्यापि चार्थप्रणेतृत्वेन भगवान् पिता वर्तते, अतो जगत्पितामह इति । स्तवाधिकाराच्च पुनः क्रियाभिधानमदुष्टम् । उक्तं च—

सज्झाय-झाण-तव-ओसहेसु उवएस-थुइ-पयाणेसु । संतगुणकित्तणेसु य न होंति पुणरुत्तदोसा उ ॥ १ ॥
[आव. नि. गा. १५०४ पत्र ७८२–१]

अनेनापि परार्थसम्पदमाह । 'भगवान' इति भगः—समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, तथा चोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥ १ ॥
[विष्णुपुराणे ६. ५. ७४]

भगोऽस्यास्तीति भगवानिति । अनेन चोभयसम्पदमाह, स्व-परोपकारित्वादैश्वर्यादेरित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ १ ॥

व्याख्यानयन्ति केचित् स्तुतिमेनामन्यथाऽपि विद्वांसः ।
तत्राप्यपौनरुक्त्यं सूक्ष्मधिया चिन्तनीयमिति ॥ १ ॥

एवं तावद् 'अनादिमन्तो मतास्तीर्थकराः' इति ज्ञापनार्थं सामान्येन नमस्कारमभिधाय साम्प्रतमासन्नोपकारित्वात् सकलदुःखपरमौषधभूतप्रवचनप्रणेतृत्वाद् वर्तमानतीर्थाधिपतेः नमस्कारं प्रतिपादयन्नाह—

---

१ "मिश्रणेऽमिश्रणे च" इति पाणिनिधातुपाठे ॥ २ "वैराग्यस्याथ मोक्षस्य" इति विष्णुपुराणे ॥ ३ अत्र केचिद् इत्यनेन चूर्णिकारावेदितं जिणवसभो सकलियवसमविक्कमगती महावीरो इतिरूपेण प्रथमसूत्रगाथोत्तरार्धं व्याख्यामयन्त पूर्वाचार्या ज्ञेयाः ॥

जयइ सुयाणं पभवो तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरू लोगाणं जयइ महप्पा महावीरो ॥ २ ॥

जयति सु० गाहा। व्याख्या–'जयति' इति पूर्ववत्। 'श्रुतानां' आचारादिभेदभिन्नानां 'प्रभवः' प्रभवन्त्यस्मादिति प्रभवः, तदर्थाभिधायकत्वात् कारणमित्यर्थः। ऋषभादयोऽप्येवम्भूता एव अत आह–'तीर्थकराणामपश्चिमो जयति' तत्र तीर्थकरणशीलास्तीर्थकरास्तेषां तीर्थकराणाम्, भरतेऽधिकृतावसर्पिण्यां पश्चिम एव अनिष्टशब्दपरिहारार्थमपश्चिम इत्युच्यते, पश्चानुपूर्व्या वाऽपश्चिम इति। 'जयति गुरुर्लोकानां' गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुः, 'लोकानां' इति सत्त्वानाम्। 'जयति महात्मा' अनन्तज्ञान-वीर्ययुक्तत्वाद् महान् आत्मा यस्य स महात्मा। 'महावीरः' इति "शूर वीर विक्रान्तौ" [पा. धा. पा. १९०३] इति, कषायादिशत्रुजयाद् महाविक्रान्तो महावीरः। "ईर् गति-प्रेरणयोः" इत्यस्य वा विपूर्वस्य विशेषेण ईरयति–कर्म गमयति, याति वा इह शिवमिति वीरः, महांश्चासौ वीरश्च महावीर इति गाथार्थः ॥ २ ॥

पुनरस्यैवातिशयप्रदर्शनद्वारेण स्तुतिमभिधित्सुराह—

भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स ।
भद्दं सुरा-ऽसुरणमंसियस्स भद्दं धुयरयस्स ॥ ३ ॥

भद्दं० गाहा। व्याख्या–'भद्रं' कल्याणं भवतु। कस्य? 'सर्वजगदुद्योतकस्य' इति, अनेन ज्ञानातिशयमाह। इह च "चतुर्थी चाऽऽशिष्यायुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुखा-ऽर्थ-हितैः" [पा. २. ३. ७३] इति वचनात् षष्ठ्यपि भवत्येव, यथा–आयुष्यं देवदत्ताय आयुष्यं देवदत्तस्येति, एवं मद्रादिष्वपि वक्तव्यमिति। 'भद्रं जिनस्य' "जि जये" अस्य औणादिकनक्प्रत्ययान्तस्य जिन इति भवति, रागादिजयाद् जिन इति, अनेनापायातिशयमाह। अपायः–विश्लेषः, रागादिभिः सार्द्धमात्यन्तिकवियोग इत्यर्थः। आह–अपायातिशये सति ज्ञानातिशयभावाद् व्यतिक्रमः किमर्थम्?, "फलप्रधानाः समारम्भाः" इति ज्ञापनार्थम्। 'भद्रं सुरा-ऽसुरनमस्कृतस्य' इति, अनेन पूजातिशयमाह, न हि विभवानुरूपां पूजामकृत्वैव सुरा-ऽसुरा नमस्कारक्रियायां प्रवर्त्तन्त इति। उक्तं च—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥ १ ॥
[ ] इति।

पूजातिशयान्यथानुपपत्त्यैव वागतिशयो गम्यते। 'भद्रं धुतरजसः' इति, अनेन सकलसंसारक्लेशविनिर्मुक्तां सिद्धावस्थामेवाऽऽह, यतो बध्यमानकं कर्म रजो भण्यते, तदभावस्त्वयोगिसिद्धानामेव, न पुनरन्येषाम्। यत आह–"जाव णं एस जीवे एयइ वेयति चलइ फंदइ० ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा" [भग. श. उ. सू. पत्र] इत्यादि। तत्थ—

सत्तविहबंधगा होंति पाणिणो आउवज्जगाणं तु। तह सुहुमसंपराया छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥ १ ॥
मोहा-ऽऽउगवज्जाणं पगडीणं ते उ बंधगा भणिया। उवसंत-खीणमोहा केवलिणो एगविहबंधा ॥ २ ॥
ते उण दुसमयठिइतस्स बंधगा ण उण संपरायस्स। सेलेसिं पडिवन्ना अबंधगा होंति विन्नेया ॥ ३ ॥"
[पञ्चा. १६ गा. ४०–४२]

आह–भगवतः संसारातीतत्वात् परमकल्याणरूपत्वात् किमेवमुच्यते 'भद्रं भवतु'? न च स्तोत्रा भणितं सर्वमेव भवतीति, अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, तथापि कुशलमनो-वाक्-कायप्रवृत्तिकारणत्वान्न दोष इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ३ ॥ एवं तावत् तीर्थकरनमस्काराः प्रतिपादिताः । साम्प्रतं तीर्थकरानन्तरः सङ्घ इति कृत्वा तीर्थान्तर-ग्रामव्युदासेन नगररूपकेण तत्संस्तवं कुर्वन्नाह—

[सुत्तं २]

गुणभवणगहण ! सुयरयणभरिय ! दंसणविसुद्धरच्छागा ! ।
संघणगर ! भद्दं ते अक्खंडचरित्तपागारा ! ॥ ४ ॥

२. गुण० गाहा । व्याख्या–'गुणभवनगहन !' इह गुणाः–पिण्डविशुद्धयादय उत्तरगुणा अभिगृह्यन्ते । यथोक्तम्—

पिंडस्स जा विसोही समितीओ भावणा तवो दुविहो । पडिमा अभिग्गहा वि य उत्तरगुणमो वियाणाहि ॥ १ ॥
[व्यव. भा. पी. गा. २८९]

एत एव भवनानि एभिर्गहनं–प्रचुरत्वादुत्तरगुणानाम् एभिः सङ्कुलं सङ्घनगरमभिगृह्यते, तस्याऽऽमन्त्रणं हे गुणभवनगहन ! । तथा 'श्रुतरत्नभृत !' श्रुतान्येव–आचारादीनि निरुपमसुखहेतुत्वाद् रत्नानि तैर्भृतं–पूरितमित्यर्थः तस्याऽऽमन्त्रणम् । तथा 'दर्शनविशुद्धरथ्याक !' इह दर्शनं–प्रशम-संवेग-निर्वेदा-ऽनुकम्पा-ऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनं गृह्यते । तच्चौपशमिकादिभेदात् पञ्चविधम् । तथा चोक्तम्– "तं च पंचधा सम्मं । ओवसमं १ सासायण २ खयोवसमिय ३ वेदयं ४ खइयं ५ ॥ " [विशेषा. गा. ५२८] ति । दर्शनमेव असारमिथ्यात्वादिकचवररहिता विशुद्धा रथ्या यस्य तत् तथाविधं तस्याऽऽमन्त्रणम् । 'सङ्घनगर !' सङ्घः–चातुर्वर्णः श्रमणादिसङ्घातः स नगरमिव सङ्घ-नगरं तस्याऽऽमन्त्रणम्, यथा पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । उक्तं च–" उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे " [पा. २. १. ५६] । 'भद्रं' कल्याणं तव भवतु । 'अखण्डचारित्रप्राकार !' चारित्रं–मूलगुणाः, अखण्डं–अविराधितं चारित्रमेव प्राकारो यस्य तत् तथाविधं तस्याऽऽमन्त्रणमिति गाथार्थः ॥ ४ ॥

संसारोच्छेदित्वात् सङ्घस्यैव चक्ररूपकेण स्तवं कुर्वन्नाह—

संजम-तवतुंबा-ऽरयस्स णमो सम्मत्तपारियल्लस्स ।
अप्पडिचक्कस्स जओ होउ सया संघचक्कस्स ॥ ५ ॥

संयम० गाहा । व्याख्या–'संयम-तपस्तुम्बा-ऽरकाय नमः' संयमश्च तपांसि च संयम-तपांसि, तुम्बं च अरकाश्च तुम्बा-ऽरकाः, तत्र यथासङ्ख्यं संयम-तपांस्येव तुम्बा-ऽरका यस्य तत् तथाविधं तस्मै नमः । तत्र संयमः–

पञ्चाश्रवाद् विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥ १ ॥
[प्रशम. आ. १७२]

तपो द्वादशप्रकारं बाह्यमभ्यन्तरं च । तत्र बाह्यं षड्विधम् । यथोक्तम्—

अनशनमूनोदरता वृत्तेः सङ्क्षेपणं रसत्यागः । कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥ १ ॥
[प्रशम. आ. १७५]

अभ्यन्तरमपि षड्विधम् । उक्तं च– "प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्त्यं स्वाध्यायो ध्यानं व्युत्सर्गश्च" [ ] इति । "सम्मत्तपारियल्लस्स" त्ति पारियल्लं–बाह्यपृष्ठकस्य बाह्या भ्रमिरुच्यते, ततश्च सम्यक्त्वबाह्यभ्रमिणे नमः । व्याख्यातं गाथार्धम् । चरकादिभिरतुल्यत्वाद् नास्य प्रतिचक्रं विद्यते इत्यप्रतिचक्रम्, तस्य जयो भवतु इति सुप्रणिधानमेतत् । 'सदा' सर्वकालम् । सङ्घश्चक्रमिव सङ्घचकं तस्येति गाथार्थः ॥ ५ ॥

इदानीं सङ्घस्यैव मार्गगामित्वतो रथरूपकेण स्तवं कुर्वन्नाह—

भद्दं सीलपडागूसियस्स तव-णियमतुरगजुत्तस्स ।
संघरहस्स भगवओ सज्झायसुणंदिघोसस्स ॥ ६ ॥

भद्दं० गाहा । व्याख्या– 'भद्रं' कल्याणं भवतु । कस्य ? सङ्घरथस्य भगवत इति योगः । किंविशिष्टस्य ? शीलोच्छ्रितपताकस्य, प्राकृतशैल्याऽन्यथोपन्यासः, शीलग्रहणाद् अष्टादशशीलाङ्गसहस्रपरिग्रहः । तथा 'तपो-नियमतुरगयुक्तस्य' तपःसंयमाश्वयुक्तस्येत्यर्थः । स्वाध्यायः–वाचनादिः, यथोक्तम्–" वाचना प्रच्छना परावर्त्तना अनुप्रेक्षा धर्मकथा च" [ ] इति, तत्र स्वाध्याय एव शोभनो नन्दिघोषः–तूर्यरवः "सुनेमिघोसस्स" त्ति नेमिनिर्घोषो वा यस्य स तथाविधस्तस्य । इह च शीलाङ्गनिरूपणे सत्यपि तपो-नियमनिरूपणं प्रधानपरलोकाङ्गत्वख्यापनार्थम् । अस्ति चायं न्यायो यदुत–" सामान्योक्तावपि प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषाभिधानम्" इति, यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति, एवमन्यत्रापि योजनीयमित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ६ ॥

सङ्घस्यैव लोकासंश्लिष्टत्वतः पद्मरूपकेण स्तवं प्रतिपादयन्नाह—

कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स सुयरयणदीहणालस्स ।
पंचमहव्वयथिरकण्णियस्स गुणकेसरालस्स ॥ ७ ॥
सावगजणमहुयरिपरिवुडस्स जिणसूरतेयबुद्धस्स ।
संघपउमस्स भद्दं समणगणसहस्सपत्तस्स ॥ ८ ॥ [जुम्मं]

कम्मरय० गाहा । सावय० गाहा । व्याख्या–सङ्घपद्मस्य 'भद्रं' मङ्गलं भवत्विति क्रिया । किम्भूतस्य ? 'कर्मरजोजलौघविनिर्गतस्य' इह ज्ञानावरणादिलक्षणं कर्म, तदेव अनेकधा जीवगुण्डनाद् रजो भण्यते, तदेव भवकारणत्वाद् जलौघवद् जलौघः, तस्माद् विनिर्गत इव विनिर्गतः, तथा चाविरतसम्यग्दृष्टेरप्युपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः परः संसार उक्त इत्यतो विनिर्गतस्तस्य । श्रुतरत्नमेव दीर्घनालं यस्य सः, तद्बलादेव निर्गत इति भावनीयम् । पञ्च महाव्रतानि–प्राणातिपातादिविनिवृत्तिलक्षणानि तान्येव स्थिरा–दृढा कर्णिका–मध्यगण्डिका यस्य । गुणाः–उत्तरगुणाः त एव तत्परिकरत्वात् केसराणि यस्य विद्यन्ते इति गुणकेसरवत् तस्य गुणकेसरवतः ॥ ७ ॥

'श्रावकजनमधुकरीपरिवृतस्य' इति प्रकटार्थम् । नवरमभ्युपेत्य सम्यक्त्वं प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात् साधूनामगारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः । उक्तं च—

यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम् । शृणोति धर्मसम्बद्धामसौ श्रावक उच्यते ॥ १ ॥
[ ]

'जिनसूर्यतेजोबुद्धस्य' केवलज्ञानभास्करविशिष्टसंवेदनप्रभवधर्मदेशनाबुद्धस्येति भावार्थः । 'श्रमणगणसहस्रपत्रस्य' इति प्रकटार्थमेव । नवरं श्राम्यतीति श्रमणः, "कृत्यल्युटो बहुलम्" [पा. ३. ३. ११३.] इति वचनात्

कर्त्तरि ल्युट्, श्राम्यतीति–तपस्यति, एतदुक्तं भवति–प्रव्रज्यादिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरतो गुरूपदेशादनशनादि यथाशक्ति आ प्राणोपरमात् तपश्चरतीति श्रमणः । उक्तं च—

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु च । तपश्चरति शुद्धात्मा श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

[ ]

इति गाथाद्वयार्थः ॥ ८ ॥ इदानीं सङ्घस्यैव सौम्यतया चन्द्ररूपकेण स्तवमाह—

तव-संजममयलंछण ! अकिरियराहुमुहदुद्धरिस ! णिच्चं ।
जय संघचंद ! णिम्मलसम्मत्तविसुद्धजुण्हागा ! ॥ ९ ॥

तवसंजम० गाहा । व्याख्या–'तपः-संयममृगलाञ्छन !' तपः-संयममृगचिह्न ! । 'अक्रियाराहुमुखदुष्प्रधृष्य !' इह अक्रियाशब्देन नास्तिका गृह्यन्ते, अनभ्युपगमाद् अविद्यमानपरलोकक्रियाः अक्रियाः, त एव राहुमुखं तेन दुष्प्रधृष्यः–अनभिभवनीयः तस्याऽऽमन्त्रणम् । 'नित्यम्' इति सदा जय सङ्घचन्द्र ! । 'निर्मलसम्यक्त्वविशुद्धज्योत्स्नाक !' इह मिथ्यात्वभावमलरहितं निर्मलं सम्यक्त्वमुच्यते, तदेव विशुद्धा–निर्मला ज्योत्स्ना–चन्द्रिका यस्य स तथाविधः तस्याऽऽमन्त्रणमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥ अधुना सङ्घस्यैव प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण स्तवमाह—

परतित्थियगहपहणासगस्स तवतेयदित्तलेसस्स ।
णाणुज्जोयस्स जए भद्दं दमसंघसूरस्स ॥ १० ॥

परतित्थिय० गाहा । व्याख्या–'परतीर्थिकग्रहप्रभानाशकस्य' इह परतीर्थिकाः–कपिल-कणभक्षा-ऽक्षपादादिमतावलम्बिनः त एव ग्रहास्तेषां प्रभा–एकदुर्णयज्ञानलक्षणा तां नाशयति–अनन्तनयसङ्कुलप्रवचनसमुत्थज्ञानालोकेन अपनयतीति समासस्तस्य । 'तपस्तेजोदीप्तलेश्यस्य' तपस्तेज एव दीप्ताः–उज्ज्वला लेश्याः–दीधितयो यस्य । 'ज्ञानोद्योतस्य' इति गतार्थम् । 'जगति' लोके 'भद्रं' मङ्गलं भवतु । कस्य ? 'दमसङ्घसूर्यस्य' दमः–उपशमो भण्यते, तत्प्रधानः सङ्घसूर्यः दमसङ्घसूर्यस्तस्येति गाथार्थः ॥ १० ॥

साम्प्रतं सङ्घस्यैव महत्तया समुद्ररूपकेण स्तवमाह—

भद्दं धिइवेलापरिगयस्स सज्झायजोगमगरस्स ।
अक्खोभस्स भगवओ संघसमुद्दस्स रुंदस्स ॥ ११ ॥

भद्दं० गाहा । व्याख्या–सङ्घसमुद्रस्य भद्रं भवत्विति क्रिया । किम्भूतस्य ? 'धृतिवेलापरिगतस्य' धृतिः–आत्मपरिणामः सैव वेला–वेदिका-जलान्तररमणलक्षणा मर्यादा वा तया परिगतस्तस्य । 'स्वाध्याययोगमकरस्य' कर्मविदारणमहाशक्तियुक्तत्वात् स्वाध्याय एव मकरो यस्मिंस्तस्य । 'अक्षोभ्यस्य' परीषहोपसर्गसम्भवे निष्प्रकम्पस्य । 'भगवतः' समग्रैश्वर्यादियुक्तस्य । 'रुन्दस्येति' विस्तीर्णस्येति गाथार्थः ॥ ११ ॥

इदानीं सङ्घस्यैव स्थिरतयाऽचलेन्द्ररूपकेण स्तुतिं कुर्वन्नाह—

सम्मद्दंसणवइरदढरूढगाढावगाढपेढस्स ।
धम्मवररयणमंडियचामीयरमेहलागस्स ॥ १२ ॥

णियमूसियकणयसिलायलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स ।
णंदणवणमणहरसुरभिसीलगंधुद्धमायस्स ॥ १३ ॥
जीवदयासुंदरकंदरुद्दरियमुणिवरमइंदइण्णस्स ।
हेउसयधाउपगलंतरत्तदित्तोसहिगुहस्स ॥ १४ ॥
संवरवरजलपगलियउज्झरपविरायमाणहारस्स ।
सावगजणपउररवंतमोरणच्चंतकुहरस्स ॥ १५ ॥
विणयणयपवरमुणिवरफुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स ।
विविहगुणकप्परुक्खगफलभरकुसुमाउलवणस्स ॥ १६ ॥
णाणवररयणदिप्पंतकंतवेरुलियविमलचूलस्स ।
वंदामि विणयपणओ संघमहामंदरगिरिस्स ॥ १७ ॥ [छहिं कुलयं]

सम्मद्दंसण० गाहा । व्याख्या–सम्यग्–अविपरीतं दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, तदेव प्रथममोक्षाङ्गत्वात् सारत्वाद् वज्रं सम्यग्दर्शनवज्रम्, तदेव दृढं रूढं गाढं अवगाढं पीठं यस्य सङ्घमहामन्दरगिरेः स सम्यग्दर्शनवज्रदृढरूढगाढावगाढपीठस्तस्य वन्दे इति, द्वितीयार्थे षष्ठी प्राकृतशैल्या आर्षत्वाच्च, तं वन्दे इत्यर्थः । तत् सम्यग्दर्शनवज्रपीठं दृढमिति–निष्पकम्पम्, शङ्कादिशल्यरहितत्वात्; रूढमिति–वृद्धिमुपगतम्, प्रतिसमयं विशुध्यमानत्वात् प्रशस्ताध्यवसायस्थानेषु वर्तनात्, गाढमिति–निबिडम्, तीव्रतत्त्वरुचिरूपत्वात् सुष्ठुश्रद्धानरूपत्वादित्यर्थः, अवगाढमिति–निमग्नम्, जीवादिपदार्थेषु सम्यगवबोधरूपतया प्रविष्टमित्यर्थः । "धम्मवरे"त्यादि धारयतीति धर्मः, धर्म एव वररत्नमण्डिता–प्रधानरत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य स धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः । क्रियायोजना पूर्ववदेवावसेया । इह धर्मो द्विविधः मूलगुणोत्तरगुणरूपः, तत्रोत्तरगुणधर्मो रत्नानि, मूलगुणधर्मस्तु चामीकरमेखलेति । तथा च न राजते मूलगुणधर्मचामीकरमेखला उत्तरगुणधर्मरत्नभूषणविकलेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

नियमूसिय० गाहा । व्याख्या–इहोत्सृतशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः, ततश्चैवं भवति–नियम एव कनकशिलातलानि नियमकनकशिलातलानि, तेषूच्छ्रितानि उज्ज्वलानि ज्वलन्ति चित्तान्येव प्राकृतशैल्या कूटानि यस्मिन् स तथाविधः । इह च नियमः इन्द्रिय-नोइन्द्रियनियमः परिगृह्यते । उत्सृतानि अशुभाध्यवसायपरित्यागात् । उज्ज्वलानि प्रतिसमयं कर्ममलविगमात् । ज्वलन्ति सदा सूत्रार्थानुस्मरणरूपत्वात् । चित्यते यैस्तानि चित्तानि । उक्तं च—

चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते । यस्य तन्मुषितं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तयः ॥ १ ॥
[ ] इति ।

वनं–वृक्षसमुदायः, नन्दनं च तद् वनं च नन्दनवनम्, तत्र नन्दन्ति यत्र सुर-सिद्ध-दैत्य-विद्याधरादयस्तद् नन्दनम्, वनमिति–अशोक-सहकारादिजालम्, मनो हरतीति मनोहरम्, लतावितान-विविधपुष्प-फल-प्रवालाद्युपेतत्वात्, नन्दनवनं च तद् मनोहरं चेति "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" [पा. २. १. ५७] इति समासः, तस्य सुरभिश्चासौ शीलगन्धश्च सुरभिशीलगन्धः तेनाऽऽध्मातः–व्याप्तो यः स तथाविधस्तस्य । क्रिया पूर्ववत् ।

इह च सङ्घमन्दरगिरेः सन्तोष एव नन्दनवनम्, तथाहि–नन्दन्ति तत्र साधव इति, तदेव विविधामर्षौषध्यादिलब्ध्युपपेतत्वान्मनोहरं तस्य सुरभिशीलगन्ध एवेति, अथवा मनोहरत्वं सुरभिशीलगन्धविशेषणमिति गाथार्थः ॥ १३ ॥

जीवदया० गाहा । व्याख्या–जीवदयैव सुन्दराणि स्व-परनिर्वृतिहेतुत्वात् कन्दराणि वस्तुतस्तपस्विनिलयत्वात्, तथाहि–"अहिंसाव्यवस्थितः तपस्वी" [ ] इति, मुनिवरा एव शाक्यादिमृगपराजयान्मृगेन्द्राः मुनिवरमृगेन्द्राः, उत्–प्राबल्येन दर्पिताः उदर्पिताः कर्मशत्रुजयं प्रति, उदर्पिताश्च ते मुनिवरमृगेन्द्राश्चेति विशेषणसमासः, जीवदयासुन्दरकन्दरेषु उदर्पितमुनिवरमृगेन्द्रास्तैः आकीर्णः–व्याप्तो यस्तस्येति । 'हेतुशत' इत्यादि, प्रगलन्ति च तानि रत्नानि च प्रगलद्रत्नानि, निस्यन्दवन्ति चन्द्रकान्तादीनि परिगृह्यन्ते, धातवः–कनकादिधातवो गृह्यन्ते, धातवश्च प्रगलद्रत्नानि च धातु-प्रगलद्रत्नानि, दीप्ताश्च ता औषधयश्च दीप्तौषधयः, धातुप्रगलद्रत्नानि च दीप्तौषधयश्च धातु-प्रगलद्रत्न-दीप्तौषधयः, ताः गुहासु यस्य स तथोच्यते । इह च सङ्घमन्दरगिरौ हेतुशतान्येव धातवः, अन्वय-व्यतिरेकलक्षणाश्च हेतवो गृह्यन्ते, प्रगलद्रत्नानि तु क्षायोपशमिकभावनिस्यन्दवन्ति श्रुतरत्नानि गृह्यन्ते, दीप्तौषधयस्तु विशुद्धा आमर्षौषध्यादयो गृह्यन्ते, गुहास्तु समवायाः प्ररूपणगुहा वा गृह्यन्त इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

संवर० गाहा । व्याख्या–संवरश्चासौ वरश्च संवरवरः, संवरः–प्रत्याख्यानरूपः, सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपत्वाद् वरः, असावेव कर्ममलक्षालनाद् जलमिव जलं संवरवरजलम्, तस्मात् प्रगलितं च तदुज्झरं च संवरवरजलप्रगलितोज्झरम्, तथा च संवरवरजलादुपचारतः प्रगलति श्रुतज्ञानाद्युज्झरमिति, तदेव प्रविराजमानः हारो यस्य स तथाविधः । "सावगजणे"त्यादि, रवन्तश्च ते मयूराश्च रवन्मयूराः, प्रचुराश्च ते रवन्मयूराश्च प्रचुररवन्मयूराः, श्रावका एव जनास्त एव प्रचुररवन्मयूरास्तैर्नृत्यन्तीव कुहराणि यस्येति समासः । इह च स्तुति-स्तोत्र-गन्धर्वादि रवणम्, कुहराणि शास्त्रमण्डपादीनि [इति] गाथार्थः ॥ १५ ॥

विणय० गाहा । व्याख्या–स्फुरन्त्यश्च ता विद्युतश्च स्फुरद्विद्युतः, विनयेन नताः विनयनताः, विनयनताश्च ते प्रवरमुनिवराश्चेति, त एव स्फुरद्विद्युज्ज्वलन्ति शिखराणि यस्येति समासः । इह च विनयस्याऽऽन्तरतपोभेदत्वात् तपांस्येव स्फुरन्ति, प्रावचनिकाश्च विशिष्टाचार्यादयः शिखराणि । "विविधगुणे"त्यादि, विविधा गुणा येषां ते विविधगुणाः, विशेषणान्यथानुपपत्त्या साधवो गृह्यन्ते, त एव विशिष्टकुलोत्पन्नत्वात् सत्त्वसुखहेतुधर्मफलप्रदानाच्च कल्पवृक्षकाः विविधगुणकल्पवृक्षकाः, फलभरश्च कुसुमानि च फलभर-कुसुमानि, विविधगुणकल्पवृक्षकाणां फलभर-कुसुमानि विविधगुणकल्पवृक्षकफलभर-कुसुमानि तैराकुलानि वनानि यस्येति समासः। इह च फलभरो धर्मफलभरो गृह्यते, कुसुमानि ऋद्धयः, वनानि गच्छा इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

णाण० गाहा । व्याख्या–ज्ञानं च तद् वरं च ज्ञानवरम्, परमनिर्वृतिहेतुत्वात् तदेव रत्नम्, [तेन] दीप्यमाना कान्ता विमला वैडूर्यचूडा यस्य स तथाविधः । अत्र दीप्यमानेति यथावस्थितजीवादिपदार्थस्वरूपोपलम्भात्, कान्ता भव्यजनमनोहारित्वाद्, विमला तदावरणाभावात् । वन्दे इति विनयप्रणतः सङ्घमहामन्दरगिरेर्यन्माहात्म्यमिति, कर्मणि वा षष्ठीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

एवं सङ्घनमस्कारा अपि प्रतिपादिताः । साम्प्रतमावलिका प्रतिपाद्यते । सा च त्रिविधा–तीर्थकरावलिका १ गणधरावलिका २ स्थविरावलिका ३ च । तत्र तीर्थकरावलिकां प्रतिपादयन्नाह–

[सुत्तं ३]

वंदे उसभं अजिअं संभवमभिणंदणं सुमति सुप्पभ सुपासं ।
ससि पुप्फदंत सीयल सिज्जंसं वासुपुज्जं च ॥ १८ ॥
विमलमणंतइ धम्मं संतिं कुंथुं अरं च मल्लिं च ।
मुणिसुव्वय णमि णेमी पासं तह वद्धमाणं च ॥ १९ ॥ [जुम्मं]

३. वंदे० गाहा । विमल० गाहा । गाथाद्वयमपि निगदसिद्धम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ गणधरावलिका तु या यस्य तीर्थकृतः सा प्रथमानुयोगानुसारेण द्रष्टव्येति । महावीरवर्द्धमानस्य पुनरियम्—

[सुत्तं ४]

पढमेत्थ इंदभूई बीओ पुण होइ अग्गिभूइ त्ति ।
तइए य वाउभूई तओ वियत्ते सुहम्मे य ॥ २० ॥
मंडिय-मोरियपुत्ते अकंपिए चेव अयलभाया य ।
मेयज्जे य पभासे य गणहरा हुंति वीरस्स ॥ २१ ॥ [जुम्मं]

॥ २० ॥ २१ ॥ साम्प्रतं वर्त्तमानतीर्थाधिपतेः स्थविरावलिकां प्रतिपादयन्नतिशयभक्त्या सामान्यतस्तच्छासनस्तवं प्रतिपादयन्नाह—

[सुत्तं ५]

णेव्वुइपहसासणयं जयइ सया सव्वभावदेसणयं ।
कुसमयमयणासणयं जिणिंदवरवीरसासणयं ॥ २२ ॥

५. निव्वुइपह० रूपकम् । अस्य व्याख्या—निर्वृतिपथशासनकमिति, अत्र यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि निर्वाणमार्गस्तथाप्यनेन दर्शन-चरणपरिग्रहः,यत आह—जयति सदा 'सर्वभावदेशनकं' सर्वभावप्ररूपकमित्यर्थः, अनेन तु ज्ञानपरिग्रहः । अथवा 'निर्वृतिपथशासनकम्' इत्यनेन सम्पूर्णनिर्वाणमार्गकथनमेवेति गृह्यते, 'जयति सदा सर्वभावदेशनकम्' इत्यनेन तु विधि-प्रतिषेधद्वारेण 'न निर्वृतिमार्गव्यतिरेकेण किञ्चिदस्ति' इति ख्याप्यते । यत एवम्भूतमत एव 'कुसमयमदनाशनकं' कुसिद्धान्तावलेपनाशनकमित्यर्थः। 'जिनेन्द्रवरवीरशासनकं' चरमतीर्थकरप्रवचनमिति हृदयम् । अयं रूपकार्थः ॥२२॥

अधुना यैरविच्छेदेन स्थविरैः क्रमेणैदंयुगीनानामानीतं तदावलिकां प्रतिपादयन्नाह—

[सुत्तं ६]

सुहम्मं अग्गिवेसाणं जंबूणामं च कासवं ।
पभवं कच्चायणं वंदे वच्छं सेज्जंभवं तहा ॥ २३ ॥

६. सुधम्मं० गाहा । व्याख्या–इह स्थविरावलिका सुधर्मस्वामिनः प्रवृत्ता । उक्तं च–" तित्थं च सुधम्माओ णिरवच्चा गणहरा सेसा । " [ ] इति । अतस्तमेव पुरस्कृत्येयं प्रतिपाद्यते–सुधर्मं भगवद्गणधरं 'अग्निवैशायनं' इति अग्निवैशायनसगोत्रम् । तथा तच्छिष्यं जम्बूनामानं च 'काश्यपं' काश्यपगोत्रम् । तस्मात् 'प्रभवं' तच्छिष्यं प्रभवनामानं 'कात्यायनं' इति कात्यायनसगोत्रम् । वन्दे इति क्रिया प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तथा तच्छिष्यं " वच्छं " इति वत्ससगोत्रं शय्यम्भवं तथेति गाथार्थः ॥ २३ ॥

जसभद्दं तुंगियं वंदे संभूयं चेव माढरं ।
भद्दबाहुं च पाइण्णं थूलभद्दं च गोयमं ॥ २४ ॥

जसभद्दं० गाहा । व्याख्या–'शय्यम्भवशिष्यं यशोभद्रं तुङ्गिकं' इति तुङ्गिकगणं–व्याघ्रापत्यसगोत्रं वन्दे । अस्य च द्वौ प्रधानशिष्यौ बभूवतुः, तद्यथा–सम्भूतविजयो माढरसगोत्रः, भद्रबाहुश्च प्राचीनसगोत्र इति । तथा चाह–सम्भूतं चैव माढरं भद्रबाहुं च प्राचीनमिति । तत्र सम्भूतस्य विनेयः स्थूलभद्रो गौतमसगोत्र आसीत् । आह च–स्थूलभद्रं च गौतममिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

एलावच्चसगोत्तं वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च ।
तत्तो कोसियगोत्तं बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ॥ २५ ॥

एलावच्चस० गाहा । व्याख्या–स्थूलभद्रस्यापि द्वावेव प्रधानशिष्यौ । तद्यथा–एलापत्यसगोत्रो महागिरिः वशिष्ठसगोत्रः सुहस्ती च । यत आह–एलापत्यसगोत्रं वन्दे महागिरिं सुहस्तिनं च । तत्र सुहस्तिनः सुस्थित-सुप्रतिबुद्धादिक्रमेणाऽऽवलिका यथा दसासु [अ० ८ सू० २१०] तथैव द्रष्टव्या, न तयेहाधिकारः, महागिर्यावलिकयेहाधिकारः । तत्र महागिरेर्बहुल-बलिस्सहौ कौशिकसगोत्रौ यमलभ्रातरौ द्वौ प्रधानशिष्यौ बभूवतुः । तयोरपि बलिस्सहः प्रावचनीय आसीत्, अत आह–ततः कौशिकगोत्रं बहुलस्य सदृशवयसं यमलत्वात्, वन्द इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

हारियगोत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं ।
वंदे कोसियगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥ २६ ॥

हारिय० गाहा । व्याख्या–बलिस्सहशिष्यं हारीतसगोत्रं स्वातिं च वन्दे । तथा स्वातिशिष्यं 'हारीतं च' हारीतसगोत्रमेव श्यामार्यम् । [श्यामार्य]शिष्यं च वन्दे कौशिकसगोत्रं शाण्डिल्यम् । किम्भूतम्? आर्यजीतधरं आराद् यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यम्, जीतमिति–सूत्रम्, जीतं मर्यादा व्यवस्था स्थितिः कल्प इति पर्यायाः, मर्यादादिकारणं च सूत्रमिति भावनीयम्, धारयतीति धरः, आर्यजीतस्यः धरः आर्यजीतधरः तम् । अन्ये तु व्याचक्षते–किल शाण्डिल्यस्य शिष्यः आर्यसगोत्रो जीतधरनामा सूरिरासीदिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

तिसमुद्दखायकित्तिं दीव-समुद्देसु गहियपेयालं ।
वंदे अज्जसमुद्दं अक्खुभियसमुद्दगंभीरं ॥ २७ ॥

तिसमुद्द० गाहा । व्याख्या–शाण्डिल्यशिष्यं वन्दे, आर्यसमुद्रमिति क्रिया । किम्भूतम्? 'त्रिसमुद्रख्यातकीर्तिं' पूर्व-दक्षिणा-ऽपरास्त्रयः समुद्राः उत्तरतस्तु हिमवान् वैताढ्यो वेति, अत्रान्तरे प्रथितकीर्तिमित्यर्थः । 'द्वीप-

समुद्रेषु गृहीतप्रमाणं' अतिशयेन द्वीपसागरप्रज्ञप्तिविज्ञायकमिति भावः। अक्षुभितसमुद्रवद् गम्भीरो अक्षुभितसमुद्र-गम्भीरः अतस्तमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

भणगं करगं झरगं पभावगं णाण-दंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥ २८ ॥

भणगं० गाहा। व्याख्या–आर्यसमुद्रशिष्यं वन्दे आर्यमङ्गुमिति योगः। किम्भूतम्?–'भणकं' कालिकादि-सूत्रार्थं भणतीति भणः, स एव प्राकृतशैल्या भणकस्तम्। 'कारकं' कालिकादिसूत्रोक्तमेवोपधिप्रत्युपेक्षणादिक्रिया-कलापं करोतीति कारकस्तम्। 'ध्यातारं' धर्मध्यानं ध्यायतीति ध्याता तम्। इहौघतः कारकमित्युक्ते प्रधानपर-लोकाङ्गताख्यापनार्थं ध्यानस्य ध्यातारमिति विशेषाभिधानम्। यत इत्यम्भूतोऽत आह–प्रभावकं 'ज्ञान-दर्शन-गुणानां' यथावस्थितपदार्थावबोधादीनाम्, एकग्रहणात् तज्जातीयग्रहणात् चरणपरिग्रहः। श्रुतसागरपारगं धीर-मिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

णाणम्मि दंसणम्मि य तव विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं ।
अज्जाणंदिलखमणं सिरसा वंदे पसण्णमणं ॥ २९ ॥

णाणम्मि० गाहा। व्याख्या– आर्यमङ्गुशिष्यं आर्यनन्दिलक्षपणं शिरसा वन्दे प्रसन्नमनसम्। किम्भूतम्?–ज्ञाने दर्शने च तपसि विनये च, अनेन चरणमाह। नित्यकालं 'उद्युक्तं' अप्रमादिनमिति गाथार्थः ॥ २९ ॥

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं ।
वागरण-करण-भंगिय-कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥ ३० ॥

वड्ढउ० गाहा। व्याख्या–'वर्द्धतां' वृद्धिमुपयातु। कोऽसौ? 'वाचकवंशः' तत्र विनेयेभ्यः पूर्वगतं सूत्र-मन्यच्च वाचयन्तीति वाचकाः तेषां वंशः–भाविपुरुषपर्वप्रवाहः। किम्भूतः? यशोवंशः, अनेन विपक्षव्यवच्छेदमाह। तथाहि–अलमयशःप्रधानस्य संसारहेतोः परममुनिविधृतलिङ्गविडम्बकस्य वृद्ध्येति। केषां सम्बन्धिसम्भूतः? आर्य-नन्दिलक्षपणशिष्याणां आर्यनागहस्तिनाम्। किम्भूतानाम्? 'व्याकरण-करण-भङ्गिक-कर्मप्रकृतिप्रधानानां' तत्र व्या-करणं–प्रश्नव्याकरणं शब्दप्राभृतं वा, करणं–पिण्डविशुद्ध्यादि, उक्तं च—

पिंडविसोही ४ समिती ५ भावण १२ पडिमा १२ य इंदियणिरोहो ५ ।
पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३ अभिग्गहा ४ चेव करणं तु ॥ १ ॥ [ओघनि. गा. ३]

भङ्गिकाः–चतुर्भङ्गिकाद्यास्तच्छ्रुतं वा, कर्मप्रकृतिः प्रतीता, एतेषु प्ररूपणामधिकृत्य प्रधानानामिति गाथार्थः ॥ ३० ॥

जच्चंजणधाउसमप्पहाण मुद्दीय-कुवलयनिहाणं ।
वड्ढउ वायगवंसो रेवइणक्खत्तणामाणं ॥ ३१ ॥

जच्चंजणधाउसमप्पहाण० गाहा। व्याख्या– जात्यश्चासावञ्जनधातुश्चेति समासः, तत्समा प्रभा–देहच्छाया येषां ते तथाविधास्तेषाम्। मा भूदत्यन्तकृष्णसम्प्रत्ययस्तत आह–'मुद्रिका-कुवलयनिभानां' पक्वरसद्राक्षा-नीलोत्पल-

निभानामित्यर्थः । रत्नविशेषः कुवलयमित्यन्ये, तथाऽप्यविरोधः । वर्द्धतां वाचकवंशः । केषाम्? आर्यनागहस्तिशिष्याणां 'रेवतिनक्षत्रनाम्नां' रेवतिवाचकानामिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अयलपुरा णिक्खंते कालियसुयआणुओगिए धीरे ।
बंभद्दीवग सीहे वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥ ३२ ॥

अयलपुरा० गाहा । व्याख्या–अचलपुराद् निष्क्रान्तान् । कालिकश्रुतानुयोगेन नियुक्ताः कालिकश्रुतानुयोगिकास्तान्, यद्वा कालिकश्रुतानुयोग एषां विद्यत इति समासस्तान् कालिकश्रुतानुयोगिनः । 'धीरान्' स्थिरान् । 'ब्रह्मद्वीपिकान् सिंहान्' ब्रह्मद्वीपिकाशाखोपलक्षितान् सिंहाचार्यान् रेवतिवाचकशिष्यान् । वाचकपदं तत्कालापेक्षया 'उत्तमं' प्रधानं प्राप्तानिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

जेसि इमो अणुओगो पयरइ अज्जा वि अड्ढभरहम्मि ।
बहुनगरनिग्गयजसे ते वंदे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥

जेसि० गाथा । व्याख्या–येषामयमनुयोगः प्रचरति अद्याप्यर्द्धभरते वैताढ्यादारतः । बहुनगरेषु निर्गतं–प्रसिद्धं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः तान् वन्दे सिंहवाचकशिष्यान् स्कन्दिलाचार्यान् ।

कहं पुण तेसिं अणुओगो ?, उच्यते, बारससंवच्छरिए महन्ते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा फिडियाणं गहण-गुणण-ऽणुप्पेहाऽभावतो सुत्ते विप्पणट्ठे पुणो सुभिक्खे काले जाते महुराए महन्ते समुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण 'जो जं संभरइ' त्ति एवं संघडितं कालियसुयं । जम्हा एयं महुराते कयं तम्हा माहुरा वायणा भन्नति । सा य खंदिलायरियसम्मत त्ति काउं तस्संतिओ अणुओगो भण्णति । अन्ने भणंति जहा– सुयं णो णट्ठं, तम्मि दुब्भिक्खकाले जे अन्ने पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा । एगे खंदिलायरिए संधरे । तेण महुराए पुणो अणुओगो पवत्तिओ त्ति माहुरा वायणा भन्नइ । तस्संतिओ य अणुओगो भण्णइ त्ति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

तत्तो हिमवंतमहंतविक्कमं धीपरक्कममणंतं ।
सज्झायमणंतधरं हिमवंतं वंदिमो सिरसा ॥ ३४ ॥

तत्तो० गाहा । व्याख्या–ततः स्कन्दिलाचार्यशिष्यं हिमवन्तं वन्दे शिरसेति क्रिया । किम्भूतम्? 'हिमवन्महाविक्कमं' हिमवत इव महाविक्रमः–विहारव्याप्त्यादिलक्षणो यस्य स तथाविधस्तम् । "धीपरक्कममणंतं" ति अनन्तधृतिपराक्रमम्, प्राकृतशैल्या तु अन्यथोपन्यासः, अनन्तः धृतिप्रधानः पराक्रमः–कर्मशत्रुजयो यस्य स तथाविधस्तम् । "सज्झायमणंतधरं" ति 'अनन्तस्वाध्यायधरं' धरतीति धरः, अनन्तगम-पर्यायत्वादनन्तं–सूत्रम्, तद्विषयः स्वाध्यायस्तस्य धर इति समासः तमिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालियसुयअणुओगस्स धारए धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंतखमासमणे वंदे णागज्जुणायरिए ॥ ३५ ॥

कालिय० गाहा । व्याख्या–कालिकश्रुतानुयोगस्य धारकान् । धारकांश्च 'पूर्वाणां' उत्पादादीनाम् । हिमवत्क्षमाश्रमणान् वन्दे । तथैतच्छिष्यानेव वन्दे नागार्जुनाचार्यानिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ किम्भूतान्?—

मिउ-मद्दवसंपण्णे अणुपुव्वि वायगत्तणं पत्ते ।
ओहसुयसमायरए णागज्जुणवायए वंदे ॥ ३६ ॥

मिउ० गाहा । व्याख्या – मृदु-मार्दवसम्पन्नान्, उपलक्षणत्वान्मृदुत्वस्य कान् [सम्पन्नान्]? क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-सन्तोषसम्पन्नानित्यर्थः । 'आनुपूर्व्या' वयः-पर्यायकालगोचरया वाचकत्वं प्राप्तान् ।

ऐदंयुगीनानामपि सामाचारीप्रदर्शनपरमेतत्, न चापुष्टं द्वितीयपदमाश्रित्यैदंयुगीनानामपि युज्यते कालोचितानुपूर्वीं विहाय क्वचिदप्याचार्यत्वाद्यारोपणम्, महापुरुषाणां गौतमादीनामाशातनाप्रसङ्गात्, कृतं प्रसङ्गेन, संसार एव दण्डो भगवदाज्ञावितथकारिणामिति ।

'ओघश्रुतसमाचरकान्' ओघश्रुतं–उत्सर्गश्रुतं तत् समाचरन्ति ये ते तथाविधास्तान् नागार्जुनवाचकान् वन्दे इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

वरकणगतविय-चंपयविमउलवरकमलगब्भसरिवण्णे ।
भवियजणहिययदइए दयागुणविसारए धीरे ॥ ३७ ॥
अड्ढभरहप्पहाणे बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे ।
अणुओइयवरवसहे णाइलकुलवंसणंदिकरे ॥ ३८ ॥
भूअहिययप्पगब्भे वंदे हं भूयदिण्णमायरिए ।
भवभयवोच्छेयकरे सीसे णागज्जुणरिसीणं ॥ ३९ ॥ [त्रिसेसयं]

वरकणग० गाहा । **अड्ढ०** गाहा । **भूअहियय०** गाहा । व्याख्या–इदं गाथात्रयमपि प्रायो निगदसिद्धमेव । नवरम्–'भव्यजनहृदयदयितान्' भव्यजनहृदयवल्लभान् ॥ तथा सुविज्ञातबहुविधस्वाध्यायप्रधानान्, बहुविध आचारादिभेदात् स्वाध्यायः । अनुयोजिता यथोचिते वैयावृत्यादौ वरवृषभाः–सुसाधवो यैस्तान् । नागेन्द्रकुलवंशनन्दिकरानिति, प्रमोदकरानित्यर्थः ॥ 'भूतहितप्रगल्भान' अनेकधा सत्त्वहितनिपुणानिति भावः । वन्देऽहं भूतदिन्नाचार्यानिति, अत्रानुस्वारोऽलाक्षणिकः । 'भवभयव्यवच्छेदकरान्' इति सदुपदेशादिना संसारभयव्यवच्छेदकरणशीलान ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

सुमुणियणिच्चा-ऽणिच्चं सुमुणियसुत्त-ऽत्थधारयं णिच्चं ।
वंदे हं लोहिच्चं सब्भावुब्भावणातच्चं ॥ ४० ॥

सुमुणिय० गाहा । व्याख्या–भूतदिन्नाचार्यशिष्यं "वंदे हं लोहिच्चं" इति क्रिया । किम्भूतम्? सुष्ठु विज्ञातं नित्या-ऽनित्यं येन स तथाविधस्तम् । किं विज्ञातम्?, विशेषणान्यथाऽनुपपत्तेः वस्तु इति गम्यते, यथा 'सवत्सा धेनुः' इत्युक्ते गौः, वडवाया विशेषणायोगादिति । तच्च वस्तु सचेतना-ऽचेतनम् । तत्र सचेतनमात्मा, चेतनत्वाद्यपेक्षया नित्यः, नारक-तिर्यङ्-नरा-ऽमरपर्यायापेक्षया चानित्यः । एवमचेतनमप्यण्वादि विज्ञातव्यम्, तथाहि–परमाणुरजीवत्व-मूर्त्तत्वादिभिर्नित्यः, वर्णादिभिर्द्व्यणुकादिभिस्त्वनित्य इति । उक्तं च—

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । सत्योश्चित्यपचित्योराकृति-जातिव्यवस्थानात् ॥ १ ॥
[ ] इति ।

अत्र बहु वक्तव्यम्, तच्च नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात्, गमनिकामात्रप्रधानोऽयमारम्भ इति । अनेन न्यायवेदित्वमाह । 'सुविज्ञातसूत्रा-ऽर्थधारकम्' इत्यनेन त्वोघत एव स्वभ्यस्तसूत्रा-ऽर्थधारकमिति । 'सद्भावोद्भावनातथ्यम्' इत्यनेन सम्यक्प्ररूपकत्वमाहेति गाथार्थः ॥ ४० ॥

अत्थ-महत्थक्खाणी सुसमणवक्खाणकहणणेव्वाणी ।
पयतीए महुरवाणी पयओ पणमामि दूसगणी ॥ ४१ ॥

अत्थमहत्थक्खाणी० गाहा । व्याख्या—लोहित्यशिष्यं 'प्रयतः' सन् अनुत्सृष्टप्रयत्नपरः सन्नित्यर्थः, प्रणमामि दुष्यगणिनमिति क्रिया । किम्भूतम्? 'अर्थ-महार्थखानिं' खानिरिव खानिः, अर्थ-महार्थानां खानिः अर्थ-महार्थखानिः तम् । तत्र भाषाभिधेया अर्थाः, विभाषा-वार्तिकगोचरा महार्था इति । सुश्रमणव्याख्यानकथने निर्वृतिर्यस्य स तथाविधस्तम् । तत्र व्याख्यानं—प्रतीतम्, कथनं—संशये सति विनेयप्रश्नोत्तरकालभावि व्याकरणम्, अथवा व्याख्यानम्—अनुयोगः, कथनं—ओघतो धर्मस्य, धर्मकथेत्यर्थः । 'प्रकृत्या' स्वभावेन 'मधुरवाचं' मधुरगिरमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

सुकुमाल-कोमलतले तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पादे पावयणीणं पाडिच्छगसएहि पणिवइए ॥ ४२ ॥

सुकुमालकोमल० गाहा । निगदसिद्धा ॥ ४२ ॥ एवमावलिकाक्रमेण महापुरुषाणां स्तवमभिधाय साम्प्रतं सामान्येनैव श्रुतधरनमस्कारं प्रतिपिपादयिषुराह —

जे अण्णे भगवंते कालियसुयआणुओगिए धीरे ।
ते पणमिऊण सिरसा णाणस्स परूवणं वोच्छं ॥ ४३ ॥

॥ थेरावलिया सम्मत्ता ॥

जे अन्ने भगवंते० गाहा । व्याख्या—'ये चान्ये' अतीता भाविनश्च 'भगवन्तः' श्रुतरत्नोपपेतत्वात् समग्रैश्वर्यादिमन्त इत्यर्थः । कालिकश्रुतानुयोगिनः 'धीराः' सत्त्ववन्तस्तान् प्रणम्य 'शिरसा' उत्तमाङ्गेन 'ज्ञानस्य' आभिनिबोधिकादेः प्ररूपणं वक्ष्ये । क एवमाह? दूष्यगणिशिष्यो देववाचक इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

इदं च पञ्चप्रकारं ज्ञानम्, एतत्प्रतिपादकं चाध्ययनं योग्येभ्य एव विनेयेभ्यो दीयते, नायोग्येभ्य इत्यतो योग्या-ऽयोग्यविभागोपदर्शनार्थमेव तावदिदमाह —

[सुत्तं ७]

सेलघण १ कुडग २ चालणि ३ परिपूणग ४ हंस ५ महिस ६ मेसे ७ य ।
मसग ८ जलूग ९ बिराली १० जाहग ११ गो १२ भेरि १३ आभीरी ॥ ४४ ॥

सा समासओ तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—जाणिया १ अजाणिया २ दुव्वियड्ढा ३ ।

७. सेलघण० गाहा । व्याख्या—आह—शुभाध्ययनप्रदानाधिकारे समभावव्यवस्थितानां सर्वसत्त्वहितायोद्यतानां महापुरुषाणामलं योग्या-ऽयोग्यविभागनिरीक्षणेन, न हि परहितार्थमिह महादानोद्यता महीयां-

सोऽर्थिगुणमपेक्ष्य प्रदानक्रियायां प्रवर्त्तन्ते दयालव इति, अत्रोच्यते, ननु यत एव शुभाध्ययनप्रदानाधिकारे समभावव्यवस्थिताः सर्वसत्त्वहितायोद्यता महापुरुषाश्च गुरवः अत एव योग्या-ऽयोग्यविभागोपदर्शनं न्याय्यम्, मा भूदयोग्यप्रदाने तत्सम्यग्नियोगाक्षमार्थिजनानर्थ इति, "न खलु तत्त्वतोऽनुचितप्रदानेनाऽऽयासहेतुनाऽविवेकिनमर्थिजनमनुयोजयन्तोऽप्यनवगतपरार्थसम्पादनोपाया भवन्ति दयालवः" इत्यवधूय मिथ्याभिमानमालोच्यतामेतदिति । आह—क इवायोग्यप्रदाने दोषः? इति, उच्यते, स ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पमनेकभवशतसहस्रोपात्तानिष्टदुष्टाष्टकर्मराशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमपीदमयोग्यत्वादवाप्य न विधिवदासेवते, लाघवं चास्य समापादयति, ततो विधिसमासेवकः कल्याणमिव महदकल्याणमासादयति । उक्तं च —

आमे घडे निहित्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्सं अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥

[ ] इत्यादि ।

अतोऽयोग्यदाने दातृकृतमेव वस्तुतस्तस्य तदकल्याणमित्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः—तत्राधिकृतगाथां प्रपञ्चत आवश्यकानुयोगे व्याख्यास्यामः । इह पुनः स्थानाशून्यार्थं भाष्यगाथाभिर्व्याख्यायत इति —

'उल्लेऊण न सक्को' गज्जइ इय मुग्गसेलओ रन्ने । तं संवट्टगमेहो सोउं तस्सोवरिं पडइ ॥ १ ॥
'रविओ' त्ति ठिओ मेहो 'उल्लो मि? ण व?' त्ति गज्जइ य सेलो । 'सेलसमं गाहेस्सं' निव्विज्जइ गाहगो एवं ॥२॥
आयरिए सुत्तम्मि य परिवाओ, सुत्त-अत्थपलिमंथो । अन्नेसिं पि य हाणी, पुट्ठा वि न दुद्धया वंझा ॥ ३ ॥
वुट्ठे वि दोणमेहे ण कण्हभोमाउ लोट्टए उदगं । गहण-धरणासमत्थे इय देयमछित्तिकारिम्मि ॥ ४ ॥
भाविय इयरे य कुडा, अपसत्थ-पसत्थभाविया दुविहा । पुप्फाईहि पसत्था, सुर-तेल्लाईहिं अपसत्था ॥ ५ ॥
वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थ वम्मा य होंति अग्गेज्झा । अपसत्थ अवम्मा वि य, तप्पडिवक्खा भवे गेज्झा ॥६॥
कुप्पवयण-ओसन्नेहिं भाविया एवमेव भावकुडा । संविग्गेहिं पसत्था वम्माऽवम्मा य तह चेव ॥ ७ ॥
जे पुण अभाविया खलु ते चतुधा, अधविमो गमो अन्नो । छिद्दकुड भिन्न खंडे सगले य परूवणा तेसिं ॥ ८ ॥
सेले य छिड्ड चालिणि मिहो कहा सोउमुट्ठियाणं तु । छिड्डाऽऽह 'तत्थ विट्ठो सुमरिंसु, सरामि णेदाणिं' ॥ ९ ॥
'एगेण विसइ बीएण णोइ कण्णेण' चालणी आह । 'धन्न त्थ' आह सेलो 'जं पविसति नीति वा तुज्झं' ॥१०॥
तावसखउरकढिणयं चालणिपडिवक्खि ण सवइ दवं पि । परिपूणगम्मि य गुणा गलंति, दोसा य चिट्ठंति ॥११॥
सव्वन्नुप्पामन्ना दोसा हु न संति जिणमते केई । जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा ॥ १२ ॥
अंबत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीरमुदगम्मि । हंसो मोत्तूण जलं आवियइ पयं, तह सुसीसो ॥ १३ ॥
सयमवि न पियइ महिसो, ण य जूहं पियइ लोलियं उदगं । विग्गह-विकहाहि तहा अथक्कपुच्छाहि य कुसीसो ॥१४॥
अवि गोपयम्मि वि पिए सुढिओ तणुयत्तणेण तोंडस्स । न करेइ कलुसतोयं मेसो, एवं सुसीसो वि ॥ १५ ॥
मसउव्व तुदं जच्चादिएहिं निच्छुब्भए कुसीसो उ । जलुगा व अदूमिंतो पियइ सुसीसो वि सुयणाणं ॥ १६ ॥
छड्डेउं भूमीए खीरं जह पियइ दुट्ठमज्जारी । परिसुट्ठियाण पासे सिक्खइ एवं विणयभंसी ॥ १७ ॥
पाउं थोवं थोवं खीरं पासाइं जाहओ लिहइ । एमेव जियं काउं पुच्छइ मइमं, न खिज्जेइ ॥ १८ ॥
अण्णो दोज्झिहि कल्लं, णिरत्थयं किं वहामि से चारिं? । चउचरणगवी उ मता, अवण्ण हाणी य बडुगाणं ॥ १९ ॥

मा मे होज्ज अवण्णो, गोवज्झा, मा पुणो व न दलिज्जा । वयमवि दोज्झामो पुणो, अणुग्गहो अन्नदूढे वि ॥ २० ॥
सीसा पडिच्छगाणं भरो त्ति, ते वि य हु सीसगभरो त्ति । ण करेंति सुत्तहाणी, अन्नत्थ वि दुल्लभं तेसिं ॥ २१ ॥
कोमुदिया १ संगामिय २ उब्भूतियगा ३ उ तिण्णि भेरीओ । कण्हस्साऽऽसी उ तया, असिवोवसमी चउत्थी उ ॥ २२ ॥
सक्कपसंसा, गुणगाहि केसवा, णेमिवंद, सुणदंता । आसरयणस्स हरणं, कुमारभंगे य, पुयजुज्झं ॥ २३ ॥
णेहि जिओ मि त्ति अहं, असिवोवसमीइ संपयाणं च । छम्मासियघोमणया पसमइ, ण य जायए अण्णो ॥ २४ ॥
आगंतु वाधिखोभे, महिड्ढि मोल्लेण, कंथ, दंडणता । अट्ठम आराहण, अन्न भेरि, अन्नस्स ठवणं च ॥ २५ ॥
सुक्कं तया अगहिते, दुपरिग्गहियं कयं तया, कलहो । पिट्टण, अइचिर, विक्किय गतेसु चोरा य, ऊणग्घं ॥ २६ ॥
मा णिण्हव इय दातुं, उवजुंजिय देहि, किं विचिंतेसि ? । विच्चामेलियदाणे किलम्मसी तं, चऽहं चेव ॥ २७ ॥
भणिया जोग्गा-ऽजोग्गा सीसा गुरवो य, तत्थ दोण्हं पि । वेयालियगुण-दोसो, जोगो जोगस्स आसेज्जा ॥ २८ ॥
[विशेषा. गा. १४५५-८२, कल्पभा. गा. ३३५-६१]

एवं तावद् विभागतो योग्या-ऽयोग्यविनेयविभागोपदर्शनं कृत्वा साम्प्रतं सामान्येन पर्षदं प्ररूपयन्नाह—

सा समासओ तिविहा पन्नत्तेत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या—'सा' पर्षत् 'समासतः' संक्षेपेण 'त्रिविधा' त्रिप्रकारा 'प्रज्ञप्ता' प्ररूपिता । कैः ? तीर्थकर-गणधरैरिति गम्यते । 'तद्यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः । 'ज्ञिका' इति, अत्र "ज्ञा अवबोधने" इत्यस्य "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" [पा. ३. १. १३५] इति कप्रत्ययः, "आतो लोप इटि च क्ङिति" [पा. ६. ४. ६४] इत्याकारलोपः; परगमनम्, टाप्, जानातीति ज्ञा, कप्रत्ययः, "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" [पा. ७. ३. ४४] इति इत्त्वम्, 'ज्ञिका' परिज्ञानवती । न ज्ञिका 'अज्ञिका' तद्विलक्षणा । 'दुर्विदग्धा' मिथ्यावलेपगर्भा । तत्थिमा जाणिया —

गुण-दोसविसेसण्णू, अणभिग्गहिया य कुस्सुति-मएसु । एसा जाणगपरिसा, गुणतत्तिल्ला अगुणवज्जा ॥ १ ॥
[कल्पभा. गा. ३६५]

इमा तु अयाणिया —

पगतीमुद्ध अयाणिय, मिगछावय-सीह-कुक्कुडयभूया । रयणमिव असंठविया, सुहसन्नप्पा गुणसमिद्धा ॥ २ ॥
[कल्पभा. गा. ३६७]

इमा पुण दुव्वियड्ढिया —

किंचिम्मत्तग्गाही १ पल्लवगाही २ य तुरियगाही ३ य । दुवियड्ढिया उ एसा भणिया तिविहा भवे परिसा ॥ ३ ॥
[कल्पभा. गा. ३६९]

साम्प्रतमिष्टदेवतास्तवादिसम्पादितसकलसौविहित्यो देववाचकोऽधिकृताध्ययनविषयभूतस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां कुर्वन्निदमाह —

८. णाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा—आभिणिबोहियणाणं १ सुयणाणं २ ओहिणाणं ३ मणपज्जवणाणं ४ केवलणाणं ५ ।

८. णाणं पंचविहं पण्णत्तं इत्यादि सूत्रम्। अस्य व्याख्या–ज्ञातिः ज्ञानम्, "कृत्यल्युटो बहुलम्" [पा. ३. ३. ११३] इतिवचनाद् भावसाधनः, संविदित्यर्थः। ज्ञायते वाऽनेनेति ज्ञानम्, तदावरणक्षयोपशमादेव। ज्ञायतेऽस्मिन्निति क्षयोपशमे सति ज्ञानम्। आत्मैव विशिष्टक्षयोपशमयुक्तः जानातीति वा ज्ञानं तदेव, स्वविषयसंवेदनरूपत्वात् तस्य। 'पञ्चविध'मित्यत्र पञ्चेति सङ्ख्यावाचकः, विधानं विधेति, अत्र "डुधाञ् धारण-पोषणयोः" [पा. धातु. १०९२] इत्यस्यानुबन्धलोपे कृते विपूर्वस्य स्त्रियां वर्त्तमानायां "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" [पा. ३. ३. १०४] इति वर्त्तमाने "आतश्चोपसर्गे" [पा. ३. १. १३६] इत्यनेन अङ्प्रत्ययः, अनुबन्धलोपे कृते "आतो लोप इटि च क्ङिति" [पा. ६. ४. ६४] इत्यनेन चाकारलोपे कृते परगमने च "अजाद्यतष्टाप्" [पा. ४. १. ४] इति टाप् प्रत्ययः, अनुबन्धलोपः, परगमनं विधा, पञ्च विधा अस्येति समासः "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" [पा. १. २. ४७] इति वर्त्तमाने "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" [पा. १. २. ४८] इत्यनेन ह्रस्वत्वम्, सुअम्भावः 'पञ्चविधं' पञ्चप्रकारमिति, एतदेवमनवद्यम्, कुव्याख्याव्यपोहार्थं चैतदेवं निदर्शितमित्यलं प्रसङ्गेन। 'प्रज्ञप्तं' प्ररूपितम्। कैः?– अर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतो गणधरैरिति। उक्तं च—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं। सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥१॥

[आव. नि. गा. ९२] इति।

अनेन स्वमनीषिकाव्यपोहमाह। अथवा 'प्राज्ञाप्तं' प्राज्ञात्–तीर्थकरादाप्तमिति–प्राप्तं गौतमादिभिः। अथवा प्राज्ञैराप्तं प्राज्ञाप्तं गौतमादिभिः। प्रज्ञया वाऽऽप्तं प्रज्ञाद्वाऽऽप्तं प्रज्ञाप्तम्, सर्वैरेव संसारिभिरिति। तथाहि–न प्रज्ञाविकलैरिदमवाप्यत इति भावनीयम्। 'तद्यथा' इति उदाहरणोपन्यासार्थः। आभिनिबोधिकज्ञानं १ श्रुतज्ञानं २ अवधिज्ञानं ३ मनःपर्यायज्ञानं ४ केवलज्ञानं ५ चेति।

तत्राऽर्थाभिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः, स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकम्। अभिनिबोधे वा भवं तेन वा निर्वृत्तं तन्मयं तत्प्रयोजनं वेत्याभिनिबोधिकम्। अभिनिबुध्यते वा तदित्याभिनिबोधिकं–अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितरूपत्वाद् अभेदोपचारादित्यर्थः। अभिनिबुध्यते [वा]ऽनेनेत्याभिनिबोधिकम्, तदावरणक्षयोपशम इति भावार्थः। अभिनिबुध्यतेऽस्मादिति वा आभिनिबोधिकम्, तदावरणकर्मक्षयोपशम एव। अभिनिबुध्यतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशमे सति आभिनिबोधिकम्। आत्मैव वा अभिनिबोधोपयोगपरिणामानन्यत्वादभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम्। आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम् १।

तथा श्रूयते इति श्रुतं–शब्द एव, भावश्रुतकारणत्वात्, कारणे कार्योपचारादिति भावार्थः। श्रूयते वा अनेनेति श्रुतम्, तदावरणक्षयोपशम इति हृदयम्। श्रूयतेऽस्मादिति वा श्रुतम्, तदावरणक्षयोपशम एव। श्रूयतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशमे सति श्रुतम्। आत्मैव श्रुतोपयोगपरिणामानन्यत्वाच्छृणोतीति श्रुतम्। श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् २।

तथाऽवधीयतेऽनेनेत्यवधिः। अवधीयत इति–अधोऽधो विस्तृतं परिच्छिद्यते मर्यादया वेति अवधिः, अवधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम एव, तदुपयोगहेतुत्वादित्यर्थः। अवधीयतेऽस्मादित्यवधिः, तदावरणकर्मक्षयोपशम एव। अवधीयतेऽस्मिन्निति वेत्यवधिः, भावार्थः पूर्ववदेव। अवधानं वा अवधिः, विषयपरिच्छेदनमित्यर्थः। अवधिश्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानम् ३।

तथा मनःपर्यायज्ञानमित्यत्र परि–सर्वतोभावे, अयनं अयः गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अयः पर्ययः,

पर्ययनं पर्यय इत्यर्थः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, स एव ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानम् । अथवा मनसः पर्याया मनःपर्यायाः, [पर्यायाः–] धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनादिप्रकारा इत्यनर्थान्तरम्, तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, इदं चार्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमेवेति भावार्थः ४ ।

तथा केवलम्–असहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम् । शुद्धं वा केवलम्, आवरणमलकलङ्काङ्करहितम् । सकलं वा केवलम्, तत्प्रथमतयैवाशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशमिति हृदयम् । ज्ञेयानन्तत्वादनन्तं वा केवलम्, यथावस्थिताशेषभूत-भवद्-भाविभावस्वभावावभासीति भावना । केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम् ५ ॥

आह–एषां ज्ञानानामित्थमुपन्यासे किं प्रयोजनम् ? इति, उच्यते, इह स्वामि-काल-कारण-विषय-परोक्षत्वसाधर्म्यात् तद्भावे च शेषज्ञानभावादादावेव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोरुपन्यास इति । तथाहि–य एव मतिज्ञानस्य स्वामी स एव श्रुतज्ञानस्य, "जत्थ मतिणाणं तत्थ सुयणाणं" [सुत्तं ४४] इति वचनात् । तथा यावान् मतिज्ञानस्य स्थितिकालस्तावानेवेतरस्य, प्रवाहापेक्षया अतीता-ऽनागत-वर्तमानः सर्व एव, अप्रतिपतितैकजीवापेक्षया च षट्षष्टिसागरोपमाण्यधिकानीति । उक्तं च भाष्यकारेण—

दो वारे विजयाइसु गयस्स, तिन्नऽच्चुते अहव ताइं । अइरेगं नरभवियं, णाणाजीवाण सव्वद्धं ॥१॥

[विशेषा. गा. ४३६]

यथा मतिज्ञानं क्षयोपशमहेतुकं तथा श्रुतज्ञानमपि । यथा च मतिज्ञानमादेशतः सर्वद्रव्यादिविषयमेवं श्रुतज्ञानमपि । यथा मतिज्ञानं परोक्षं एवं श्रुतज्ञानमपीति । तथा मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोरेव अवध्यादिज्ञानभावादिति । आह–एवमपि मतिज्ञानमादौ किमर्थम् ? इति, उच्यते, मतिपूर्वकत्वाद् विशिष्टमत्यंशरूपत्वाद्वा श्रुतस्याऽऽदौ मतिज्ञानमिति । उक्तं च—

मतिपुव्वं जेण सुयं तेणाऽऽदीए मती, विसिट्ठो वा । मतिभेओ चेव सुयं, तो मतिसमणंतरं भणियं ॥१॥

[विशेषा. गा. ८६]

इति पर्याप्तं विस्तरेण ।

तथा काल-विपर्यय-स्वामि-लाभसाधर्म्यान्मति-श्रुतज्ञानानन्तरमवधिज्ञानस्योपन्यासः । तथाहि–यावानेव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोः स्थितिकालः प्रवाहापेक्षयाऽप्रतिपतितैकसत्त्वाधारापेक्षया च तावानेवावधिज्ञानस्यापि अतः स्थितिसाधर्म्यम् । तथा यथैव मतिज्ञान-श्रुतज्ञाने विपर्ययज्ञाने भवत एवमिदं मिथ्यादृष्टेर्विभङ्गज्ञानं भवतीति विपर्ययसाधर्म्यम् । तथा य एव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोः स्वामी स एवावधिज्ञानस्यापि भवतीति स्वामिसाधर्म्यम् । तथा विभङ्गज्ञानिनस्त्रिदशादेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युगपदेव ज्ञानत्रयलाभसम्भवाल्लाभसाधर्म्यम् ।

तथा छद्मस्थ-विषय-भावा-ऽध्यक्षसाधर्म्यादवधिज्ञानानन्तरं मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासः । तथाहि–यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति एवं मनःपर्यायज्ञानमपि छद्मस्थस्यैवेति छद्मस्थसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयमेवं मनःपर्यायज्ञानमपि सामान्येनेति विषयसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति भावसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं प्रत्यक्षमेवं मनःपर्यायज्ञानमपीत्यध्यक्षसाधर्म्यम् ।

तथा मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानस्योपन्यासः, तस्य सकलज्ञानोत्तमत्वात् । तथाऽप्रमत्तयतिस्वामिसा-

धर्म्यात्, तथाहि–यथा मनःपर्यायज्ञानमप्रमत्तयतेरेव भवति एवं केवलज्ञानमप्यप्रमत्तभावयतेरेवेति साधर्म्यम्। तथाऽवसानलाभाच्च, यो हि सर्वज्ञानानि समासादयति स खल्वन्त एवेदमाप्नोतीति भावना। विपर्ययाभावसाधर्म्याच्च, तथाहि–यथा मनःपर्यायज्ञानं विपर्ययज्ञानं न भवति एवं केवलज्ञानमपीति साधर्म्यम्। अलं विस्तरेणेति सूत्रार्थः ॥

९. तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–पच्चक्खं च परोक्खं च।

९. तं समासतो दुविहं पन्नत्तमित्यादि सूत्रम्। अस्य व्याख्या–'तत्' पञ्चप्रकारं ज्ञानं 'समासतः' सङ्क्षेपेण 'द्विविधम्' इति द्वे विधे अस्येति 'द्विविधं' द्विप्रकारं 'प्रज्ञप्तं' प्ररूपितम्। 'तद्यथा' इति उदाहरणोपन्यासार्थम्। प्रत्यक्षं च परोक्षं च। तत्र प्रत्यक्षमित्यत्र जीवोऽक्षः। कथम्? "अशू व्याप्तौ"[1] [पा. धातु. १२६५] इत्यस्य ज्ञानात्मनाऽश्नुतेऽर्थानित्यक्षः, व्याप्नोतीत्यर्थः, "अश भोजने" [पा. धातु. १५२४] इत्यस्य वाऽश्नाति सर्वार्थानिति अक्षः, पालयति भुङ्क्ते चेत्यर्थः, तमक्षं प्रति वर्त्तत इति प्रत्यक्षम्, आत्मनोऽपरनिमित्तमवध्याद्यतीन्द्रियमिति भावार्थः। 'चशब्दः' स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपरः। विचित्रतां चास्योत्तरत्र वक्ष्यामः। 'परोक्षं च' इत्यत्र अक्षस्य–आत्मनः द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्तन्ते, पृथगित्यर्थः, तेभ्योऽक्षस्य यद् ज्ञानमुत्पद्यते तत् परोक्षम्, परनिमित्तत्वात्, धूमादग्निज्ञानवत्। अथवा परैः उक्षा–सम्बन्धनं विषय-विषयिभावलक्षणमस्येति परोक्षम्। चशब्दः पूर्ववत्। एवमन्यत्राप्युत्प्रेक्ष्य चशब्दार्थो वक्तव्य इति सूत्रार्थः ॥

एवं भेदद्वये उपन्यस्ते सति अनयोः सम्यक् स्वरूपमनवगच्छन्नाह चोदकः—

१०. से किं तं पच्चक्खं? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–इंदियपच्चक्खं च णोइंदियपच्चक्खं च।

१०. से किं तं पच्चक्खं? इत्यादि सूत्रम्। अस्य व्याख्या–सेशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातोऽथशब्दार्थे वर्तते, स च प्रक्रियादिवाचकः। यथोक्तम्–"अथ प्रक्रिया-प्रश्ना-ऽऽनन्तर्य-मङ्गलोपन्यास-प्रतिवचन-समुच्चयेषु" इहोपन्यासार्थः। 'किम्' इति परिप्रश्ने। 'तत्' प्रागुपदिष्टं प्रत्यक्षमिति सूत्रार्थः ॥ एवं चोदकेन प्रश्ने कृते सति न्यायप्रदर्शनार्थमाचार्यश्चोदकोक्तानुवादद्वारेण निर्वचनमभिधातुकाम आह–

पच्चक्खं दुविहं पन्नत्तमित्यादि सूत्रम्। एवमन्यत्रापि यथायोगं प्रश्न-निर्वचनसूत्राणां पातनिका कार्येति। प्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा–इन्द्रियप्रत्यक्षं च नोइन्द्रियप्रत्यक्षं च। इन्द्रियाणां प्रत्यक्षं इन्द्रियप्रत्यक्षम्। इहेन्द्रः–स्वरूपतो ज्ञानाद्यैश्वर्ययुक्तत्वादात्मा, तस्येदमिन्द्रियम्। तच्च द्विधा–द्रव्येन्द्रियं च भावेन्द्रियं च। तत्र पुद्गलैर्बाह्यसंस्थाननिर्वृत्तिः कदम्बपुष्पाद्याकृतिविशिष्टोपकरणं च द्रव्येन्द्रियम्, "निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्" [तत्त्वा. २. १७] इति वचनात्। श्रोत्रेन्द्रियादिविषया सर्वात्मप्रदेशानां तदावरणक्षयोपशमलब्धिरुपयोगश्च भावेन्द्रियम्, "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" [तत्त्वा. २. १८] इति वचनात्। इन्द्रियप्रत्यक्षं न भवतीति नोइन्द्रियप्रत्यक्षम्, नोशब्दः सर्वप्रतिषेधे ॥

११. से किं तं इंदियपच्चक्खं? इंदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा–सोइंदियपच्चक्खं १ चक्खिंदियपच्चक्खं २ घाणिंदियपच्चक्खं ३ रसणेंदियपच्चक्खं ४ फासिंदियपच्चक्खं ५।

१ "व्याप्तौ सङ्घाते च" इति पाणिनिधातुपाठे ॥

से त्तं इंदियपच्चक्खं ।

११. से किं तमित्यादि । अथ किं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ?, इन्द्रियप्रत्यक्षं पञ्चविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमित्यादि । श्रोत्रेन्द्रियस्य श्रोत्रेन्द्रियप्रधानं वा प्रत्यक्षं श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षम्, श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तमित्यर्थः । एवं शेषेष्वपि वक्तव्यम् । एतच्चोपचारतः प्रत्यक्षम्, न परमार्थतः । कथं ज्ञायते ? इति चेत्, सूत्रप्रामाण्यात् । वक्ष्यति च–"परोक्खं दुविहं पन्नत्तं, तंजहा–आभिणिबोहियणाणपरोक्खं च सुयणाणपरोक्खं च" [सुत्तं ४३] । न च मति-श्रुताभ्यामिन्द्रिय-मनोनिमित्तमन्यदस्ति यत् प्रत्यक्षमञ्जसा भवेत्, भावे च षष्ठज्ञानप्रसङ्गाद् विरोध इति, तस्मात् परोक्षमेवेदं तत्त्वत इति ।

आह–इह लोके 'लिङ्गजं परोक्षम्' इति प्रतीतमिति, उच्यते, इह यदिन्द्रिय-मनोभिर्बाह्यलिङ्गप्रत्ययमुत्पद्यते तदेकान्तेनैवेन्द्रियाणामात्मनश्च परोक्षम्, परनिमित्तत्वात्, धूमादग्निज्ञानवदिति, अतः परोक्षमिति प्रतीतिः । यत् पुनः साक्षादिन्द्रिय-मनोनिमित्तं तत् तेषामेव प्रत्यक्षम्, अलिङ्गत्वात्, आत्मनोऽवध्यादिवत्, न त्वात्मनः, आत्मनस्तु तत् परोक्षमेव, परनिमित्तत्वात्, लैङ्गिकवत् । इन्द्रियाणामपि तदुपचारतः प्रत्यक्षम्, न परमार्थतः, कथम् ?, अचेतनत्वादिति, अत्र बहु वक्तव्यं तच्चान्यत्र वक्ष्यामः, मा भूत् प्रथमग्रन्थ एव प्रतिपत्तिगौरवमित्यलं विस्तरेण ।

आह–स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणीन्द्रियाणीति क्रमः, अयमेव च ज्यायान्, पूर्वपूर्वलाभ एवोत्तरोत्तरलाभात्, अतः किमर्थमुत्क्रमः ?, उच्यते, पश्चानुपूर्व्यादिन्यायज्ञापनार्थं स्पष्टसंवेदनद्वारेण सुखप्रतिपत्त्यर्थं चेति ।

इह मनोज्ञानमपीन्द्रियज्ञानतुल्ययोग-क्षेममेव द्रष्टव्यम्, तथा चाभिनिबोधिकज्ञानप्ररूपणायां प्रवक्ष्यत इति । "से त्तं इंदियपच्चक्खं" तदेतदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ॥

१२. से किं तं णोइंदियपच्चक्खं? णोइंदियपच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा–ओहिणाणपच्चक्खं १ मणपज्जवणाणपच्चक्खं २ केवलणाणपच्चक्खं ३ ।

१२. से किं तं णोइंदियपच्चक्खं ? इत्यादि । अथ किं तद् नोइन्द्रियप्रत्यक्षम् ? । नोइन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–अवधिज्ञानप्रत्यक्षमित्यादि ॥

१३. से किं तं ओहिणाणपच्चक्खं ? ओहिणाणपच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–भवपच्चतियं च खयोवसमियं च । दोन्हं भवपच्चतियं, तं जहा–देवाणं च णेरतियाणं च । दोन्हं खयोवसमियं, तं जहा–मणुस्साणं च पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं च ।

१३. से किं तं इत्यादि सूत्रम् । अथ किं तदवधिज्ञानप्रत्यक्षम् ?, अवधिज्ञानप्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा–भवप्रत्ययं च १ क्षायोपशमिकं च २ । तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः, नारकादिजन्मेति भावः, भव एव प्रत्ययः–कारणं यस्य तद् भवप्रत्ययम् १ । 'चः' पूर्ववत् । तथा क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ, ताभ्यां निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम् २ । तत्र यद् येषां भवति तत् तेषामुपदर्शयन्नाह—

दोण्हमित्यादि । 'द्वयोः' जीवसमूहयोः भवप्रत्ययम् । तद्यथा–देवानां नारकाणां च । तत्र दीव्यन्तीति देवाः, निरुपमक्रीडामनुभवन्तीत्यर्थः, तेषाम् । तथा नरान् कायन्तीति नरकाः, योग्यतया शब्दयन्तीत्यर्थः, तेषु

भवा नारकास्तेषाम् । अत्राह–नन्ववधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते, देव-नारकभवश्चौदयिकः, तत् कथं तद् भवप्रत्ययम्? इति, उच्यते, क्षायोपशमिकमेव तत्, किन्तु स देव-नारकभवे अवश्यम्भावी, पक्षिणां गगनगमनलब्धिनिमित्तवदित्यतो भवप्रत्यय इति । उक्तं च—

उदय-क्खय-क्खयोवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं भवं च भावं च संपप्प ॥१॥१।
[विशेषा. गा. ५७५, धर्मसं. गा. ९४९]

तथा द्वयोः क्षायोपशमिकम्, तद्यथा–मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनीनां च । न चैषामवश्यन्तया भवतीत्यतः सत्यपि क्षायोपशमिकत्वे भवप्रत्ययाद् भिन्नमिदमिति २ । तत्त्वतस्तु सर्वमेव क्षायोपशमिकमिति ॥ अधुना क्षयोपशमस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

१४. को हेऊ खायोवसमियं? खायोवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुप्पज्जति । अहवा गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिणाणं समुप्पज्जति ।

१४. को हेऊ इत्यादि । 'को हेतुः' किंनिमित्तं–किंविषयं क्षायोपशमिकम्? यद्वा किंकारणं क्षायोपशमिकम्? उच्यते इत्यध्याहारः । अत्र निर्वचनमभिधातुकाम आह–क्षायोपशमिकं 'तदावरणीयानाम्' अवधिज्ञानावरणीयानां कर्मणां 'उदीर्णानां' उदयावलिकामाप्तानां 'क्षयेण' प्रलयेन 'अनुदीर्णानां च' आत्मनि व्यवस्थितानां 'उपशमेन' उदयनिरोधेन अवधिज्ञानमुत्पद्यत इति सम्बन्धः, यत एवमतः कर्मोदया-ऽनुदयविषयम् । अथवा येन तदावरणीयानां कर्मणां उदीर्णानां क्षयेणानुदीर्णानामुपशमेनावधिज्ञानमुत्पद्यते तेन क्षायोपशमिकमित्युच्यत इति ।

स च क्षयोपशमो विशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण १ तथा गुणप्रतिपत्तितश्च २ भवति । तत्रान्तरेण–यथाऽऽकाशे घनघनपटलाच्छादितमूर्तेर्दिवसकरमण्डलस्य कथञ्चिदुपजातरन्ध्रेण विनिर्गतास्तिमिरनिचयमलयहेतवः किरणाः स्वावपातदेशास्पदं द्रव्यमुद्योतयन्ति तथा प्रकृतिभास्वरस्याऽऽत्मनो मिथ्यात्वादिजनितज्ञानावरणीयादिकर्ममलपटलतिमिरतिरस्कृतस्वभावस्यानादौ संसारे परिभ्रमतो यथाप्रवृत्त्योपजातावधिज्ञानावरणक्षयोपशमविवरस्यावधिज्ञानालोकः प्रसाधयति स्वकार्यमिति १ । गुणप्रतिपत्तितस्तु मूलगुणादिप्रतिपत्तेर्भवति । यत आह—

अथवा इत्यादि । 'अथवा' इति प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थम्, अन्तरेण प्रतिपत्तिमित्यस्मादिदं प्रकारान्तरमेव । गुणाः–मूलगुणादयस्तैः प्रतिपन्नः–गृहीतो गुणप्रतिपन्न इति, अनेन अतिशयपात्रतामाह, यतः पात्राश्रयिणो गुणाः । उक्तं च—

नोदन्वानर्थितामेति न चाम्भोभिर्न पूर्यते । आत्मा तु पात्रतां नेयः पात्रमायान्ति सम्पदः ॥ १ ॥ [ ]

अथवा प्राकृतशैल्या पूर्वापरनिपातकरणात् प्रतिपन्नगुणस्य 'अनगारस्य' न गच्छन्तीत्यगाः–वृक्षाः, तैः कृतमगारं–गृहम्, नास्यागारं विद्यत इत्यनगारः, परित्यक्तद्रव्य-भावगृह इत्यर्थः, तस्य प्रशस्ताध्यवसायस्य तदावरणकर्मक्षयोपशमे सत्यवधिज्ञानं समुत्पद्यते ॥ २ ॥

१५. तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा–आणुगामियं १ अणाणुगामियं २ वड्ढमाणयं ३ हायमाणयं ४ पडिवाति ५ अपडिवाति ६ ।

१५. **तं समासतो** इत्यादि। 'तद्' अवधिज्ञानं 'समासतः' सङ्क्षेपेण 'षड्विधं' षट्प्रकारं 'प्रज्ञप्तं' प्ररूपितम्। तद्यथा—'आनुगामुकं' अनुगमनशीलमानुगामुकम्, अवधिज्ञानिनं लोचनवद् गच्छन्तमनुगच्छतीति भावार्थः १। अनानुगामुकं नावधिज्ञानिनं गच्छन्तमनुगच्छति, सङ्कलाप्रतिबद्धप्रदीपवदिति हृदयम् २। वर्धते वर्द्धमानम्, तदेव वर्द्धमानकम्, संज्ञायां कन्, उत्पत्तिकालादारभ्य प्रवर्द्धमानम्, महेन्धननिबन्धनोत्पद्यमानानलज्वालाकलापवदिति भावना ३। 'हीयमानकं' हीयते हीयमानम्, तदेव हीयमानकम्, कुत्सायां कन्, उदयसमयसमनन्तरमेव हीयमानं दग्धेन्धनप्रायधूमध्वजार्चिर्व्रातवदित्यर्थः ४। 'प्रतिपाति' प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, कथञ्चिदापादितजात्यमणिप्रभाजालवदिति गर्भार्थः ५। 'अप्रतिपाति' न प्रतिपाति अप्रतिपाति, क्षार-मृत्पुटपाकाद्यापाद्यमानजात्यमणिकिरणनिकरवदित्यभिप्रायः। आह—आनुगामुका-ऽनानुगामुकभेदद्वय एव शेषभेदानां वर्द्धमानकादीनामन्तर्भावात् किमर्थमुपन्यासः? इति, उच्यते, सत्यप्यन्तर्भावे तद्विकल्पद्वयादेव तेषामपरिच्छित्तेः, तथाहि—नाऽऽनुगामुकमनानुगामुकं चेत्युक्ते वर्द्धमानकादयो गम्यन्त इति, अज्ञातज्ञापनार्थं च शास्त्रप्रवृत्तिरित्यलं प्रसङ्गेन ॥

१६. से किं तं आणुगामियं ओहिणाणं? आणुगामियं ओहिणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंतगयं च मज्झगयं च।

१६. **से किं तमाणुगामियमि**त्यादि। अथ किं तदानुगामुकमवधिज्ञानम्? आनुगामुकमवधिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अन्तगतं च १ मध्यगतं च २। इहान्तः—पर्यन्तो भण्यते, वनान्तवत्, गतं स्थितमित्यनर्थान्तरम्, अन्ते गतं 'अन्तगतं' अन्ते स्थितम्। तच्च फड्डकावधिलाभादात्मप्रदेशान्ते, सर्वात्मप्रदेशक्षयोपशमभावतो वा औदारिकशरीरान्ते, एकदिगुपलम्भाद्वा तदुद्योतितक्षेत्रान्ते गतमन्तगतम्। इह चाऽऽत्मप्रदेशान्तगतमुच्यते, सकलजीवोपयोगे सत्यपि साक्षादेकदेशेनैव दर्शनात्; औदारिकशरीरान्तगतमपि, औदारिकशरीरैकदेशेनैव दर्शनाच्च; यथोक्तक्षेत्रान्तगतं त्ववधिमतस्तदन्तवृत्तेरिति भावना १। चशब्दः पूर्ववत्। 'मध्यगतं' इह मध्यः प्रसिद्ध एव दण्डादिमध्यवत्, मध्ये गतं 'मध्यगतं' मध्ये स्थितम्। तच्च सर्वत्र फड्डकविशुद्धेरात्ममध्ये सर्वात्ममध्ये, सर्वात्मनो वा क्षयोपशमयोगाविशेषेऽपि औदारिकशरीरमध्योपलब्धेः तन्मध्ये, सर्वदिगुपलम्भाद्वा तत्प्रकाशितक्षेत्रमध्ये गतं मध्यगतम्। अत्र चात्ममध्यगतमभिधीयते, सर्वात्मोपयोगे सत्यपि मध्य एव फड्डकसद्भावात् साक्षान्मध्यभागेनोपलब्धेः; औदारिकशरीरमध्यगतमपि, औदारिकशरीरमध्यभागेनैवोपलब्धेः; प्रस्तुतक्षेत्रमध्यगतं पुनरवधिज्ञानिनस्तत्र मध्ये भावादिति भावार्थः। चशब्दः पूर्ववत् ॥

१७. से किं तं अंतगयं? अंतगयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—पुरओ अंतगयं १ मग्गओ अंतगयं २ पासतो अंतगयं ३।

१८. से किं तं पुरतो अंतगयं? पुरतो अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलिअं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पदीवं वा पुरओ काउं पणोल्लेमाणे पणोल्लेमाणे गच्छेज्जा। से त्तं पुरओ अंतगयं १।

१७–१८. **से किं त**मित्यादि प्रायः सुगमम्। नवरं उल्का—दीपिका। चुडली—पर्यन्तज्वलिता तृणपूलिका। अलातम्—उल्मुकम्। मणिः—पद्मरागादिः। प्रदीपशिखादि ज्योतिः, मल्लिकाद्याधारोऽग्निः। प्रदीपः—प्रतीतः। 'पुरतः' अग्रतो हस्त-दण्डादौ गृहीत्वा "पणोल्लेमाणे पणोल्लेमाणे" त्ति प्रेरयन् प्रेरयन् 'गच्छेद्'

यायात् "से त्तं" तदेतत् पुरतोऽन्तगतम् । अयमत्र भावार्थः—स हि गच्छन् उल्कादिभ्यः सकाशात् पुरत एव पश्यति, नान्यत्र, एवं यतोऽवधिज्ञानाद् विविधक्षयोपशमनिमित्तत्वाद् देशपुरत एव पश्यति, नान्यत्र, तत् पुरतोऽन्तगतमभिधीयते इत्येतावतांऽशेन दृष्टान्त इत्येवं सर्वत्र योज्यम् १ ॥

१९. से किं तं मग्गओ अंतगयं? मग्गओ अंतगयं से जहाणामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे गच्छेज्जा । से त्तं मग्गओ अंतगयं २ ।

२०. से किं तं पासओ अंतगयं? पासओ अंतगयं से जहाणामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छेज्जा । से त्तं पासओ अंतगयं ३ । से त्तं अंतगयं ।

१९–२०. से किं तमित्यादि निगदसिद्धम् । नवरं "अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे" त्ति अनुकर्षन् अनुकर्षन् २ । एवं "परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे" त्ति परिकर्षन् परिकर्षन् ३ ॥

२१. से किं तं मज्झगयं? से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा मत्थए काउं गच्छेज्जा । से त्तं मज्झगयं ।

२१. अथ किं तन्मध्यगतमित्यादि निगदसिद्धमेव । नवरं 'मस्तके' शिरसि कृत्वा गच्छेत् तदेतन्मध्यगतमिति । एतदुक्तं भवति—स तेन मस्तकस्थेन सर्वत्र तत्प्रकाशितमर्थं पश्यति, परमेवं यतोऽवधिज्ञानात् तदुद्योतितार्थावगमस्तन्मध्यगतमित्येतावतांऽशेन दृष्टान्त इति ॥ इह व्याख्यानार्थं सम्यगनवगच्छन्नाह चोदकः—

२२. अंतगयस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो? पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पुरओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, पासओ अंतगएणं ओहिणाणेणं पासओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मज्झगएणं ओहिणाणेणं सव्वओ समंता संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ । से त्तं आणुगामियं ओहिणाणं ।

२२. अंतगतस्स य इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत् "मज्झगतेण"मित्यादि । मध्यगतेनावधिज्ञानेन 'सर्वतः' सर्वासु दिग्विदिक्षु 'समन्तात्' सर्वैरात्मप्रदेशैर्विशुद्धस्पर्धकैर्वा सङ्ख्येयानि वा असङ्ख्येयानि वा योजनानि जानाति पश्यति । अथवा 'स मन्ता' अवधिज्ञान्येव गृह्यते, सङ्ख्येयानि चेत्यत्र सङ्ख्यायन्त इति सङ्ख्येयानि—एकादीनि शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तानि गृह्यन्ते, तत ऊर्ध्वमसङ्ख्येयानि, तदेतदानुगामुकमवधिज्ञानमिति १ ॥

२३. से किं तं अणाणुगामियं ओहिणाणं? अणाणुगामियं ओहिणाणं से जहा-

णामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेहिं परिपेरंतेहिं परिघोलेमाणे परिघोलेमाणे तमेव जोइट्ठाणं पासइ, अण्णत्थ गए ण पासइ, एवमेव अणाणुगामियं ओहिणाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, अण्णत्थ गए ण पासइ । से त्तं अणाणुगामियं ओहिणाणं २ ।

२३. से किं तमित्यादि प्रकटार्थमेव । नवरं 'ज्योतिःस्थानं' अग्निस्थानं कृत्वा तस्यैव ज्योतिःस्थानस्य पर्यन्तेषु, किमेकदिग्गतेषु ? नेत्याह–परिः–सर्वतोभावे, ततश्च परिपर्यन्तेषु परिपर्यन्तेषु 'परिघूर्णन्' परिभ्रमन् इत्यर्थः, तदेव 'ज्योतिःस्थानं' ज्योतिःप्रकाशितं क्षेत्रमित्यर्थः पश्यति, अन्यत्र गतो न पश्यति, तदुपलम्भाभावात्, तदावरणक्षयोपशमस्य तत्क्षेत्रसम्बन्धसापेक्षत्वात्, एवमेव अनानुगामुकमवधिज्ञानं यत्रैव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्यवस्थितः सन् सङ्ख्येयानि वाऽसङ्ख्येयानि वा योजनानि सम्बद्धानि वा असम्बद्धानि वा जानाति पश्यति, नान्यत्र, तत्क्षेत्रसम्बन्धसापेक्षत्वादवधिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य । तदेतदनानुगामुकम् २ ॥

२४. से किं तं वड्ढमाणयं ओहिणाणं ? वड्ढमाणयं ओहिणाणं पसत्थेसु अज्झवसाणट्ठाणेसु वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स विसुज्झमाणस्स विसुज्झमाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही वड्ढइ ।

जावतिया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स ।
ओगाहणा जहन्ना ओहीखेत्तं जहन्नं तु ॥ ४५ ॥

सव्वबहुअगणिजीवा णिरंतरं जत्तियं भरेज्जंसु ।
खेत्तं सव्वदिसागं परमोही खेत्तनिद्दिट्ठो ॥ ४६ ॥

अंगुलमावलियाणं भागमसंखेज्ज, दोसु संखेज्जा ।
अंगुलमावलियंतो, आवलिया अंगुलपुहत्तं ॥ ४७ ॥

हत्थम्मि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउयम्मि बोद्धव्वो ।
जोयण दिवसपुहत्तं, पक्खंतो पण्णवीसाओ ॥ ४८ ॥

भरहम्मि अद्धमासो, जंबुद्दीवम्मि साहिओ मासो ।
वासं च मणुयलोए, वासपुहत्तं च रुयगम्मि ॥ ४९ ॥

संखेज्जम्मि उ काले दीव-समुद्दा वि होंति संखेज्जा ।
कालम्मि असंखेज्जे दीव-समुद्दा उ भइयव्वा ॥ ५० ॥

काले चउण्ह वुड्ढी, कालो भइयव्वु खेत्तवुड्ढीए ।
वुड्ढीए दव्व-पज्जव भइयव्वा खेत्त-काला उ ॥ ५१ ॥
सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरयं हवइ खेत्तं ।
अंगुलसेढीमेत्ते ओसप्पिणिओ असंखेज्जा ॥ ५२ ॥

से त्तं वड्ढमाणयं ओहिणाणं ३ ।

२४. **से किं त**मित्यादि । अथ किं तद् वर्द्धमानकम्? 'वर्द्धमानकं' वर्द्धमानमेव वर्द्धमानकं प्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्य वर्त्तमानचारित्रस्य । इहौघतो द्रव्यलेश्योपरञ्जितं चित्तमध्यवसायस्थानमुच्यते, अस्य चानवस्थितत्वात् तद्द्रव्यसाचिव्ये सति विशेषभावाद् बहुत्वमिति । तत्र 'प्रशस्तेषु' इत्यनेनाप्रशस्तकृष्णलेश्यादिद्रव्योपरञ्जितव्यवच्छेदमाह । अध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्य, प्रशस्ताध्यवसायस्येत्यर्थः, 'सर्वतः' समन्तादवधिः परिवर्द्धत इति योगः, अनेनाविरतसम्यग्दृष्टेरपि वर्द्धमानक उक्तो वेदितव्यः । वर्त्तमानचारित्रस्येत्यनेन तु देशविरत-सर्वविरतयोरिति । 'विशुध्यमानस्य' तदावरणकर्ममलविगमादुत्तरोत्तरं शुद्धिमनुभवतः अविरतसम्यग्दृष्टेरेव, अनेनावधेः शुद्धिजन्यत्वमाह, विशुध्यमानचारित्रस्य देश-सर्वविरतस्य सर्वतः समन्तादवधिः परिवर्द्धत इति, ततः परिवर्द्धत इत्युक्तम् ॥ अथ सर्वजघन्योऽयं कियत्प्रमाणो भवति? इति प्रश्नसम्भवे क्षेत्रतः प्रतिपादयन्नाह- -

जावइया॰ गाहा । व्याख्या-'यावती' यावत्प्रमाणा, आहारयतीत्याहारकः, त्रिसमयं आहारकः त्रिसमयाहारकः, त्रीन् वा समयानिति तस्य । सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मस्तस्य । पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवः, वनस्पतिविशेष इत्यर्थः, तस्य । अवगाहन्ते यस्यां प्राणिनः सा अवगाहना, तनुरित्यर्थः । 'जघन्या' सर्वस्तोका । अवधेः क्षेत्रं अवधिक्षेत्रम् । 'जघन्यं' सर्वस्तोकम् । तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, तस्य चैवं प्रयोगः-अवधिक्षेत्रं जघन्यमेतावदेवेति । अत्र च सम्प्रदायसमधिगम्योऽयमर्थः—

योजनसहस्रमानो मत्स्यो मृत्वा स्वकायदेशे यः । उत्पद्यते हि[1] सूक्ष्मः पनकत्वेनेह स ग्राह्यः ॥ १ ॥
संहृत्य चाऽऽद्यसमये स ह्यायामं करोति च प्रतरम् । सङ्ख्यातीताख्याङ्गुलविभागबाहल्यमानं तु ॥ २ ॥
स्वकतनुपृथुत्वमात्रं दीर्घत्वेनापि जीवसामर्थ्यात् । तमपि द्वितीयसमये संहृत्य करोत्यसौ सूचिम् ॥ ३ ॥
सङ्ख्यातीताख्याङ्गुलविभागविष्कम्भमाननिर्दिष्टाम् । निजतनुपृथुत्वदैर्घ्या तृतीयसमये तु संहृत्य ॥ ४ ॥
उत्पद्यते च पनकः स्वदेहदेशे स सूक्ष्मपरिणामः । समयत्रयेण तस्याऽवगाहना यावती भवति ॥ ५ ॥
तावज्जघन्यमवधेरालम्बनवस्तुभाजनं क्षेत्रम् । इदमित्थमेव मुनिगणसुसम्प्रदायात् समवसेयम् ॥ ६ ॥

अत्र कश्चिदाह-किमिति महान् मत्स्यः? किं वा तस्य तृतीयसमये निजदेहदेशे समुत्पादः त्रिसमयाहारकत्वं वा कल्प्यते? इति, अत्रोच्यते, स एव हि महामत्स्यस्त्रिभिः समयैरात्मानं सङ्क्षिपन् प्रयत्नविशेषात् सूक्ष्मावगाहनो भवति, नान्यः; प्रथम-द्वितीयसमययोश्चातिसूक्ष्मः, चतुर्थादिषु चातिस्थूरः, त्रिसमयाहारक एव च तद्योग्य इत्यतस्तद्ग्रहणमिति । अन्ये तु व्याचक्षते-त्रिसमयाहारक इति आयामविष्कम्भ संहारसमयद्वयं सूचिसंहरणोत्पादसमयश्चेते त्रयः समयाः, विग्रहाभावाच्चाऽऽहारक एतेष्वित्यत उत्पादसमय एव त्रिसमयाहारकः सूक्ष्मः पनकजीवो जघन्यावगाहनश्च, अतस्तत्प्रमाणं जघन्यमवधिक्षेत्रमिति, एतच्चायुक्तम्, त्रिसमयाहारकत्वस्य पनकजीवविशेषणत्वात्, मत्स्यायाम-विष्कम्भसंहरणसमयद्वयस्य च पनकसमयायोगात् त्रिसमयाहारकत्वाख्यविशेषणानुपपत्तिप्रसङ्गात् । अलं

१. हि पनकः सूक्ष्मत्वेनेह मलयगिरिवृत्तौ ॥

प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥४५॥ एवं तावज्जघन्यमवधिक्षेत्रमुक्तम् । इदानीमुत्कृष्टविभागमभिधातुकाम आह—

सव्वबहुअगणिजीवा० गाहा । व्याख्या— सर्वेभ्यः—विवक्षितकालावस्थायिभ्योऽनलजीवेभ्य एव बहवः सर्वबहवः, न भूत-भविष्यद्भ्यो नापि शेषजीवेभ्यः । कुतः ? असम्भवात् । अग्नयश्च ते जीवाश्च अग्निजीवाः, सर्वबहवश्च ते अग्निजीवाश्च सर्वबह्वग्निजीवाः । निरन्तरमिति क्रियाविशेषणम् । 'यावद्' यावत्परिमाणं 'भृतवन्तः' व्याप्तवन्तः 'क्षेत्रम्' आकाशम् । एतदुक्तं भवति–नैरन्तर्येण विशिष्टसूचिरचनया यावद् भृतवन्त इति । भूतकालनिर्देशश्च 'अजितस्वामिकाल एव प्रायः सर्वबहवोऽनलजीवा भवन्त्यस्यामवसर्पिण्याम्' इत्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थम् । इदमनन्तरोदितविशेषणं क्षेत्रमेकदिक्कमपि भवति अत आह–सर्वदिक्कम्, अनेन सूचीपरिभ्रमणप्रमितमेवाह । परमश्चासाववधिश्च परमावधिः क्षेत्रम्–अनन्तरव्यावर्णितं प्रभूतानलजीवमितमङ्गीकृत्य निर्दिष्टः क्षेत्रनिर्दिष्टः प्रतिपादितो गणधरादिभिरिति, ततश्च पर्यायेण परमावधेरेतावत् क्षेत्रमित्युक्तं भवति । अथवा सर्वबह्वग्निजीवा निरन्तरं यावद् भृतवन्तः क्षेत्रं सर्वदिक्कं एतावति क्षेत्रे यानि अवस्थितानि द्रव्याणि तत्परिच्छेदसामर्थ्ययुक्तः परमावधिः क्षेत्रमङ्गीकृत्य निर्दिष्टः, भावार्थस्तु पूर्ववदेव । अयमक्षरार्थः । इदानीं साम्प्रदायिक प्रतिपाद्यते–तत्र सर्वबह्वग्निजीवा बादराः प्रायोऽजितस्वामितीर्थकरकाले भवन्ति, तदारम्भकपुरुषबाहुल्यात्, सूक्ष्माश्चोत्कृष्टपदिनस्तत्रैवावरुध्यन्ते, ततश्च सर्वबहवो भवन्ति, तेषां च बुद्ध्या षोढाऽवस्थानं कल्प्यते–एकैकक्षेत्रप्रदेशे एकैकजीवावगाहनया सर्वतश्चतुरस्रो घनः प्रथमम् १, स एव जीवः स्वावगाहनया द्वितीयम् २, एवं प्रतरोऽपि द्विभेदः ३–४, श्रेण्यपि द्विभेदा ५–६, तत्राऽऽद्याः पञ्च प्रकारा अनादेशाः, क्षेत्रस्याल्पत्वात् क्वचित् समयविरोधाच्च, षष्ठप्रकारस्तु सूत्रादेश इति । ततश्चासौ श्रेणी अवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु शरीरपर्यन्तेन भ्राम्यते, सा चासङ्ख्येयानलोके लोकमात्रान् क्षेत्रविभागान् व्याप्नोति एतावदवधिक्षेत्रमुत्कृष्टमिति । सामर्थ्यमङ्गीकृत्यैवं प्ररूप्यते, एतावति क्षेत्रे यदि द्रष्टव्यं भवति पश्यति, न त्वलोके द्रष्टव्यमस्तीति गाथार्थः ॥४६॥ एवं तावज्जघन्यमुत्कृष्टं चावधिक्षेत्रमभिहितम् । इदानीं विमध्यमप्रतिपिपादयिषया एतावत्क्षेत्रोपलम्भे चैतावत्कालोपलम्भः तथा एतावत्कालोपलम्भे चैतावत्क्षेत्रोपलम्भ इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय चेदं गाथाचतुष्टयं जगाद शास्त्रकारः—

अंगुलमावलियाणं० गाहा । **हत्थम्मि०** गाहा । **भरहम्मि०** गाहा । **संखेज्जम्मि उ०** गाहा । आसां व्याख्या–'अङ्गुलं' क्षेत्राधिकारात् प्रमाणाङ्गुलं गृह्यते, अवध्यधिकाराच्चोच्छ्रयाङ्गुलमित्येके । आवलिका–असङ्ख्येयसमयसङ्घातोपलक्षितः कालः, उक्तं च–"असंखेयाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगा आवलिग त्ति वुच्चइ" [अनुयो० सूत्रं १३८ पत्रं १७८–२] अङ्गुलं च आवलिका च अङ्गुला-ऽऽवलिके तयोरङ्गुला-ऽऽवलिकयोर्भागमसङ्ख्येयं पश्यति अवधिज्ञानी । एतदुक्तं भवति–क्षेत्रमङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रं पश्यन् कालत आवलिकाया असङ्ख्येयमेव भागं पश्यति अतीतमनागतं चेति । क्षेत्र-कालदर्शनमुपचारेणोच्यते, अन्यथा हि क्षेत्रव्यवस्थितानि दर्शनयोग्यानि द्रव्याणि तत्पर्यायांश्च विवक्षितकालान्तर्वर्तिनः पश्यति, न तु क्षेत्र-कालौ, मूर्त्तद्रव्यालम्बनत्वात्, एवं सर्वत्र भावना द्रष्टव्या । क्रिया च गाथाचतुष्टयेऽप्यध्याहार्या । तथा 'द्वयोः' अङ्गुला-ऽऽवलिकयोः सङ्ख्येयौ भागौ पश्यति, अङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्रं क्षेत्रं पश्यन्नावलिकायाः सङ्ख्येयभागमेव पश्यतीत्यर्थः । तथा अङ्गुलं पश्यन् क्षेत्रत आवलिकान्तः पश्यति, भिन्नामावलिकामित्यर्थः । तथा कालत आवलिकां पश्यन् क्षेत्रतोऽङ्गुलपृथक्त्वं पश्यति, पृथक्त्वं हि द्विप्रभृतिरानवभ्यः । इति प्रथमगाथार्थः ॥४७॥

द्वितीयगाथाव्याख्या—'हस्ते' इति हस्तविषयः क्षेत्रतोऽवधिः कालतो मुहूर्त्तान्तः पश्यति, भिन्न-

मुहूर्त्तमित्यर्थः, अवध्यवधिमतोरभेदोपचारादवधिः पश्यतीत्युच्यते। तथा कालतः 'दिवसान्तः' भिन्नदिवसं पश्यन् क्षेत्रतः 'गव्यूते' इति गव्यूतविषयो बोद्धव्यः। तथा योजनविषयः क्षेत्रतोऽवधिः कालतो दिवसपृथक्त्वं पश्यति। तथा 'पक्षान्तः' भिन्नं पक्षं पश्यन् कालतः पञ्चविंशतिं योजनानि पश्यतीति द्वितीयगाथार्थः ॥ ४८ ॥

तृतीयगाथाव्याख्या— 'भरते' इति क्षेत्रतो भरतविषयेऽवधौ कालतः अर्द्धमास उक्तः। एवं जम्बूद्वीपविषये चावधौ साधिको मासः। वर्षं च मनुष्यलोकविषयेऽवधाविति, मनुष्यलोकः खल्वर्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रपरिमाणः। वर्षपृथक्त्वं च रुचकाख्यबाह्यद्वीपविषयेऽवधाववगन्तव्यमिति तृतीयगाथार्थः ॥ ४९ ॥

चतुर्थगाथाव्याख्या—सङ्ख्यायत इति सङ्ख्येयः, स च संवत्सरलक्षणोऽपि भवति। तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि? सङ्ख्येयो वर्षसहस्रात् परतोऽपि गृह्यत इति, तस्मिन् सङ्ख्येये कलनं कालः तस्मिन् काले अवधेर्गोचरे सति क्षेत्रतस्तस्यैवावधेर्गोचरतया द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीप-समुद्रा अपि भवन्ति सङ्ख्येयाः। अपिशब्दाद् महानेकोऽपि तदेकदेशोऽपीति। तथा 'कालेऽसङ्ख्येये' पल्योपमादिलक्षणेऽवधेर्विषये सति तस्यैवासङ्ख्येयकालपरिच्छेदकस्यावधेः क्षेत्रतः परिच्छेद्यतया द्वीप-समुद्रास्तु भाज्याः कदाचिदसङ्ख्येया एव। यदा इह कस्यचिन्मनुष्यस्यासङ्ख्येयद्वीप-समुद्रविषयोऽवधिरुत्पद्यत इति, कदाचिन्महान्तः सङ्ख्येयाः, कदाचिदेकदेशः स्वयम्भूरमणतिरश्चोऽवधिर्विज्ञेयः, स्वयम्भूरमणविषयमनुष्यबाह्यावधेर्वा, योजनापेक्षया च सर्वपक्षेष्वसङ्ख्येयमेव क्षेत्रमिति गाथार्थः ॥ ५० ॥ एवं तावत् परिस्थूरन्यायमङ्गीकृत्य क्षेत्रवृद्ध्या कालवृद्धिरनियता, कालवृद्ध्या च क्षेत्रवृद्धिः प्रतिपादिता। साम्प्रतं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया यस्य वृद्धौ यस्य वृद्धिर्भवति यस्य वा न भवत्यमुमर्थमभिधित्सुराह —

काले० गाहा। व्याख्या—'काले' अवधिज्ञानगोचरे वर्द्धमाने 'चतुर्णां' द्रव्यादीनां वृद्धिर्भवति। कालस्तु 'भाज्यः' विकल्पयितव्यः क्षेत्रस्य वृद्धिः क्षेत्रवृद्धिः तस्यां क्षेत्रवृद्धौ सत्याम्, कदाचिद् वर्द्धते कदाचिन्नेति। कुतः? क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात्, कालस्य च स्थूलत्वात्। द्रव्य-पर्यायौ तु वर्द्धेते। सप्तम्यन्तता चास्य—

ए होइ अयारंते पयम्मि बीयाए बहुसु पुल्लिंगे। तइयाइसु छट्ठी-सत्तमीण एकम्मि महिलत्थे ॥ १ ॥

[ ]

अस्माल्लक्षणात् सिद्धेति। एवमन्यत्रापि प्राकृतशैल्या इष्टविभक्त्यन्तता पदानामवगन्तव्येति। तथा वृद्धौ च द्रव्यं च पर्यायश्च द्रव्य-पर्यायौ तयोर्वृद्धौ सत्यां 'भाज्यौ' विकल्पनीयौ क्षेत्र-कालावेव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, कदाचिदनयोर्वृद्धिर्भवति कदाचिन्नेति, द्रव्य-पर्याययोः सकाशात् परिस्थूरत्वात् क्षेत्र-कालयोरिति भावार्थः। द्रव्यवृद्धौ तु पर्याया वर्द्धन्त एव, पर्यायवृद्धौ च द्रव्यं भाज्यम्, द्रव्यात् पर्यायाणां सूक्ष्मत्वाद् एकस्मिन् भावे क्रमवर्त्तिनामपि च वृद्धिसम्भवात् कालवृद्ध्यभावो भावनीय इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ अत्र कश्चिदाह—जघन्य-मध्य-मोत्कृष्टभेदभिन्नयोरवधिज्ञानसम्बन्धिनोः क्षेत्र-कालयोरङ्गुला-ऽऽवलिकाऽसङ्ख्येयभागोपलक्षितयोः परस्परतः प्रदेश-समयसङ्ख्यया परिस्थूर-सूक्ष्मत्वे सति कियता भागेन हीना-ऽधिकत्वम्? इति, अत्रोच्यते, सर्वत्र प्रतियोगिनः खल्वावलिकाऽसङ्ख्येयभागादेः कालादसङ्ख्येयगुणं क्षेत्रम्। कुत एतत्? अत आह—

सहुमो य० गाहा। व्याख्या—सूक्ष्मश्च-श्लक्ष्णश्च भवति कालः, यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे समयाः प्रतिपत्रमसङ्ख्येयाः प्रतिपादिताः। तथापि ततः कालात् सूक्ष्मतरं भवति क्षेत्रम्। कुतः?, यस्मादङ्गुलश्रेणिमात्रे क्षेत्रे प्रदेशपरिमाणं प्रतिप्रदेशं समयगणनया अवसर्पिण्यः असङ्ख्येयास्तीर्थकृद्भिः प्रतिपादिताः। एतदुक्तं भवति—अङ्गुलश्रेणिमात्रक्षेत्रप्रदेशाग्रमसङ्ख्येयावसर्पिणीसमयराशिपरिमाणमिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

से त्तं इत्यादि, तदेतद् वर्द्धमानकं अवधिज्ञानमिति ३॥

२५. से किं तं हायमाणयं ओहिणाणं? हायमाणयं ओहिणाणं अप्पसत्थेहिं अज्झवसायट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही परिहायति । से त्तं हायमाणयं ओहिणाणं ४ ।

२५. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् हीयमानकम् ?, हीयमानकं कथञ्चिदवाप्तं सद् अप्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य सतोऽविरतसम्यग्दृष्टेः, 'वर्त्तमानचारित्रस्य' देशविरतादेः, 'संक्लिश्यमानस्य' बध्यमानकर्मसंसर्गादुत्तरोत्तरं संक्लेशमासादयत अविरतसम्यग्दृष्टेरेव, 'संक्लिश्यमानचारित्रस्य' देशविरतादेः, सर्वतः समन्तादवधिः परिक्षीयते । तदेतद् हीयमानकमवधिज्ञानमिति ४॥

२६. से किं तं पडिवाति ओहिणाणं ? पडिवाति ओहिणाणं जण्णं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं वा संखेज्जतिभागं वा वालग्गं वा वालग्गपुहत्तं वा लिक्खं वा लिक्खपुहत्तं वा जूयं वा जूयपुहत्तं वा जवं वा जवपुहत्तं वा अंगुलं वा अंगुलपुहत्तं वा पायं वा पायपुहत्तं वा वियत्थिं वा वियत्थिपुहत्तं वा रयणिं वा रयणिपुहत्तं वा कुच्छिं वा कुच्छिपुहत्तं वा धणुयं वा धणुयपुहत्तं वा गाउयं वा गाउयपुहत्तं वा जोयणं वा जोयणपुहत्तं वा जोयणसयं वा जोयणसयपुहत्तं वा जोयणसहस्सं वा जोयणसहस्सपुहत्तं वा जोयणसतसहस्सं वा जोयणसतसहस्सपुहत्तं वा जोयणकोडिं वा जोयणकोडिपुहत्तं वा जोयणकोडाकोडिं वा जोयणकोडाकोडिपुहत्तं वा उक्कोसेण लोगं वा पासित्ता णं पडिवएज्जा । से त्तं पडिवाति ओहिणाणं ५ ।

२६. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् प्रतिपात्यवधिज्ञानम् ?, प्रतिपात्यवधिज्ञानं "जण्ण"मिति 'यद्' अवधिज्ञानं 'जघन्येन' सर्वस्तोकतयाऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागमात्रं वा, उत्कर्षेण सर्वप्रचुरतया यावद् 'लोकं दृष्ट्वा' लोकमुपलभ्य तथाविधक्षयोपशमजन्यत्वात् प्रतिपतेत् न भवेदित्यर्थः, तदेतत् प्रतिपात्यवधिज्ञानमिति क्रिया। शेषं प्रायो निगदसिद्धम् । नवरं 'पृथक्त्वमिति' द्विप्रभृतिः आ नवभ्य इति सिद्धान्तपरिभाषा। तथा हस्तद्वयं कुक्षिरुच्यते। चत्वारो हस्ता धनुरिति । "से त्त"मित्यादि तदेतत् प्रतिपात्यवधिज्ञानम् ५॥

२७. से किं तं अपडिवाति ओहिणाणं ? अपडिवाति ओहिणाणं जेणं अलोगस्स एगमवि आगासपदेसं पासेज्जा तेण परं अपडिवाति ओहिणाणं । से त्तं अपडिवाति ओहिणाणं ६ ।

२७. से किं तमित्यादि । अथ किं तदप्रतिपात्यवधिज्ञानम् ?, "जेणं" ति 'येन' अवधिज्ञानेनालोकस्य सम्बन्धिनमेकमप्याकाशप्रदेशम्, अपिशब्दाद् बहून् वा 'पश्येत्' शक्त्यपेक्षयोपलभेत, एतावत्क्षयोशममप्रवं यत् 'तत ऊर्ध्वमिति' तत आरभ्याप्रतिपाति आ केवलप्राप्तेरवधिज्ञानमिति । अयमत्र भावार्थः–एतावत्क्षयोपशमसम्प्राप्तात्मा विनिहतप्रधानप्रतिपक्षयोधसङ्घात इव नरपतिर्न पुनः कर्मशत्रुणा परिभूयते, किं तर्हि ? समासादितैतावदालोक एवाप्रतिनिवृत्तः शेषमपि कर्मशत्रुं विनिर्जित्याऽऽप्नोति केवलराज्यश्रियमिति। लोका-ऽलोकविभागस्त्वयम्–

जीवादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥१॥
[ ]

"से त्त"मित्यादि तदेतदप्रतिपात्यवधिज्ञानमिति ६॥ व्याख्याताः षड् भेदाः । साम्प्रतं द्रव्यादिविषयापेक्षया भेदतोऽवधिज्ञानमेव निरूपयन्नाह—

२८. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अणंताणि रूविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ १ । खेत्तओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोए लोयमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ २ । कालओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ अतीतं च अणागतं च कालं जाणइ पासइ ३ । भावओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण वि अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणमणंतभागं जाणइ पासइ ४ ।

२८. तं समासओ इत्यादि । 'तद्' अवधिज्ञानं 'समासतः' सङ्क्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावत इति । तत्र द्रव्यतः "ण"मिति वाक्यालङ्कारे अवधिज्ञानी जघन्येनानन्तानि द्रव्याणि तैजस-भाषाद्रव्याणामपान्तरालवर्तीनि, यत उक्तम्-"तेया-भासादव्वाण अंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ ।" [आव. नि. गा. ३८] त्ति । उत्कृष्टतः सर्वरूपिद्रव्याणि बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नानि जानाति विशेषाकारेण, पश्यति सामान्याकारेण । आह-आदौ दर्शनं ततो ज्ञानमिति क्रमः तत् किमर्थमेनं परित्यज्य प्रथमं जानातीत्युक्तम् ?, अत्रोच्यते, इहावधिज्ञानाधिकारात् प्राधान्यख्यापनार्थमादौ जानातीत्युक्तम्, अवधिदर्शनस्य त्ववधि-विभङ्गसाधारणत्वात् पश्चात् पश्यतीति । अथवा सर्वा एव लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्योत्पद्यन्त इति, अवधेश्च लब्धित्वादित्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थमादौ जानातीत्याह, ततः क्रमेणोपयोगप्रवृत्तेः पश्यतीति १ । क्षेत्रतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागम्, उत्कृष्टतोऽसङ्ख्येयानि 'अलोके' केवलाकाशास्तिकाये शक्तिमपेक्ष्य लोकप्रमाणानि खण्डानि जानाति पश्यति २ । कालतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाऽऽवलिकासङ्ख्येयभागं उत्कृष्टतोऽसङ्ख्येया अवसर्पिण्युत्सर्पिणीरतीतं चानागतं च कालं जानाति पश्यतीति, भावार्थः प्राक् प्रतिपादित एव ३ । भावतोऽवधिज्ञानी जघन्येनानन्तानन्तान 'भावान्' पर्यायान्, आधारद्रव्यानन्तत्वात्, न तु प्रतिद्रव्यमिति, उत्कृष्टतोऽप्यनन्तान भावान् जानाति पश्यति, तेऽपि चोत्कृष्टपदिनः 'सर्वभावानां' सर्वपर्यायाणामनन्तभाग इति ४ ॥ इत्थमवधिज्ञानं भेदतोऽप्यभिधाय साम्प्रतं सङ्ग्रहगाथामाह--

२९. ओही भवपच्चतिओ गुणपच्चतिओ य वण्णिओ एसो ।
तस्स य बहू वियप्पा, दव्वे खेत्ते य काले य ॥ ५३ ॥

२९. ओही भव० इत्यादि । अस्य व्याख्या-अवधिर्भवप्रत्ययो गुणप्रत्ययश्च 'वर्णितः' व्याख्यातः 'एषः' अनन्तरम् । पाठान्तरं वा वर्णितो द्विविधः । 'तस्य' द्विविधस्यापि बहवो विकल्पाः । 'द्रव्ये' इति द्रव्यविषयाः

परमाणु-द्व्यणुकादिद्रव्यभेदात् । 'क्षेत्रतः' इति क्षेत्रविषया अङ्गुलासङ्ख्येयभागादिविशिष्टक्षेत्रभेदात् । 'कालतः' इति कालविषयाः आवलिकासङ्ख्येयभागाद्युपलक्षितकालभेदात् । चशब्दाद् भावविषयाश्च, वर्णाद्यनेकप्रकारत्वाद् भावानामिति गाथार्थः ॥५३॥ एवं तावदवधिज्ञानमभिधाय साम्प्रतं ये बाह्यावधयो ये चाभ्यन्तरावधयो भवन्ति तानुपदर्शयन्नाह—

णेरतिय-देव-तित्थंकरा य ओहिस्सऽबाहिरा होंति ।
पासंति सव्वओ खलु सेसा देसेण पासंति ॥५४॥

से त्तं ओहिणाणं ।

णेरइय० गाहा । व्याख्या—नारकाश्च देवाश्च तीर्थकराश्चेति समासः । चशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, अस्य च व्यवहितः प्रयोग इति दर्शयिष्यामः । एते नारकादयः 'अवधेः' अवधिज्ञानस्य न बाह्या अबाह्या भवन्ति । इदमत्र हृदयम्—अवध्युपलब्धक्षेत्रस्यान्तर्वर्तन्ते, सर्वतोऽवभासकत्वात्, प्रदीपवत्, अबाह्यावधय एव भवन्ति, नैषां बाह्यावधिर्भवतीत्यर्थः । तथा पश्यति 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च, खलुशब्दोऽप्येवकारार्थः, स चावधारणे, सर्वास्वेव दिक्ष्विति । आह—'अवधेरबाह्या भवन्ति' इत्यस्मादेव सर्वत इत्यस्य सिद्धत्वात् सर्वतोग्रहणमतिरिच्यते? इति, अत्रोच्यते, नन्वभ्यन्तरत्वे सत्यपि न सर्वे सर्वतः पश्यन्ति, दिगन्तरालादर्शनाद्, अवधेर्विचित्रत्वात्, अतो नातिरिच्यत इति । 'शेषाः' तिर्यग्-नराः 'देशेनेति' एकदेशेन पश्यन्ति, अत्रेष्टितोऽवधारणविधिः, शेषा एव देशतः पश्यन्ति, न तु देशत एवेति गाथार्थः ॥ अथवाऽन्यथा व्याख्यायते—एवं तावदवधिज्ञानमभिधाय साम्प्रतं ये नियतावधयो ये चानियतावधयो भवन्ति तान प्रतिपादयन्नाह—

नेरइय० गाहा । व्याख्या— नारका देवास्तीर्थकरा एवावधेरबाह्या भवन्ति । किमुक्तं भवति?—नियतावधयो भवन्ति, नियमेनैषामवधिर्भवतीत्यर्थः, तेन चावधिना पश्यन्ति सर्वत एव, न पुनर्देशतोऽपि । अत्राऽऽह—'पश्यन्ति सर्वत एव' इत्येतावदेवास्तु, 'अवधेरबाह्या भवन्ति' इत्येतत् त्वनर्थकम्, नियतावधित्वस्यार्थसिद्धत्वात्, तथा चोक्तम्—"द्वयोर्भवप्रत्ययः, तद्यथा—देवानां च नारकाणां च" [सुत्त १३] इति, अतोऽर्थगम्यमेवैषां नियतावधित्वम्, तीर्थकृतामपि प्रसिद्धतरपारभविकावधिसमन्वागमादेव नियतावधित्वसिद्धिरिति, अत्रोच्यते, नियतावधित्वे सिद्धेऽपि न सर्वकालावस्थायित्वसिद्धिरित्यतस्तत्प्रदर्शनार्थम् 'अवधेरबाह्या भवन्ति' इति सदाऽवधिज्ञानवन्तो भवन्ति इति ज्ञापनार्थत्वाददुष्टम् । यद्येवं तीर्थकृतां सर्वकालावस्थायित्वं विरुध्यत इति, न, छद्मस्थकालस्यैव विवक्षितत्वात्, अलं विस्तरेण । शेषं पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

"से त्तं ओहिणाणं" ति तदेतदवधिज्ञानम् ॥

३०. [१] से किं तं मणपज्जवणाणं? मणपज्जवणाणे णं भंते! किं मणुस्साणं उप्पज्जइ अमणुस्साणं? गोयमा! मणुस्साणं, णो अमणुस्साणं । [२] जइ मणुस्साणं किं सम्मुच्छिममणुस्साणं गब्भवक्कंतियमणुस्साणं? गोयमा! णो सम्मुच्छिममणुस्साणं, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं । [३] जइ गब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणु-

स्साणं? गोयमा! कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। [४] जइ कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं असंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं? गोयमा! संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो असंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। [५] जइ संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं? गोयमा! पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। [६] जइ पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं मिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं सम्मामिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं? गोयमा! सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो सम्मामिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। [७] जइ सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं असंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं संजयासंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं? गोयमा! संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो असंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो संजयासंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। [८] जइ संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं पमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं? गोयमा! अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो पमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। [९] जइ अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं इड्ढिपत्तअपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तग-

संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अणिड्ढिपत्तअपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! इड्ढिपत्तअपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो अणिड्ढिपत्तअपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं मणपज्जवणाणं समुप्पज्जइ ।

३०. **से किं तं मणपज्जवणाण**मित्यादि । अथ किं तद् मनःपर्यायज्ञानम् ?, इदं प्राग्निरूपितशब्दार्थमेव । साम्प्रतमुत्पत्ति-स्वामिमार्गणाद्वारेण चिन्त्यते । तथा चाह–"मणपज्जवणाणे णं भंते" इत्यादि । मनःपर्यायज्ञानं "ण"मिति वाक्यालङ्कारे, 'भदन्त !' इति गुर्वामन्त्रणम्, 'किम्' इति परिप्रश्ने, मनुष्याणामुत्पद्यत इति प्रकटार्थम्, अमनुष्याणामुत्पद्यत इति । अमनुष्याः–देवादयः। अत्रेदं निर्वचनम्—"गौतम ! मणुस्साण"मित्यादि । आह–किमिदं अकाण्ड एव गौतमामन्त्रणम् ? ननु देववाचकरचितोऽयं ग्रन्थ इत्युच्यते, सत्यम्, किन्त्वेते पूर्वसूत्रालापका[1] एवार्थवशाद् विरचिताः, "जावइया तिसमयाहारगस्से" [आव. नि. गा. ३०]त्यादिनिर्युक्तिगाथासूत्रवद् इत्यतो न दोषः, तत्र च गौतमप्रश्न-भगवन्निर्वचनरूप एव ग्रन्थ इति । पुनरप्याह–ननु गौतमोऽपि सूत्रतः प्रवचनप्रणेतृत्वात् चतुर्दशपूर्वधरत्वात् सकलप्रज्ञापनीयभावपरिज्ञानयुक्तत्वात् सर्वज्ञकल्प एव, उक्तं च—

संखातीते वि भवे साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । ण य णं अणाइसेसी वियाणई एस छउमत्थो ॥ १ ॥
[आव. नि. गा. ५९०]

ततः किमर्थं पृच्छति ?, अत्रोच्यते, कुतश्चिदभिप्रायात्, जानान एव स्वशिष्येभ्यो वा प्ररूप्य तत्सम्प्रत्ययनिमित्तम्, सूत्ररचनाकल्पतो वेति न दोषः, कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः—गौतमेन पृष्टो भगवानाह–गौतम ! मनुष्याणामुत्पद्यते, नान्येषाम्, विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यभावात् । एवमन्यत्रापि भावना कार्येति । सम्मूर्च्छिममनुष्या गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यवान्तादिसमुद्भवाः । उक्तं च—"कहि णं भंते ! सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति ? गोयमा ! अंतोमणुस्सखेत्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाते अंतरदीवएसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा [पूएसु वा] सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा विगय[जीव]कलेवरेसु वा थी-पुरिससंजोगेसु वा गामणिद्धमणेसु वा णगरणिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु वा, एत्थ णं सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए असण्णी मिच्छद्दिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्तद्धाउया चेव कालं करेंति । [प्रज्ञा० पदं १ सूत्रं ३६ पत्रं ५० १] भरताद्याः पञ्चदश कर्मभूमयः। हैमवताद्यास्त्रिंशदकर्मभूमयः । त्रीणि योजनशतानि लवणजलधिजलमध्यमधिलङ्घ्य हिमवच्छिखरिपादप्रतिष्ठिता एकोरुकाद्याः षट्पञ्चाशदन्तर्द्वीपा भवन्ति । कर्मभूमौ जाताः कर्मभूमिजा इत्येवमक्षरगमनिका कार्या । सङ्ख्येयवर्षायुषः–पूर्वकोट्यादिजीविनः । असङ्ख्येयवर्षायुषः–पल्योपमादिजीविन इति ।

इह पर्याप्तिर्नाम–शक्तिः, सा च पुद्गलद्रव्योपचयादुत्पद्यते । सा पुनः षट्प्रकारा, तद्यथा–आहारपर्याप्तिः १ शरीरपर्याप्तिः २ इन्द्रियपर्याप्तिः ३ प्राणापानपर्याप्तिः ४ भाषापर्याप्तिः ५ मनःपर्याप्तिश्चेति ६ । तत्र पर्याप्तिः–

१ 'पूर्वसूत्रालापकाः' ज्ञानप्रवादाख्यपूर्वसत्का आलापका इत्यर्थः ॥

क्रियापरिसमाप्तिः । आत्मनः शरीरेन्द्रिय-प्राणापान-वाङ्-मनोयोग्यदलिकद्रव्याहरणक्रियापरिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः १। गृहीतस्य शरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्तिः शरीरपर्याप्तिः, संस्थानरचनाघटनमित्यर्थः २ । त्वगादीन्द्रियनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः ३। प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्यग्रहणशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः ४। भाषायोग्यद्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिः भाषापर्याप्तिः ५। मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरित्येके। आसां युगपदारब्धानामपि क्रमेण परिसमाप्तिः, उत्तरोत्तरसूक्ष्मतरत्वात् । अत्र चाऽऽद्याश्चतस्र एकेन्द्रियाणाम्, पञ्च विकलेन्द्रियाणाम्, षट् संज्ञिनाम् । उक्तं च—

आहार सरीरिंदिय पज्जत्ती आणुपाण भास मणे । चत्तारि पंच छ प्पि य एगिंदिय-विगल-सन्नीणं ॥ १ ॥
[बृहत्सं. गा. ३४९]

तत्र पर्याप्तकनामकर्मोदयाद् निष्पद्यमाननिष्पन्नपर्याप्तिमन्तः पर्याप्ताः, "अर्शआदिभ्यः" [पा. ५-२-१२७] इत्यच् मत्वर्थीयः, त एव पर्याप्तकाः । एवमपर्याप्तकनामकर्मोदयादनिष्पन्नपर्याप्तियोगादपर्याप्ताः, त एवापर्याप्तका इति। सम्यग्-अविपरीता दृष्टिर्येषां ते तथा। मिथ्या-विपरीता दृष्टिर्येषां ते तथा। सम्यग्मिथ्यादृष्टयस्तु प्रतिपत्त्यभिमुखा अन्तर्मुहूर्तमात्रं भवन्ति, न तु परित्यागाभिमुखाः । यत उक्तम्—

मिच्छत्ता संकंती अविरुद्धा होइ सम्म-मीसेसु । मीसाओ वा दोसु वि, सम्मा मिच्छं, न पुण मीसं ॥ १ ॥
[कल्पभा. गा. ११४]

संयताः-सकलचारित्रिणः । असंयताः-अविरतसम्यग्दृष्टयः । संयतासंयताः-देशविरतिमन्तः श्रावकाः। प्रमत्तसंयताः-गच्छवासिनः, कचिदनुपयोगसम्भवात् । अप्रमत्तसंयतास्तु-जिनकल्पिकादयः, सततोपयोगात्; अथवा गच्छवासिनः तन्निर्गताश्च परिणामविशेषतः प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्चावगन्तव्या इति। आमर्षौषध्यादिलब्धिलक्षणा ऋद्धयः, तासामन्यतरप्राप्तियोगात् प्राप्तर्द्धयः अवधिऋद्धिभावाद्वा । अन्ये त्ववधिऋद्धौ नियममभिदधति । इह च सर्वत्रैव मनुष्यादिषु विधाने सत्यर्थतो गम्यमानस्यापि विपक्षनिषेधस्याभिधानमव्युत्पन्नविनेयजनानुग्रहार्थमदुष्टमेवेति। तथाहि-सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रम्, त्रिविधाश्च विनेया भवन्ति, तद्यथा-उद्घटितज्ञाः १ मध्यमबुद्धयः २ प्रपञ्चधियः ३ श्चेत्यलं विस्तरेण । स्थितमेतत्-प्राप्तर्द्ध्यप्रमत्तसंयतानामुत्पद्यते ॥

३१. तं च दुविहं उप्पज्जइ, तं जहा-उज्जुमती य विउलमती य ।

३१. एतच्चोत्पद्यमानं द्विधोत्पद्यते, तद्यथा-ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च । मननं मतिः, संवेदनमित्यर्थः, ऋज्वी-सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः, 'घटोऽनेन चिन्तितः' इत्यध्यवसायनिबन्धनमनोद्रव्यप्रतिपत्तिरित्यर्थः । एवं विपुला-विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः, 'घटोऽनेन चिन्तितः, स च सौवर्णः पाटलिपुत्रकोऽद्यतनो महान्' इत्याद्यध्यवसायहेतुभूतमनोद्रव्यविज्ञप्तिरिति भावार्थः। अस्यां व्युत्पत्तौ स्वतन्त्रं ज्ञानमेव गृह्यत इति । अथवा ऋज्वी-सामान्यग्राहिणी मतिरस्य सोऽयं ऋजुमतिः, तद्वानेव गृह्यते। एवं विपुला-विशेषग्राहिणी मतिरस्येति विपुलमतिः, तद्वानेव । भावार्थः प्राग्वद्, उत्तरत्र वा वक्ष्यामः ॥

३२. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ णं उज्जुमती अणंते अणंतपदेसिए खंधे जाणइ पासइ, ते चेव विउलमती

१ दोण्णि वि, ण उ सम्मा परिणमे मीसं इति कल्पभाष्ये ॥

अब्भहियतराए जाणति पासति। खेत्तओ णं उज्जुमती अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिलाइं खुड्डागपयराइं उड्ढं जाव जोतिसस्स उवरिमतले तिरियं जाव अंतोमणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु सण्णीणं पंचेंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगते भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमती अड्ढाइज्जेहिं अंगुलेहिं अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं खेत्तं जाणति पासति। कालओ णं उज्जुमती जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं पि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं अतीयमणागयं वा कालं जाणति पासति, तं चेव विउलमती अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ। भावओ णं उज्जुमती अणंते भावे जाणइ पासइ सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ पासइ, तं चेव विउलमती अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ।

३२. तं समासतो इत्यादि। तत् समासतश्चतुर्विधं मज्ञप्तम्, तद्यथा—द्रव्यतः १ क्षेत्रतः २ कालतो ३ भावतः ४। तत्र द्रव्यतः "णं" इति पूर्ववत्, ऋजुमतिः 'अनन्तान्' अपरिमितान् 'अनन्तप्रदेशकान्' अनन्तपरमाण्वात्मकानित्यर्थः, 'स्कन्धान्' विशिष्टैकपरिणामपरिणतान् सञ्ज्ञिभिः पञ्चेन्द्रियैः पर्याप्तकैरर्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्त्तिभिर्मनस्त्वेन परिणामितानित्यर्थः, 'जानीते' इति मनःपर्यायज्ञानावरणक्षयोपशमस्य पटुत्वात् साक्षात्कारेण विशेषभूयिष्ठपरिच्छेदाज्जानीत इत्युच्यते। तदालोचितं पुनरर्थं घटादिलक्षणमध्यक्षतो न जानाति, किन्तु तत्परिणामान्यथाऽनुपपत्त्याऽनुमानतः पश्यतीत्युच्यते। उक्तं च भाष्यकारेण-"जाणति बज्झेऽणुमाणाओ" [विशेषा. गा. ८१४] त्ति। इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्, यतो मूर्त्तद्रव्यालम्बनमेवेदम्, मन्तारस्त्वमूर्त्तमपि धर्मास्तिकायादिकं मन्येरन्, न च तदनेन साक्षात्कर्त्तुं शक्यते। तथा चतुर्विधं च चक्षुर्दर्शनादि दर्शनमुक्तम्, अतो भिन्नालम्बनमेवेदमवसेयम्, तत्र च दर्शनसम्भवात् पश्यतीत्यपि न दुष्टम्, एकसमयमात्रापेक्षया तदनन्तरभावित्वाच्चोपन्यस्तमिति। ओघतो वा एकविधक्षयोपशमलब्धौ विविधोपयोगसम्भवाद् विशेष-सामान्यार्थापेक्षया जानाति पश्यति चेत्यदुष्टमित्यलं विस्तरेण। तानेव विपुलमतिः अभ्यधिकतरान् स्कन्धान् द्रव्यार्थतया वर्णादिभिश्च जानाति पश्यति च १। क्षेत्रत ऋजुमतिः अधो यावदस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरिमाधस्त्यानि क्षुल्लकप्रतराणीति। क्षुल्लकप्रतरपरिज्ञानार्थमिमं पण्णविज्जति—

तिरियलोकस्स उड्ढा-ऽहमट्ठारसजोयणसतियस्स बहुमज्झे एत्थ असंखेज्जंगुलभागमेत्ता लोगागासपतरा अलोगेण संवेढिया सव्वखुड्डगतरा खुड्डागपतर त्ति भण्णंति, ते य सव्वतो रज्जुप्पमाणा। तेसिं [जे] बहुमज्झे दो खुड्डागपतरा तेसिं [पि] बहुमज्झे जंबुद्दीवे रयणप्पभपुढवीबहुसमभूमिभागे मंदरस्स बहुमज्झे एत्थऽट्ठपएसो रुयगो, जत्तो दिसिविदिसिविभागो पवत्तो, एयं तिरियलोयमज्झं। एयातो तिरियलोयमज्झातो रज्जुप्पमाणखुड्डागपतरेहिंतो उवरिं तिरियं असंखेयंगुलभागवुड्ढी, उवरिहुत्तो वि अंगुलअसंखेयभागारोहो चेव, एवं तिरियमुवरिं च अंगुलासंखेयभागवुड्ढीए ताव लोगवुड्ढी णेयव्वा जाव उड्ढलोयमज्झं, ततो पुणो तेणेव कमेणं संवट्टो कायव्वो जाव उवरिमलोगंतो रज्जुप्पमाणो, तत्तो उड्ढलोगमज्झातो उवरिं हेट्ठा य कमेण खुड्डागपतरा भाणियव्वा जाव रज्जुप्पमाणा खुड्डागपयर त्ति। तिरियलोयमज्झरज्जुप्पमाणखुड्डागपतरेहिंतो वि हेट्ठा अंगुलस्स असंखेयभागवुड्ढी तिरियं, अहो-

अवगाहेण वि अंगुलस्स असंखेयभागो चेव, एवमहोलोगो वड्ढेयव्वो जाव अहोलोगंतो सत्तरज्जूओ, सत्तरज्जुपतरेहिंतो वि उवरिं कमेण खुड्डागपयरा भाणियव्वा जाव तिरियलोयमज्झा रज्जुप्पमाणा खुड्डागपयर त्ति ।

एवं खुड्डागपरूवणे कते इमं भण्णइ–"उवरिम" त्ति तिरियलोयमज्झाओ अहो जाव णव जोयणसयाणि ताव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीते उवरिमखुड्डागपतर त्ति भण्णंति, तदधो अधोलोगे जाव अहोलोगिया गाम त्ति एए हेट्ठिमखुड्डागपयर त्ति भण्णंति, रिजुमती अहो ताव पस्सति त्ति भणियं होइ । अहवा अहोलोगस्स उवरिमा खुड्डागपयरा तिरियलोगस्स य हेट्ठिमा खुड्डागपयर त्ति ते जाव पश्यतीत्यर्थः । अन्ने भणंति–"उवरिम" त्ति अधोलोगोवरि जे ते उवरिमा, के य ते ?, उच्यते, सव्वतिरियलोगवत्तिणो तिरियलोगस्स वा अहो नवजोयणसतवत्तिणो, ताण चेव जे हेट्ठिमा ते जाव पश्यतीत्यर्थः, इमं च ण घडति, अहोलोइयगाममणपज्जवणाणसंभवबाहल्लत्तणओ (? संभवपाहण्णत्तणओ) । उक्तं च––

इहाधोलौकिका ग्रामा न तिर्यग्लोकवर्त्तिनः । मनोगतांस्त्वसौ भावान् वेत्ति तद्वर्त्तिनामपि ॥१॥
[ ]

अलं प्रसङ्गेन । एवमूर्ध्वं यावज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितलम्, तिर्यग् यावद् 'अन्तोमनुष्यक्षेत्रे' मनुष्यलोकान्त इत्यर्थः । शेषं सुगमं यावत् "सण्णीणं पंचिंदियाणं" इत्यादि । तत्र संज्ञिनोऽपान्तरालगतावपि तदायुष्कसंवेदनादभिधीयन्त एव, न तैरिहाधिकार इत्यतः पञ्चेन्द्रियग्रहणम्, तेऽपि चोपपातक्षेत्रप्राप्ता अपि मनःपर्याप्त्या अपर्याप्तका अपि भण्यन्ते, न च तैरपीहाधिकार इत्यतः पर्याप्तकग्रहणमिति । स्वरूपकथनं वा सञ्ज्ञिनां पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तकानामिति । अथवा संज्ञिनो हेतुवादोपदेशेन विकलेन्द्रिया अपि भण्यन्ते, तद्व्यवच्छेदार्थं पञ्चेन्द्रियग्रहणम्, तेऽप्यपर्याप्तका अपि भवन्ति अतः पर्याप्तकग्रहणमिति । "तं चेवे"त्यादि, इह क्षेत्राधिकारस्यैव प्राधान्यात् 'तदेव' मनोलब्धिसमन्वितजीवाधारं क्षेत्रमभिगृह्यते । विपुलमतिः अर्द्धं तृतीयस्य येषु तान्यर्द्धतृतीयानि तैरभ्यधिकतरम्, प्रभूततरमित्यर्थः, तदेव प्राकृतशैल्या अभ्यधिकतरकम्, एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम् । तत्रैकदिशमप्यधिकतरं भवत्यतः सर्वतोऽभ्यधिकतरमिति प्रतिपादनार्थमाह–'विपुलतरं' विस्तीर्णतरम्, अथवाऽऽयाम-विष्कम्भावाश्रित्याभ्यधिकतरम्, बाहल्यमाश्रित्य विपुलतरम् । तथा 'विशुद्धतरं' निर्मलतरमित्यर्थः, यथा चन्द्रकान्तादिप्रकाशकद्रव्यं विमलविमलतरविशेषाद् विमलप्रकाशितद्रष्टुः सकाशाद् विमलतरप्रकाशितद्रष्टा विशुद्धतरं पश्यति, एवं विष्कम्भितोदयमनःपर्यायज्ञानावरणस्य कारणभेदतो मन्दमन्दतरविशेषभावाद् ऋजुमतेः सकाशाद् विपुलमतिर्विशुद्धतरमिति, उपशान्तावरणविशेषादपि ज्ञानस्य विशेष इत्येतावतांऽशेन दृष्टान्तः । तथा तदावरणक्षयोपशमविशेषाच्च 'वितिमिरतरं' निर्मलतरम् । अथवा प्राग्बद्धतदावरणकर्मक्षयोपशमस्य प्रधानत्वाद् विशुद्धतरम्, बध्यमानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषाच्च वितिमिरतरम्, बध्यमानाभावाच्च वितिमिरतरमित्यन्ये । अथवैकार्थिका एवैते शब्दाः नानादेशजानां विनेयानां कस्यचित् कश्चित् प्रसिद्धो भवतीत्युपन्यस्ताः । क्षेत्रं "तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः" इति जानाति पश्यति । शेषं निगदसिद्धं यावत्––

३३. मणपज्जवणाणं पुण जणमणपरिचिंतियत्थपायडणं ।
माणुसखेत्तणिबद्धं गुणपच्चइयं चरित्तवओ ॥ ५५ ॥
से त्तं मणपज्जवणाणं ।

३३. मणपज्जव० गाहा । व्याख्या–मनःपर्यायज्ञानं प्राग्निरूपितशब्दार्थम् । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । इदं हि रूपिनिबन्धन-क्षायोपशमिक-प्रत्यक्षादिसाम्येऽपि सत्यवधिज्ञानात् स्वाम्यादिभेदेन विशिष्टमिति स्वरूपतः प्रतिपादयन्नाह–जायन्त इति जनाः, तेषां मनांसि जनमनांसि, जनमनोभिः परिचिन्तितः जनमनःपरिचिन्तितः, जनमनःपरिचिन्तितश्चासावर्थश्चेति समासः, तं प्रकटयति–प्रकाशयति जनमनःपरिचिन्तितार्थप्रकटनम् । मानुषक्षेत्रम्–अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रपरिमाणं तन्निबद्धम्, न तद्बहिर्व्यवस्थितप्राणिमनःपरिचिन्तितार्थविषयं प्रवर्त्तत इत्यर्थः । गुणाः–क्षान्त्यादयः त एव प्रत्ययाः–कारणानि यस्य तद् गुणप्रत्ययम् । चारित्रमस्यास्तीति चारित्रवान् तस्य चारित्रवत एवेदं भवति । एतदुक्तं भवति–अप्रमत्तसंयतस्य आमर्षौषध्यादिऋद्धिप्राप्तस्य चेति गाथार्थः ॥५५॥

"से तं मणपज्जवणाणं" तदेतन्मनःपर्यायज्ञानमिति ॥

३४. से किं तं केवलणाणं ? केवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–भवत्थकेवलणाणं च सिद्धकेवलणाणं च ।

३४. से किं तं केवलणाणं ? इत्यादि । अथ किं तत् केवलज्ञानम् ?, केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–भवस्थकेवलज्ञानं च सिद्धकेवलज्ञानं च । भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः, भवो गतिर्जन्मेति पर्यायाः, भवे तिष्ठतीति भवस्थः, तस्य केवलज्ञानं भवस्थकेवलज्ञानम् । "षिधौ संराद्धौ" [पा. धातु. ११९२] "राध साध संसिद्धौ" [पा. धातु. १२६३ ६४] "षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च" [पा. धातु. ४८] सिध्यति स्म सिद्धः, यो येन गुणेन निष्पन्नः–परिनिष्ठितः, न पुनः साधनीयः, सिद्धौदनवत्, स सिद्धः । स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः । उक्तं च—

कम्मे सिप्पे य विज्जा य मंते जोगे य आगमे । अत्थ जत्ता अभिप्पाए तवे कम्मक्खए इ य ॥१॥
[आव. नि. गा. ५२७]

इह कर्मक्षयसिद्धेनाधिकारः, स चाशेषकर्मांशक्षयात् कर्मक्षयसिद्धः । सितध्वंसित्वाद्वा सिद्धः, "सि वर्णबन्धनयोः" [ ] इति । सितं–बद्धमष्टप्रकारं कर्म तद् ध्वंसितुं शीलमस्येति सितध्वंसी सिद्धः, तस्य केवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानम् ॥

३५. से किं तं भवत्थकेवलणाणं ? भवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–सजोगिभवत्थकेवलणाणं च अजोगिभवत्थकेवलनाणं च ।

३५. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् भवस्थकेवलज्ञानम् ?, भवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा–सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च । इह युज्यन्त इति योगाः कायादयः, उक्तं च–"काय-वाङ्-मनःकर्म योगः" [तत्त्वा. ६.१] । तत्रौदारिकादिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः । तथौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः । तथौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोगः । तद् यथासम्भवं योगोऽस्य विद्यत इति सयोगी, सयोगी चासौ भवस्थश्च सयोगिभवस्थः, तस्य केवलज्ञानं सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् । एवं न योगी अयोगी, स च भवस्थश्च तस्य केवलज्ञानं अयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, शैलेश्यवस्थागतस्येत्यर्थः ॥

३६. से किं तं सजोगिभवत्थकेवलणाणं ? सजोगिभवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं,

तं जहा—पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च, अहवा चरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च। से त्तं सजोगिभवत्थकेवलणाणं।

३६. अथ किं तत् सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ?, सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च अप्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। तत्र प्रथमसमयः—तत्प्रथमतयोत्पत्तिसमय एव गृह्यते, न प्रथमोऽप्रथमः—द्वितीयादयः सर्व एव शैलेश्यवस्थाप्राप्तेरप्रथमसमया इति। अथवेत्यन्यथा प्रतिपाद्यते—"चरमसमये" त्यादि, तत्र चरमः—सयोगिकालान्त्यसमयः, न चरमोऽचरमः, पश्चानुपूर्व्या चरमादारभ्य सर्व एव केवलप्राप्तेरचरमा इति। "से त" मित्यादि निगमनम् ॥

३७. से किं तं अजोगिभवत्थकेवलणाणं ? अजोगिभवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—पढमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च अपढमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च, अहवा चरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च अचरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च। से त्तं अजोगिभवत्थकेवलणाणं।

३७. से किं तमित्यादि। अत्रापि शैलेश्यवस्थाभावि केवलज्ञानमधिकृत्यैवमेव भावनीयम्। अलं विस्तरेण। "से त"मित्यादि निगमनम्, तदेतद् भवस्थकेवलज्ञानम् ॥

३८. से किं तं सिद्धकेवलणाणं ? सिद्धकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अणंतरसिद्धकेवलणाणं च परंपरसिद्धकेवलणाणं च।

३८. से किं तमित्यादि। अथ किं तत् सिद्धकेवलज्ञानम् ?, सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं च परम्परसिद्धकेवलज्ञानं च। तत्र शैलेश्यवस्थापर्यन्तवर्त्तिसमयसमासादितसिद्धत्वस्य तस्मिन्नेव समये यत् केवलज्ञानं तदनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम्। ततो द्वितीयादिसमयेष्वनन्तामप्यनागताद्धां परम्परसिद्धकेवलज्ञानमिति ॥

३९. से किं तं अणंतरसिद्धकेवलणाणं ? अणंतरसिद्धकेवलणाणं पण्णरसविहं पण्णत्तं, तं जहा—तित्थसिद्धा १ अतित्थसिद्धा २ तित्थगरसिद्धा ३ अतित्थगरसिद्धा ४ सयंबुद्धसिद्धा ५ पत्तेयबुद्धसिद्धा ६ बुद्धबोहियसिद्धा ७ इत्थिलिंगसिद्धा ८ पुरिसलिंगसिद्धा ९ णपुंसगलिंगसिद्धा १० सलिंगसिद्धा ११ अण्णलिंगसिद्धा १२ गिहिलिंगसिद्धा १३ एगसिद्धा १४ अणेगसिद्धा १५। से त्तं अणंतरसिद्धकेवलणाणं।

३९. से किं तमित्यादि प्रश्नसूत्रस्य निर्वचनम्—अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं पञ्चदशविधं प्रज्ञप्तम्, सिद्धानामेवानन्तरभवगतोपाधिभेदेन पञ्चदशभेदभिन्नत्वात्। पञ्चदशभेदभिन्नतामेव दर्शयन्नाह—'तद्यथा—तीर्थसिद्धाः' इत्यादि। तत्र येनेह जीवा जन्म-जरा-मरणसलिलं मिथ्यादर्शना-ऽविरतिगम्भीरं विचित्रदुःखगणकरिमकरं राग-द्वेषपवनप्रक्षोभितमनन्तसंसारसागरं तरन्ति तत् तीर्थमिति, तच्च यथावस्थितसकलजीवा-ऽजीवादिपदार्थप्ररूपकं

अत्यन्तानवद्या-ऽन्याविज्ञातचरण-करणक्रियाधारं अचिन्त्यशक्तिसमन्वितात्रिसंवाद्युद्युपकल्पं चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितपरमगुरुप्रणीतं प्रवचनम्, एतच्च सङ्घः प्रथमगणधरो वा, तथा चोक्तम्–"तित्थं भंते तित्थं ? तित्थकरे तित्थं ?, गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसंघो पढमगणहरो वा" [भग. श. २३. उ. ८ सू. ६८२] इत्यादि, ततश्च तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः १ । 'अतीर्थसिद्धाः' तीर्थान्तरसिद्धा इत्यर्थः, श्रूयते च–"जिणंतरे साहुवोच्छेओ" [आव. नि. गा. ३६५] त्ति, तत्रापि जातिस्मरणादिनाऽवाप्तापवर्गमार्गाः सिध्यन्त्येव; मरुदेविप्रभृतयो वाऽतीर्थसिद्धाः, तदा तीर्थस्यानुत्पन्नत्वात् २ । 'तीर्थकरसिद्धाः' तीर्थकरा एव ३ । 'अतीर्थकरसिद्धाः' अन्ये सामान्यकेवलिनः ४ । स्वयं बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वयम्बुद्धसिद्धाः ५ । प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते प्रत्येकबुद्धसिद्धा इति ६ ।

अथ स्वयम्बुद्ध-प्रत्येकबुद्धयोः कः प्रतिविशेषः ? इति, उच्यते, बोध्युपधि-श्रुत-लिङ्गकृतो विशेषः । तथाहि–स्वयम्बुद्धा बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव बुध्यन्ते, प्रत्येकबुद्धास्तु न तद्विरहेण । श्रूयते च बाह्यवृषभादिप्रत्ययसापेक्षा करकण्ड्वादीनां प्रत्येकबुद्धानां बोधिरिति । उपधिस्तु स्वयम्बुद्धानां द्वादशविधः पात्रादिः, प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधः प्रावरणवर्जः । स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतश्रुतेऽनियमः, प्रत्येकबुद्धानां तु नियमतो भवत्येव । लिङ्गप्रतिपत्तिः स्वयम्बुद्धानामाचार्यसन्निधावपि भवति, प्रत्येकबुद्धानां तु देवता प्रयच्छतीत्यलं विस्तरेण ।

'बुद्धबोधितसिद्धाः' बुद्धाः–आचार्यास्तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धास्त इह गृह्यन्ते ७ । एते च सर्वेऽपि केचित् स्त्रीलिङ्गसिद्धाः ८ केचित् पुल्लिङ्गसिद्धाः ९ केचिन्नपुंसकलिङ्गसिद्धा १० इति । आह–तीर्थकरा अपि स्त्रीलिङ्गसिद्धा भवन्ति ?, भवन्तीत्याह, यत उक्तं सिद्धप्राभृते–"सव्वत्थोवा तित्थगरीसिद्धा, तित्थगरितित्थे णोतित्थसिद्धा संखेज्जगुणा, तित्थगरितित्थे णोतित्थगरिसिद्धाओ संखेज्जगुणाओ, तित्थगरितित्थे णोतित्थगरसिद्धा संखेज्जगुणा" [गा. १०० वृत्तौ] इति, न तु नपुंसकलिङ्गाः । प्रत्येकबुद्धास्तु पुल्लिङ्गा एव । 'स्वलिङ्गसिद्धाः' द्रव्यलिङ्गं प्रति रजोहरण-गोच्छकधारिणः ११ । 'अन्यलिङ्गसिद्धाः' परिव्राजकादिलिङ्गे सिद्धाः १२ । गृहिलिङ्गसिद्धा मरुदेवीप्रभृतयः १३ । 'एकसिद्धाः' इति एकस्मिन् समये एक एव सिद्धः १४ । 'अणेगसिद्धाः' इति एकस्मिन् समये यावद् अष्टशतं सिद्धम् । यत उक्तम्—

बत्तीसा १ अडयाला २ सट्ठी ३ बावत्तरी ४ य बोद्धव्वा । चुलसीती ५ छन्नउई ६ दुरहिय ७ अट्ठुत्तरसयं ८ च ॥१॥
[बृहत्सं. गा. ३३३]

अत्राऽऽह चोदकः–ननु सर्व एवैते भेदास्तीर्थसिद्धा-ऽतीर्थसिद्धभेदद्वयान्तर्भाविनः, तथाहि–तीर्थसिद्धा एव तीर्थकरसिद्धाः, अतीर्थकरसिद्धा अपि तीर्थसिद्धा वा स्युः अतीर्थसिद्धा वेति, एवं शेषेष्वपि भावनीयमिति, अतः किमेभिः ? इति, अत्रोच्यते, अन्तर्भावे सत्यपि पूर्वभेदद्वयादेवोत्तरोत्तरभेदाप्रतिपत्तेः, अज्ञातज्ञापनार्थं च भेदाभिधानमिति । "से त" मित्यादि निगमनम् ॥

४०. से किं तं परंपरसिद्धकेवलणाणं ? परंपरसिद्धकेवलणाणं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा–अपढमसमयसिद्धा दुसमयसिद्धा तिसमयसिद्धा चउसमयसिद्धा जाव दससमयसिद्धा संखेज्जसमयसिद्धा असंखेज्जसमयसिद्धा अणंतसमयसिद्धा, से त्तं परंपरसिद्धकेवलणाणं । से त्तं सिद्धकेवलणाणं ।

४०. से किं तं परंपर इत्यादि । न प्रथमसमयसिद्धाः अप्रथमसमयसिद्धाः, परम्परसिद्धविशेषणप्रथमसमयवर्त्तिनः, सिद्धत्वद्वितीयसमयवर्त्तिन इत्यर्थः । त्र्यादिषु तु द्विसमयसिद्धादयः प्रोच्यन्ते । यद्वा सामान्येनाप्रथमसमयसिद्धा अभिधानविशेषतो द्विसमयादिसिद्धाभिधानमिति । शेषं प्रकटार्थं यावत्—

४१. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ णं केवलणाणी सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ। खेत्तओ णं केवलणाणी सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ। कालओ णं केवलणाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ। भावओ णं केवलणाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ।

४१. तं समासतो इत्यादि। तदिति सामान्येन केवलज्ञानमभिगृह्यते। द्रव्यतः केवलज्ञानी 'सर्वद्रव्याणि' धर्मास्तिकायादीनि साक्षाज्जानाति पश्यति। क्षेत्रतः केवलज्ञानी 'सर्वं क्षेत्रं' लोका-ऽलोकभेदभिन्नं साक्षाज्जानाति पश्यति। [ग्रं. १०००] इह च धर्मास्तिकायादिसर्वद्रव्यग्रहणे सत्यप्याकाशास्तिकायस्य क्षेत्रत्वेन रूढत्वाद् भेदेनोपन्यासः। कालतः केवलज्ञानी 'सर्वं कालं' अतीता-ऽनागत-वर्त्तमानभेदभिन्नं साक्षाज्जानाति पश्यति। भावतः केवलज्ञानी 'सर्वान्' जीवा-ऽजीवगतान् भावान् गति-कषायाद्यगुरुलघुलक्षणादीन् साक्षाज्जानाति पश्यति॥

इह च केवलज्ञान-दर्शनोपयोगचिन्तायां क्रमोपयोगादौ सूरीणामनेकविधा विप्रतिपत्तिः, अतः सङ्क्षेपतो विनेयजनानुग्रहाय तत्प्रदर्शनं क्रियत इति। तत्र—

[1]केई भणंति, जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा।
अन्ने एगंतरियं इच्छंति सुओवदेसेणं॥१॥
अन्ने ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स।
जं चिय केवलनाणं तं चिय से दंसणं बिंति॥२॥　[विशेषणवती गा. १५३-५४]

गाथाद्वयम्। अस्य व्याख्या–'केचन' सिद्धसेनाचार्यादयः भणंति। किम्? 'युगपद्' एकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति च। कः? केवली, न त्वन्यः, 'नियमाद्' नियमेन। 'अन्ये' जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रभृतयः एकान्तरितं जानाति पश्यति चेत्येवमिच्छन्ति 'श्रुतोपदेशेन' यथाश्रुतागमानुसारेणेत्यर्थः। 'अन्ये तु' वृद्धाचार्या 'न' नैव 'विष्वक्' पृथक् तद्दर्शनमिच्छन्ति 'जिनवरेन्द्रस्य' केवलिन इत्यर्थः। किं तर्हि?, यदेव केवलज्ञानं तदेव "से" तस्य केवलिनो दर्शनं ब्रुवते, क्षीणावरणस्य देशज्ञानाभावात्, केवलदर्शनाभावादिति भावना। अयं गाथाद्वयार्थः॥१॥२॥ साम्प्रतं युगपदुपयोगवादिमतप्रदर्शनायाह—

जं केवलाइं सादी-अपज्जवसियाइं दो वि भणियाइं।
ता बिंति केइ, जुगवं जाणइ पासइ य सव्वन्नू॥३॥　[विशेषणवती गा. १९३]

यस्मात् केवलज्ञान-दर्शने साद्यपर्यवसिते द्वे अपि भणिते ततः ब्रुवते 'केचन' सिद्धसेनाचार्यादयः। किम्? 'युगपद्' एकस्मिन् काले जानाति पश्यति च। कः? सर्वज्ञ इति गाथार्थः॥३॥

इहराऽऽदी-णिधणत्तं मिच्छाऽऽवरणक्खयो त्ति व जिणस्स।
इयरेतरावरणता अहवा निक्कारणावरणं॥४॥　[विशेषणवती गा. १९४]

---

१ केवलज्ञान-केवलदर्शनयुगपदुपयोगादिविवादसङ्गता एता एव चतुर्विंशतिगाथाः श्रीहरिभद्रसूरिपादैर्धर्मसङ्ग्रहण्यां गा १३३६ तः १३५९ गाथात्वेनाऽऽदृताः सन्ति।

'इतरथा' अन्यथा 'आदि-निधनत्वं' सादि-पर्यवसानत्वम्, केवलज्ञान-दर्शनयोरुत्पत्त्यनन्तरमेव केवलज्ञानोपयोगकाले केवलदर्शनाभावात्, एवं केवलदर्शनोपयोगकालेऽपि केवलज्ञानाभावात्। तथा मिथ्याऽऽवरणक्षय इति वा जिनस्य, न ह्यपनीतावरणौ द्वौ प्रदीपौ क्रमेण प्रकाश्यं प्रकाशयत इत्यभिप्रायः। तथा इतरेतरावरणता, आवरणे क्षीणेऽप्यन्यतमभावे अन्यतमाभावादिति भावना। अथवा 'निष्कारणावरणम्' इति अकारणमेव अन्यतरोपयोगकालेऽन्यतरस्याऽऽवरणम्, तथा च सति सर्वदैव भावा-ऽभावप्रसङ्गः। तथा चोक्तम्—

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥
[प्रमाणवार्त्तिके ३–३४] इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

तह य असव्वन्नुत्तं असव्वदरिसित्तणप्पसंगो य ।
एगंतरोवओगे जिणस्स दोसा बहुविहीया ॥ ५ ॥ [विशेषणवती गा. १९५]

व्याख्या–तथा च सति असर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वप्रसङ्गश्च। पाक्षिकं वा असर्वज्ञत्वम्—यदा सर्वज्ञो न तदा सर्वदर्शी, दर्शनोपयोगाभावात्; एवं यदा सर्वदर्शी न तदा सर्वज्ञः, ज्ञानोपयोगाभावात्। एवमेकान्तरोपयोगेऽभ्युपगम्यमाने सति 'जिनस्य' केवलिनो दोषा बहुविधा इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ एवं परेणोक्ते सत्यागमवाद्याह—

भण्णति, भिन्नमुहुत्तोवयोगकाले वि तो तिणाणिस्स ।
मिच्छा छावट्ठी सागरोवमाइं खओवसमो ॥ ६ ॥ [विशेषणवती गा. २०२]

व्याख्या–यदुक्तम् 'इतरथाऽऽदि-निधनत्वम् इति तदसत्' इति दर्शयति–उपयोगा-ऽनुपयोगकालापेक्षयैव साद्यपर्यवसितत्वात् केवलज्ञान-दर्शनयोरित्यभिप्रायः, न चानार्षमिदम्, कथम्? भण्यते–अन्यथा हि भिन्नमुहूर्त्तोपयोगकालेऽपि मत्यादीनां ततस्त्रिज्ञानिनः मिथ्या षट्षष्टिः सागरोपमाणि क्षयोपशमः, प्रतिपादितश्च सूत्रे, न च युगपदेव मत्याद्युपयोगः; एवं क्षायिकोपयोगेऽपि भविष्यति, जीवस्वाभाव्यादिति गाथाभिप्रायः ॥ ६ ॥

न च क्षयकार्येणावश्यमनवरतमेव भवितव्यमिति दर्शयन्नाह—

अह णं वि एवं ता सुण, जहेव खीणंतराइओ अरहा ।
संते वि अंतरायक्खयम्मि पंचप्पगारम्मि ॥ ७ ॥
सततं न देति लहति व भुंजति उवभुंजई व सव्वन्नू ।
कज्जम्मि देति लभति व भुंजति व तहेव इहइं पि ॥ ८ ॥

किञ्च—दिंतस्स लभंतस्स य भुंजंतस्स व जिणस्स एस गुणो ।
खीणंतराइयत्ते जं से विग्घं न संभवइ ॥ ९ ॥
उवउत्तस्सेमेव य णाणम्मि व दंसणम्मि व जिणस्स ।
खीणावरणगुणोऽयं, जं कसिणं मुणइ पासइ वा ॥ १० ॥ [विशेषणवती गा. २०३–६]

चो०–पासंतो वि न जाणइ, जाणं व ण पासती जइ जिणिंदो ।
एवं न कदाइ वि सो सव्वन्नू सव्वदरिसी य ॥ ११ ॥ [विशेषणवती गा. २१५]

व्याख्या–पश्यन्नपि न जानाति जानन् वा न पश्यति यदि जिनेन्द्रः, एवं न कदाचिदप्यसौ सर्वज्ञः सर्वदर्शी च, युगपदन्यतरोपयोगकालेऽन्यतरोपयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ सिद्धान्तवाद्याह—

जुगवमजाणंतो वि हु चउहि वि णाणेहिं जह व चउणाणी ।
भण्णइ, तहेव अरहा सव्वन्नू सव्वदरिसी य ॥ १२ ॥ [विशेषणवती गा. २१६]

इयं तु निगदसिद्धैव । नवरं क्षायिकभावमाश्रित्येति गाथार्थः ॥ १२ ॥ पुनरप्याह—

तुल्ले उभयावरणक्खयम्मि पुव्वतरमुब्भवो कस्स ? ।
दुविहुवयोगाभावे जिणस्स जुगवं ति चोदेति ॥ १३ ॥ [विशेषणवती गा. २१७]

व्याख्या–तुल्ये 'उभयावरणक्षये' केवलज्ञान-दर्शनावरणक्षये 'पूर्वतरं' प्रथमतरं 'उद्भवः' उत्पादः कस्य ? । यदि ज्ञानस्य स किंनिबन्धनः ? इति वाच्यम्, तदावरणक्षयनिबन्धन इति चेत्, दर्शनेऽपि तुल्य इति तस्याप्युद्भवप्रसङ्गः; एवं दर्शनेऽपि वाच्यम्, अतः स्वावरणक्षयेऽपि दर्शनाभाववद् ज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्गः विपर्ययो वा । एवं द्विविधोपयोगाभावे 'जिनस्य युगपत्' इति चोदयति । अयं गाथार्थः ॥ १३ ॥ अत्र सिद्धान्तवाद्याह—

भण्णति, ण एस नियमो, जुगवुप्पन्नेण जुगवमेवेह ।
होयव्वं उवओगेण, एत्थ सुण ताव दिट्ठंतं ॥ १४ ॥
जह जुगवुप्पत्तीय वि सुत्ते सम्मत्त-मति-सुतादीणं ।
णत्थि जुगवोवयोगो सव्वेसु, तहेव केवलिणो ॥ १५ ॥
भणियं पि य पन्नत्ती-पन्नवणादीसु, जह जिणो समयं ।
जं जाणती न पासइ तं अणुरयणप्पभादीणं ॥ १६ ॥
[विशेषणवती गा. २१८–२० विशेषा. गा. ३११२]

इदं गाथात्रयमपि प्रकटार्थम् ॥१४॥१५॥१६॥ अधुना ये केवलज्ञान-दर्शनाभेदवादिनस्तन्मतमुपन्यस्यन्नाह—

जह किर खीणावरणे देसन्नाणाण संभवो न जिणे ।
उभयावरणादीते तह केवलदंसणस्सावि ॥ १७ ॥ [विशेषणवती गा. १५५]

निगदसिद्धा ॥ १७ ॥ सिद्धान्तवाद्याह—

देसन्नाणोवरमे जह केवलणाणसंभवो भणिओ ।
देसद्दंसणविगमे तह केवलदंसणं होउ ॥ १८ ॥
अह देसणाण-दंसणविगमे तुह केवलं मयं णाणं ।
ण मतं केवलदंसणमिच्छामेत्तं णणु तवेयं ॥ १९ ॥ [विशेषणवती गा. १५६–५७]
भण्णइ, जहोहिणाणी जाणइ पासइ य भासितं सुत्ते ।
न य णाम ओहिदंसण-णाणेगत्तं तह इमं पि ॥ २० ॥ [विशेषणवती गा. १७८]
जह पासइ तह पासतु, पासति सो जेण दंसणं तं से ।
जाणति य जेण अरहा तं से णाणं ति वत्तव्वं ॥ २१ ॥ [विशेषणवती गा. १९२]

स्वपक्षसमर्थनायैव सिद्धान्तवाद्याह—

णाणम्मि दंसणम्मि य एत्तो एगतरयम्मि उवउत्तो ।
सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो णत्थि उवओगा ॥ २२ ॥
[विशेषणवती गा. २२९ विशेषा. गा. ३०९६]

उवओगो एगयरो पणुवीसतिमे सते सिणायस्स ।
भणिओ वियडत्थो च्चिय छट्टुद्देसे विसेसेउं ॥ २३ ॥

[विशेषणवती गा. २३२ विशेषा. गा. ३१२०]

गाथाद्वयमपि निगदसिद्धम् । नवरं भगवत्यां पञ्चविंशतितमे शतेऽधिकारोपलक्षिते "सिणायस्स" त्ति 'स्नातकस्य' केवलिनः ॥२२॥२३॥ सिद्धान्तवाधेवानुद्धतत्वमागमभक्तिं च परां ख्यापयन्नाह—

कस्स व णाणुमतमिणं जिणस्स जदि होज्ज दो वि उवओगा ? ।
णूणं ण होंति जुगवं, जेण णिसिद्धा सुते बहुसो ॥ २४ ॥

[विशेषणवती गा. २४६ विशेषा. गा. ३१३२]

निगदसिद्धैवेति ॥ २४ ॥ अलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः—

४२. अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाती एगविहं केवलणाणं ॥ ५६ ॥
केवलणाणेणऽत्थे णाउं जे तत्थ पण्णवणजोग्गे ।
ते भासइ तित्थयरो, वइजोग तयं हवइ सेसं ॥ ५७ ॥
से त्तं केवलणाणं । से त्तं पच्चक्खणाणं ।

४२. अह० गाहा । व्याख्या—इह मनःपर्यायज्ञानानन्तरं सूत्रक्रमोद्देशतः शुद्धिलाभतश्च प्राक् केवलज्ञानमुक्तं तदुपन्यस्यत इत्यतस्तदर्थोऽयमथशब्दः । उक्तं च—" अथशब्दः प्रक्रिया-प्रश्ना-ऽऽनन्तर्य-मङ्गलोपन्यास-प्रतिवचन-समुच्चयेषु " [ ] सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि—जीवा-ऽजीवलक्षणानि तेषां परिणामाः—प्रयोग-विश्रसोभयाख्या उत्पादादयः सर्वद्रव्यपरिणामास्तेषां भावः—सत्ता स्वलक्षणमित्यनर्थान्तरं तस्य विशेषेण ज्ञापनं विज्ञप्तिः विज्ञानं वा विज्ञप्तिः तत्र भेदोपचारात् तस्या विज्ञप्तेः—परिच्छित्तेः कारणं सर्वद्रव्यपरिणामभावविज्ञप्तिकारणम्, अथवा विज्ञप्तिरेव कारणं विज्ञप्तिकारणम्, अत एव सर्वक्षेत्र-कालविषयं तत्, क्षेत्रादीनामपि द्रव्यत्वात् । तच्च ज्ञेयानन्तत्वादनन्तम् । शश्वद्भावाच्छाश्वतम्, सदोपयोगादिति भावार्थः । प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति, सदाऽवस्थितमित्यर्थः । आह—यच्छाश्वतं तदप्रतिपात्येवातः किं विशेषणेन ? इति, उच्यते—मा भूद् यावद् भवति तावच्छाश्वतमनवरतमेव भवतीति प्रतिपत्तिः, न पुनरवध्यादिवदन्यथेत्यतो विशेषणमित्यनवरतं भवति सर्वकालं चेति । अथवैकपदव्यभिचारेऽपि विशेषण-विशेष्यभावो भवतीति ज्ञापनार्थम् । तथाहि—शाश्वतमप्रतिपात्येव, अप्रतिपाति तु शाश्वतमशाश्वतं वा, अप्रतिपात्यवधेरप्यशाश्वतत्वादिति । 'एकविधं' एकप्रकारम्, आवरणाभावात् क्षयस्यैकरूपत्वात् । केवलं—मत्यादिनिरपेक्षम्, केवलं च तज्ज्ञानं चेति गाथार्थः ॥५६॥

इह 'तीर्थकृत् समुपजातकेवलः सत्त्वानुग्रहार्थं देशनां करोति, तीर्थकरनामकर्मोदयात्, ततश्च ध्वनेर्द्रव्यश्रुतरूपत्वात् तस्य च भावश्रुतपूर्वकत्वात् श्रुतज्ञानसम्भवादनिष्टापत्तिः' इति मा भून्मतिमोहोऽव्युत्पन्नबुद्धीनामित्यतस्तद्विनिवृत्त्यर्थमाह—

केवल० गाहा । व्याख्या—इह तीर्थकरः केवलज्ञानेन 'अर्थान्' धर्मास्तिकायादीन् मूर्त्ता-ऽमूर्त्तान् अभिलाप्या-ऽनभिलाप्यान् 'ज्ञात्वा' विनिश्चित्य, केवलज्ञानेनैव ज्ञात्वा, न तु श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकत्वात्,

केवलिनश्च तदभावात्, सर्वशुद्धौ देशशुद्ध्यभावादित्यर्थः। ये 'तत्र' तेषामर्थानां मध्ये प्रज्ञापनं प्रज्ञापना तस्या योग्याः प्रज्ञापनायोग्याः तान् 'भाषते' तानेव वक्ति, नेतरानिति। प्रज्ञापनीयानिति न सर्वानेव भाषते, अनन्तत्वात्, आयुषः परिमितत्वात्, किं तर्हि ?, योग्यानेव, गृहीतृशक्त्यपेक्षया, यो हि यावतां योग्यस्तानिति। तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिः प्रोच्यमानस्तस्य भगवतो वाग्योग एव भवति, न श्रुतम्, नामकर्मोदयनिबन्धनत्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, स च श्रुतं भवति शेषम्। 'शेषमिति' अप्रधानम्। एतदुक्तं भवति–श्रोतॄणां श्रुतग्रन्थानुसारिभावश्रुतनिबन्धनत्वात् 'शेषं' अप्रधानं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः। अन्ये त्वेवं पठन्ति– "वइजोग सुयं हवइ तेसिं" स वाग्योगः श्रुतं भवति 'तेषां' श्रोतॄणाम्, भावश्रुतकारणत्वादित्यभिप्रायः। अथवा वाग्योगः 'श्रुतं' द्रव्यश्रुतमेवेति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

"से तं" इत्यादि निगमनम्। तदेतत् केवलज्ञानम्। तदेतत् प्रत्यक्षम्॥ एवं प्रत्यक्षे प्रतिपादिते सति परोक्षस्वरूपमनवगच्छन्नाह चोदकः—

४३. से किं तं परोक्खणाणं ? परोक्खणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–आभिणिबोहियणाणपरोक्खं च सुयणाणपरोक्खं च।

४३. से किं तमित्यादि। अथ किं तत् परोक्षम् ?, परोक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा- आभिनिबोधिकज्ञानपरोक्षं च श्रुतज्ञानपरोक्षं च। 'चौ' पूर्ववत्। अनयोश्चेत्थं क्रमोपन्यासे प्रयोजनमुक्तमेव ॥

साम्प्रतं स्वाम्यभेदप्रतिपादनायाह—

४४. जत्थाऽऽभिणिबोहियणाणं तत्थ सुयणाणं, जत्थ सुयणाणं तत्थाऽऽभिणिबोहियणाणं। दो वि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं तह वि पुण एत्थाऽऽयरिया णाणत्तं पण्णवेंति–अभिणिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियं, सुणतीति सुतं।

"मतिपुव्वयं सुयं, ण मती सुयपुव्विया।"

४४. जत्थ आभिणिबोहियणाणमित्यादि। 'यत्र' पुरुषे इन्द्रिय-नोइन्द्रियक्षयोपशमे वा आभिनिबोधिकज्ञानं 'तत्रैव' पुरुषादौ श्रुतज्ञानम्, तथा यत्र श्रुतज्ञानं तत्राऽऽभिनिबोधिकज्ञानम्। आह–यत्राभिनिबोधिकज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानमित्युक्ते यत्र श्रुतज्ञानं तत्राऽऽभिनिबोधिकज्ञानमिति गम्यत एवेत्यतः किमनेनोक्तेन ? इति, अत्रोच्यते, नियमतो न गम्यत इत्यतो नियमार्थम्। तथा चाह—

"दो वि एयाइं" इत्यादि। 'द्वे अप्येते' आभिनिबोधिक-श्रुते 'अन्योन्यानुगते' परस्परं प्रतिबद्धे। स्यादेतद्–एवं सत्यभेद एवास्त्वनयोरित्याशङ्क्याह–"तह वि पुणो" इत्यादि। तथापि पुनराचार्याः 'नानात्वं' भेदं 'प्रज्ञापयन्ति' प्ररूपयन्ति। कथम् ? लक्षणभेदात्, दृष्टश्चान्योन्यानुगतयोरप्येकाकाशस्थयोर्धर्मा-ऽधर्मास्तिकाययोर्लक्षणभेदाद् भेद इति। तत्र यो हि गतिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुद्गलयोर्गत्युपष्टम्भहेतुर्जलमिव झषस्य स खल्वसङ्ख्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्त्तो धर्मास्तिकाय इति, तथा यः स्थितिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुद्गलयोरेव स्थित्युपष्टम्भहेतुर्विवक्षया क्षितिरिव झषस्य स खल्वसङ्ख्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्त्त एवाधर्मास्तिकाय इति, एवमाभिनिबोधिक-श्रुतयोरपि लक्षणभेदाद् भेदः। तथा चाह—

"अभिणिबुज्झइ" इत्यादि । अभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम्, आत्मनः परिणामविशेषः । एवं शृणोतीति श्रुतम्, आत्मन एव परिणामविशेष इति । एतदुक्तं भवति–यदिन्द्रिय-मनोनिमित्तमात्मनो विज्ञानं श्रुतग्रन्थानुसारेणोपजायते तत् श्रुतम्, शेषमिन्द्रिय-मनोनिमित्तमाभिनिबोधिकमिति । इत्थं लक्षणभेदाद् भेदमभिधायाधुना प्रकारान्तरेण भेदमभिधित्सुराह–

"मतिपुव्वं सुतं, ण मती सुयपुव्विया" "पॄ पालन-पूरणयोः" [पाणिनिधातु० १४९०] इत्येतस्य पूर्यते प्राप्यते पाल्यते वाऽनेन कार्यमिति पूर्वं–कारणम्, मतिः पूर्वमस्येति मतिपूर्वं 'श्रुतं' श्रुतज्ञानम्, तथा चेदं मत्या पूर्यते प्राप्यते पाल्यते वा, अन्यथा प्रणश्यतीत्यर्थः, न मतिः श्रुतपूर्वेत्ययं महान् भेद इति । अत्राह–मति-श्रुतयोर्युगपदेव सम्यक्त्वावाप्तौ भाव उक्तः, अज्ञानयोरपि विगमः, तत् कथं मतिपूर्वं श्रुतम् ? इति, किञ्च–मतिपूर्वकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सति मतिज्ञानभावेऽपि तत्काले श्रुतमज्ञानं प्राप्नोति, अनार्षं चेदमिति, अत्रोच्यते–ननु लब्धिं प्रति मति-श्रुते समकाले भवतः, न तूपयोगोऽनयोः समकाले इति मतिपूर्वं श्रुतम्, इह पुनः को भावार्थः ? श्रुतोपयोगो मतिप्रभवः, यतो नासञ्चिन्त्य मत्या श्रुतग्रन्थानुसारि विज्ञानमुत्पद्यते । आह–एवं मतिरपि श्रुतपूर्वा भवत्येव, तथाहि–शब्दं श्रुत्वा या मतिरुत्पद्यते सा श्रुतपूर्वेति प्रतीतम्, अतो न विशेषः, यथा मतिपूर्वं श्रुतं तथा मतिरपि श्रुतपूर्वेति, अत्रोच्यते–ननु सा द्रव्यश्रुतोद्भवा वर्त्तते, इह तु 'न मतिः श्रुतपूर्वा' इति का भावना ? भावश्रुतात् सकाशाद् मतिर्नास्तीति, यद्वा कार्यतया निषिध्यते–न पुनः क्रमेण, क्रमेण तु श्रुतोपयोगात् च्युतस्य मत्यवस्थानमिष्यत एवेत्यलं प्रसङ्गेन । न चैतत् स्वमनीषिकयोच्यते, यतोऽभ्यधायि भाष्यकृता–

णाणाणऽण्णाणाणि य समकालाइं जतो मइ-सुयाइं । तो न सुयं मतिपुव्वं, मतिणाणे वा सुयऽण्णाणं ॥ १ ॥
इह लद्धिमइ-सुयाइं समकालाइं, न तूवयोगो सिं । मतिपुव्वं सुयमिह पुण सुतोपयोगो मतिप्पभवो ॥ २ ॥
सोऊण जा मती भे सा सुयपुव्व त्ति तेण ण विसेसो । सा दव्वसुयप्पभवा, भावसुयाओ मती नत्थि ॥ ३ ॥
कज्जतया, ण तु कमसो, कमेण को वा मतिं निवारेइ ? । जं तत्थावत्थाणं चुतस्स सुत्तोवयोगाओ ॥ ४ ॥
[विशेषा. गा. १०७–१०]

इतश्च मति-श्रुतयोर्भेदः–भेदभेदात्; तथाहि–अवग्रहादिभेदादष्टाविंशतिविधं मतिज्ञानम्, अङ्गप्रविष्टाद्यनेकभेदभिन्नं च श्रुतज्ञानम्। इन्द्रियोपयोगलाभतो लाभविभागतो वा । उक्तं च–

सोइंदिओवलद्धी होइ सुतं, सेसयं तु मतिणाणं । मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ १ ॥
[विशेषा. गा. ११७]

इतश्च भेदः–अनक्षरमपि मतिज्ञानम्, अक्षरानुगतं च श्रुतज्ञानमिति। अथवाऽऽत्मप्रत्यायकं मतिज्ञानम्, स्व-परप्रत्यायकं श्रुतज्ञानम् । आवरणभेदाच्च भेद इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ इह च यथा मति-श्रुतयोः कार्य-कारणभेदान्मिथो भेदस्तथा सम्यग्-मिथ्यादर्शनपरिग्रहविशेषात् स्वरूपतोऽपि भेद इति दर्शयन्नाह–

४५. अविसेसिया मती मतिणाणं च मतिअण्णाणं च। विसेसिया मती सम्मद्दिट्ठिस्स मती मतिणाणं, मिच्छादिट्ठिस्स मती मतिअण्णाणं। अविसेसियं सुयं सुयणाणं च सुयअण्णाणं च। विसेसियं सुयं सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयणाणं, मिच्छद्दिट्ठिस्स सुयं सुयअण्णाणं।

४५. **अविसेसिता** इत्यादि । अविशेषिता मतिः सामान्येनैव मतिज्ञानं मत्यज्ञानं च, सामान्येनोभयत्रापि मतिशब्दप्रवृत्तेः । 'विशेषिता मतिः' स्वामिविशेषेण सम्यग्दृष्टेर्मतिर्मतिज्ञानम्, निश्चयनयदर्शनेन स्वकार्यप्रसाधकत्वात्; मिथ्यादृष्टेर्मतिः मत्यज्ञानम्, तत्त्वतः स्वफलरहितत्वादित्यर्थः । एवं श्रुतसूत्रमपि व्याख्येयम् । आह–क्षयोपशमादिकारणाभेदे घटादिपरिच्छेदकार्याभेदे च कथं मिथ्यादृष्टेरज्ञाने ? इति, तथा च मिथ्यादृष्टेरपि क्षयोपशमादेव मति-श्रुतप्रवृत्तिः, तथोर्ध्वादिलक्षणाकारमेव घटादिसंवेदनमिति, अत्रोच्यते–मिथ्यादृष्टेरज्ञाने मति-श्रुते, सदसतोरविशेषात्, उन्मत्तकवत् । उक्तं च भाष्यकारेण—

सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ । णाणफलाभावातो, मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं ॥ १ ॥
[विशेषा. गा. ११५]

विनेयजनानुग्रहार्थमियं लेशतो व्याख्यायत इति–मिथ्यादृष्टिः कथञ्चित् सन्तमपि पुरुषे देवादिधर्मं न प्रतिपद्यते, पुरुष एवेत्यभ्युपगमात्; तथा असन्तमपि घटादिधर्मं प्रतिपद्यते, अस्त्येवेत्यभ्युपगमात्; अतः सदसतोरविशेष इति । अतश्च मिथ्यादृष्टेर्मति-श्रुते अज्ञाने, भवहेतुत्वाच्च, मिथ्यादर्शनवत् । इतश्चाज्ञानम्–यदृच्छोपलब्धेः, उन्मत्तवत् । इतश्चाज्ञानम्–[ज्ञान]फलाभावात्, अन्धप्रदीपवत्, ज्ञानस्य हि फलं विरतिः, सा च मिथ्यादृष्टेर्न विद्यत इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ प्रकृतं प्रस्तुमः–इह मतिपूर्वं श्रुतमिति कृत्वा मतिज्ञानमेवाधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

४६. से किं तं आभिणिबोहियणाणं ? आभिणिबोहियणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–सुयणिस्सियं च असुयणिस्सियं च ।

४६. **से किं तमित्यादि** । अत्र निर्वचनम्–द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–श्रुतनिश्रितं चाश्रुतनिश्रितं च । 'चौ' पूर्ववत् । श्रुतमिह सामायिकादि लोकबिन्दुसारान्तं द्रव्यश्रुतं गृह्यते, तदनुसारेण श्रुतपरिकर्मितमतेस्तदपेक्षमेव चोत्पादकाले यदुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितं अवग्रहादि । यत्पुनस्तदनपेक्षं तथाविधक्षयोपशमप्रभवमेव वर्त्तते तदश्रुतनिश्रितं औत्पत्तिक्यादि । आह–इदमप्यवग्रहादिरूपमेव, सत्यम्, किन्तु श्रुतानुसारमन्तरेणोत्पत्तेर्भेदेनोक्तम् ॥

तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादश्रुतनिश्रितमतिज्ञानप्रतिपादनायाह—

४७. से किं तं असुयणिस्सियं ? असुयणिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—

उप्पत्तिया १ वेणइया २ कम्मया ३ पारिणामिया ४ ।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पंचमा नोवलब्भइ ॥ ५८ ॥

पुव्वं अदिट्ठमसुयमवेइयतक्खणविसुद्धगहियत्था ।
अव्वाहयफलजोगा बुद्धी उप्पत्तिया णाम ॥ ५९ ॥

भरहसिल १ पणिय २ रुक्खे ३ खुड्डग ४ पड ५ सरड ६ काय ७ उच्चारे ८ ।
गय ९ घयण १० गोल ११ खंभे १२
खुड्डग १३ मग्गि १४ त्थि १५ पति १६ पुत्ते १७ ॥ ६० ॥

भरह सिल १ मिंढ २ कुक्कुड ३ वालुय ४ हत्थी ५ [य] अगड ६ वणसंडे ७ ।

पायस ८ अइया ९ पत्ते १० खाडहिला ११ पंच पियरो १२ य ॥ ६१ ॥
महुसित्थ १८ मुद्दि १९ यंके २० य णाणए २१ भिक्खु २२ चेडगणिहाणे २३ ।
सिक्खा २४ य अत्थसत्थे २५ इच्छा य महं २६ सतसहस्से २७ ॥ ६२ ॥ १ ।

भरणित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला ।
उभयोलोगफलवती विणयसमुत्था हवति बुद्धी ॥ ६३ ॥

णिमित्ते १ अत्थसत्थे २ य लेहे ३ गणिए ४ य कूव ५ अस्से ६ य ।
गद्दभ ७ लक्खण ८ गंठी ९ अगए १० रहिए य गणिया य ११ ॥ ६४ ॥

सीया साडी दीहं च तणं अवसव्वयं च कुंचस्स १२ ।
निव्वोदए १३ य गोणे घोडग पडणं च रुक्खाओ १४ ॥ ६५ ॥ २ ।

उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिघोलणविसाला ।
साहुक्कारफलवती कम्मसमुत्था हवति बुद्धी ॥ ६६ ॥

हेरण्णिए १ करिसए २ कोलिय ३ डोए ४ य मुत्ति ५ घय ६ पवए ७ ।
तुण्णाग ८ वड्ढती ९ पूतिए १० य घड ११ चित्तकारे १२ य ॥ ६७ ॥ ३ ।

अणुमाण-हेउ-दिट्ठंतसाहिया वयविवागपरिणामा ।
हिय-णीसेसफलवती बुद्धी परिणामिया णाम ॥ ६८ ॥

अभए १ सेट्ठि २ कुमारे ३ देवी (?वे) ४ उदिओदए हवति राया ५ ।
साहू य णंदिसेणे ६ धणदत्ते ७ साव(?वि)ग ८ अमच्चे ९ ॥ ६९ ॥
खमए १० अमच्चपुत्ते ११ चाणक्के १२ चेव थूलभद्दे १३ य ।
णासिक्कसुंदरीनंदे १४ वइरे १५ परिणामिया बुद्धी ॥ ७० ॥
चलणाहण १६ आमंडे १७ मणी १८ य सप्पे १९ य खग्गि २० थूभि २१ दे २२ ।
परिणामियबुद्धीए एवमादी उदाहरणा ॥ ७१ ॥ ४ ।

से त्तं असुयनिस्सियं ।

४७. से किं तमित्यादि । अत्र–उप्पत्तिया० गाहा । व्याख्या–उत्पत्तिरेव प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी । आह–क्षयोपशमः प्रयोजनमस्याः, सत्यम्, किन्तु स खल्वन्तरङ्गत्वात् सर्वबुद्धिसाधारण इति न विवक्ष्यते, न चान्यच्छास्त्र-स्वकर्माभ्यासादिकमपेक्षत इति । विनयः–गुरुशुश्रूषा स कारणमस्यास्तत्प्रधाना वा वैनयिकी । अनाचार्यकं कर्म, साचार्यकं शिल्पम्, नित्यव्यापारः कर्म, कादाचित्कं शिल्पम्, 'कर्मजेति' कर्मणो जाता कर्मजा । परि–समन्ताद्

नमनं परिणामः–सुदीर्घकालपूर्वापरार्थावलोकनादिजन्य आत्मधर्म इत्यर्थः, स कारणमस्यास्तत्प्रधाना वा पारिणामिकी। बुध्यते अनयेति बुद्धिः, मतिरित्यर्थः, सा चतुर्विधोक्ता तीर्थकर-गणधरैः। किमिति ? यस्मात् पञ्चमी नोपलभ्यते केवलिनाऽपि, असत्त्वादिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ औत्पत्तिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

पुव्व० गाहा। 'पूर्व'मिति बुद्ध्युत्पादात् प्राक् स्वयमदृष्टः अन्यतश्चाश्रुतः अवेदितः–मनसाऽप्यनालोचितः तस्मिन्नेव क्षणे विशुद्धः–यथावस्थितः गृहीतः–अवधारितः अर्थः–अभिप्रेतपदार्थो यया सा तथा। इहैकान्तिकमिह-परलोकाविरुद्धं फलान्तराबाधितं चाव्याहतमुच्यते, फलं–प्रयोजनम्, अव्याहतं च तत् फलं च अव्याहतफलम्, योगोऽस्यास्तीति योगिनी, अव्याहतफलेन योगिनी अव्याहतफलयोगिनी। अन्ये पठन्ति–'अव्याहतफलयोगा' अव्याहतफलेन योगोऽस्याः सा अव्याहतफलयोगा बुद्धिः औत्पत्तिकी नामेति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

साम्प्रतं विनेयजनानुग्रहायास्या एव स्वरूपप्रतिपादनार्थमुदाहरणानि प्रतिपादयन्नाह—

भरहसिल पणिय० गाहा। भरह० गाहा। महुसित्थ० गाहा। आसामर्थः कथानकेभ्य एवावसेयः। तानि चावसरप्राप्तान्यपि गुरुनियोगान्न ब्रूमः, किन्त्वावश्यके वक्ष्यामः ॥६०॥६१॥६२॥

अधुना वैनयिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

भरणित्थ० गाहा। व्याख्या–इहातिगुरु कार्यं दुर्निर्वहत्वाद् भर इव भरः, तन्निस्तरणे समर्था भरनिस्तरणसमर्था। त्रयो वर्गास्त्रिवर्गमिति लोकरूढेर्धर्मा-ऽर्थ-कामाः, तदर्जनपरोपायप्रतिपादननिबन्धनं सूत्रम्, तदन्वाख्यानं त्वर्थः, पेयालं–प्रमाणं सारो वा, त्रिवर्गसूत्रार्थयोर्गृहीतं प्रमाणं सारो वा यया सा तथाविधा। अथवा त्रिवर्गः–त्रैलोक्यम्। आह–त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वे सति अश्रुतनिश्रितत्वं विरुध्यते ? इति, न हि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं सम्भवति, अत्रोच्यते–इह प्रायोवृत्तिमङ्गीकृत्याश्रुतनिश्रितत्वमुक्तम्, अतः स्वल्पश्रुतनिश्रितभावेऽपि न कश्चिद् दोष इति। 'उभयलोकफलवती' ऐहिका-ऽऽमुष्मिकफलवती 'विनयसमुत्था' विनयोद्भवा भवति बुद्धिरिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ अस्या एव विनेयजनानुग्रहार्थमुदाहरणैः स्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

णिमित्ते० गाहा। सीता० गाहा। गाथाद्वयार्थः कथानकेभ्य एवावसेयः। तानि चोत्तरत्र वक्ष्यामः ॥६४॥६५॥ साम्प्रतं कर्मजाया बुद्धेर्लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

उवयोग० गाहा। व्याख्या–उपयोजनमुपयोगः–विवक्षिते कर्मणि मनसोऽभिनिवेशः, सारः–तस्यैव कर्मणः परमार्थः, उपयोगेन दृष्टः सारो ययेति समासः, अभिनिवेशोपलब्धकर्मपरमार्थेत्यर्थः। कर्मणि प्रसङ्गः कर्मप्रसङ्गः, प्रसङ्गः–अभ्यासः, परिघोलनं–विचारः, कर्मप्रसङ्ग-परिघोलनाभ्यां विशाला कर्मप्रसङ्ग-परिघोलनविशाला, अभ्यास-विचारविस्तीर्णेति भावार्थः। साधु कृतमिति–सुष्ठु कृतमिति विद्वद्भ्यः प्रशंसा साधुकारः, तेन फलवतीति समासः, साधुकारेण वा शेषमपि फलं यस्याः सा तथा। 'कर्मसमुत्था' कर्मोद्भवा भवति बुद्धिरिति गाथार्थः ॥६६॥ अस्या अपि विनेयवर्गानुकम्पयोदाहरणैः स्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

हेरण्णिए० गाहा। व्याख्या–अस्या अप्यर्थं वक्ष्यामः ॥६७॥ साम्प्रतं पारिणामिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह–

अणुमाण० गाहा। व्याख्या–अनुमान-हेतु-दृष्टान्तैः साध्यमर्थं साधयतीति अनुमान-हेतु-दृष्टान्तसाधिका। इह लिङ्गज्ञानमनुमानम्, स्वार्थमित्यर्थः, तत्प्रतिपादकं वचो हेतुः, परार्थमित्यर्थः। अथवा ज्ञापकमनुमानम्, कारको हेतुः। दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः। आह–अनुमानग्रहणादेव दृष्टान्तस्य गतत्वादलमुपन्यासेन, न, अनुमानस्य तत्त्वत एकलक्षणत्वात्। उक्तं च–"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?" [ ] इत्यादि। साध्यो-

पमाभूतश्च दृष्टान्तः । उक्तं च–"यः साध्यस्योपमाभूतः स दृष्टान्त इति कथ्यते" । कालकृतो देहावस्थाविशेषो वय इत्युच्यते, तद्विपाकेन परिणामः–पुष्टता यस्याः सा तथाविधा । हितम्–अभ्युदयस्तत्कारणं वा, निःश्रेयसं–मोक्षस्तन्निबन्धनं वा, हित-निःश्रेयसाभ्यां फलवती बुद्धिः पारिणामिकीति गाथार्थः । ॥६८॥

अस्या अपि शिष्यगणहितायोदाहरणैः स्वरूपं दर्शयन्नाह–

अभए० गाहा । खमए० गाहा । चलणा० गाहा । आसामर्थः कथानकेभ्य एवावसेयः । तानि चान्यत्र वक्ष्यामः ॥६९॥७०॥७१॥ "से तं" इत्यादि, तदेतदश्रुतनिश्रितम् ॥

४८. से किं तं सुयणिस्सियं मतिणाणं ? सुयणिस्सियं मतिणाणं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा–उग्गहे १ ईहा २ अवाए ३ धारणा ४ ।

४८. से किं तमित्यादि । चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–अवग्रह ईहा अपायो धारणा । अवग्रहणमवग्रहः, सामान्यमात्रानिर्देश्यार्थग्रहणमित्यर्थः । तथा ईहनमीहा, सदर्थपर्यालोचनचेष्टेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति–अवग्रहादुत्तीर्णः अपायात् पूर्वः सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेषत्यागाभिमुखश्च प्रायो मधुरत्वादयः शङ्खादिशब्दधर्मा अत्र घटन्ते, न खर-कर्कश-निष्ठुरतादयः शार्ङ्गादिशब्दधर्मा इति मतिविशेष ईहेति । तथा तदर्थाध्यवसायोऽपायः निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम् । एतदुक्तं भवति–'शाङ्ख एवायम्, शार्ङ्ग एव वा' इत्याद्यवधारणात्मकः प्रत्ययोऽपाय इति । तथा तदर्थविशेषधरणं धारणा, अविच्युति-स्मृति-वासनारूपा ॥

४९. से किं तं उग्गहे ? उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य ।

४९. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयमवग्रहः ? अवग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–अर्थावग्रहश्च व्यञ्जनावग्रहश्च । अर्थ्यत इत्यर्थः, अर्थस्यावग्रहोऽर्थावग्रहः, सकलविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यार्थग्रहणमेकसामयिकमिति भावार्थः । व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम्, तच्चोपकरणेन्द्रियं शब्दादिपरिणतद्रव्यसङ्घातो वा, ततश्च व्यञ्जनेन–उपकरणेन्द्रियेण व्यञ्जनानां–शब्दादिपरिणतद्रव्याणामवग्रहो व्यञ्जनावग्रहः । अथार्थावग्रहस्य तु (?सु) लक्ष्यत्वात् सकलेन्द्रियार्थव्यापकत्वाच्च प्रथममुपन्यासः, ततो दुर्लक्ष्यत्वात् सकलेन्द्रियार्थाव्यापकत्वाच्चेतरस्य ॥

५०. से किं तं वंजणोग्गहे ? वंजणोग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–सोतिंदियवंजणोग्गहे १ घाणेंदियवंजणोग्गहे २ जिब्भिदियवंजणोग्गहे ३ फासेंदियवंजणोग्गहे ४ । से त्तं वंजणोग्गहे ।

५०. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं व्यञ्जनावग्रहः ? इत्यत्र पुनरुत्पत्तिक्रम एवाऽऽश्रितो यथासम्भवमिति सुश्लिष्टमेतदिति । प्रकृतमुच्यते–व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह इत्यादि सूत्रसिद्धम् । आह–पञ्चेन्द्रिय-मनःसद्भावे सति किमित्ययं चतुर्विधः ? इति, अत्रोच्यते, नयन-मनसोरप्राप्तकारित्वात्, अप्राप्तकारित्वं च विषयकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वात्, प्राप्तकारित्वे पुनरनल-जल-शूलाद्यालोकने दहन-क्लेदन-पाटनादयः स्युः । अत्र च विषयदेशं गत्वा न पश्यति, प्राप्तं चार्थं नाऽऽलम्बत इत्येतावन्नियम्यते, मूर्तिमता पुनः प्राप्तेन भवत एवानुग्रहोपघातौ भास्करकिरणादिनेति । अन्यस्त्वाह–व्यवहितार्थानुपलब्धेरनुमानात् प्राप्तकारित्वं लोचनस्येति, एतदयुक्तम्, अनैकान्तिकत्वात्, दृष्टोऽभ्रपटल-स्फटिकान्तरितोपलब्धेः । स्यादेतत्–नायना रश्मयो निर्गत्य

तमर्थं गृह्णन्तीति दर्शने रश्मीनां तैजसत्वात् तेजोद्रव्यैरप्रतिस्खलनाददोष इति, एतदप्ययुक्तम्, महाज्वालादौ प्रतिस्खलनोपलब्धेरिति । अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात्, गमनिकामात्रमेतदिति ॥

५१. [१] से किं तं अत्थोग्गहे? अत्थोग्गहे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियअत्थोग्गहे १ चक्खिंदियअत्थोग्गहे २ घाणिंदियअत्थोग्गहे ३ जिब्भिंदियअत्थोग्गहे ४ फासिंदियअत्थोग्गहे ५ णोइंदियअत्थोग्गहे ६। [२] तस्स णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा—ओगिण्हणया १ उवधारणया २ सवणता ३ अवलंबणता ४ मेहा ५। से त्तं उग्गहे।

५१. [१] से किं तमित्यादि । अथ कोऽयमर्थावग्रहः?, अर्थावग्रहः षड्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत्—

[२] तस्स णं इमे इत्यादि । 'तस्य' अवग्रहस्य 'अमूनि' वक्ष्यमाणानि "णं" पूर्ववद् अवग्रहसामान्यापेक्षयैकार्थिकानि नानाघोषाणि नानाव्यञ्जनानि पञ्च नामधेयानि भवन्ति । घोषाः—उदात्तादयः । कादीनि व्यञ्जनानि । नामैव नामधेयम्, अवग्रहविशेषापेक्षया तु कथञ्चिद् भिन्नार्थानि । त्रिविधश्चावग्रहः—सामान्यावग्रहो विशेषावग्रहः विशेषसामान्यार्थावग्रहश्चेति । तत्र भिन्नार्थता निदर्श्यते—"तं जहा—ओगिण्हणते"त्यादि, अवगृह्यतेऽनेनेति अवग्रहणम्, करणे ल्युट्, व्यञ्जनावग्रहप्रथमसमयप्रविष्टशब्दादिद्रव्यादानपरिणाम इत्यर्थः, तद्भावः अवग्रहणता १ । धार्यतेऽनेनेति धारणम् । उप—सामीप्येन धारणं उपधारणम्, व्यञ्जनावग्रहद्वयादिसमयेष्ववसानान्तं प्रतिसमयमेव शब्दादिद्रव्यादान-धारणपरिणाम इति भावना, तद्भाव उपधारणता २ । श्रूयतेऽनेनेति श्रवणम्, एकसामयिकसामान्यार्थावग्रहावबोधपरिणाम इत्युक्तं भवति, तद्भावः श्रवणता ३ । अवलम्ब्यत इत्यवलम्बनम्, "कृत्यल्युटो बहुलम्" [पाणि. ३. ३. ११३] इतिवचनात् कर्मणि ल्युट्, तद्भावः अवलम्बनता, विशेषसामान्यार्थावग्रह इति भावार्थः । तथाहि—उत्तरोत्तरधर्मजिज्ञासायां सत्यां शब्दादिज्ञानमेवावलम्ब्येहादयः प्रवर्त्तन्ते, 'किमयं शाङ्खः? किं वा शार्ङ्गः?' इति, अतस्तदनन्तरमेवेहादिप्रवृत्तेर्विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनमिति ४ । एवमुत्तरोत्तरधर्मजिज्ञासायां सत्यां विशेषसामान्यार्थावग्रहेषु मर्यादया धावतो मेधोच्यते, यावदधिगच्छति, यथा—शाङ्खः, स किं मन्द्रः? किं वा तारः? इत्यादि ५ । यत्र व्यञ्जनावग्रहो नास्ति तत्राद्यभेदद्वयाभाव इति । "से तं उग्गहे" सोऽयमवग्रहः ॥

५२. [१] से किं तं ईहा? ईहा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—सोतेंदियईहा १ चक्खिंदियईहा २ घाणेंदियईहा ३ जिब्भिंदियईहा ४ फासेंदियईहा ५ णोइंदियईहा ६।

[२] तीसे णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा—आभोगणया १ मग्गणया २ गवेसणया ३ चिंता ४ वीमंसा ५। से त्तं ईहा।

५२. [१] से किं तमित्यादि सूत्रं निगदसिद्धं यावत्—

[२] 'आभोगनता' इहार्थावग्रहसमयसमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनमाभोगनमुच्यते, तद्भाव आभोगनता १ । मृग्यतेऽनेन परिणामकरणेनेति मार्गणम्, सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव तदूर्ध्वमन्वय-व्यतिरेकधर्मान्वेषणमिति हृदयम्, तद्भावो मार्गणता २ । एवमन्विष्यतेऽनेनेति गवेषणम्, तत ऊर्ध्वं सद्भूतार्थविशेषाभिमुख-

मेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्माध्यासेनाऽऽलोचनमिति गर्भः, तद्भावो गवेषणता ३। ततो मुहुर्मुहुः क्षयोपशमविशेषतः स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थविशेषचिन्तनं चिन्ता ४। विमर्षणं विमर्षः, क्षयोपशमविशेषादेवोर्ध्वं स्पष्टतरावबोधतः सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्मालोचनं विमर्षः, नित्या-ऽनित्यादिद्रव्यभावालोचनमित्यन्ये ५। "से तं ईहा" ॥

५३. [१] से किं तं अवाए ? अवाए छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियावाए १ चक्खिदियावाए २ घाणेंदियावाए ३ जिब्भिंदियावाए ४ फासेंदियावाए ५ णोइंदियावाए ६।

[२] तस्स णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा—आवट्टणया १ पच्चावट्टणया २ अवाए ३ बुद्धी ४ विण्णाणे ५। से त्तं अवाए।

५३. [१] से किं तमित्यादि सूत्रसिद्धं यावद्—

[२] 'आवर्त्तनता' वर्त्यतेऽनेनेति वर्त्तनं-क्षयोपशमकरणमेव, ईहाभावनिवृत्त्यभिमुखस्यापायभावप्रतिपत्त्यभिमुखस्य चार्थविशेषावबोधविशेषस्य आ-मर्यादया वर्तनमावर्त्तनम्, तद्भाव आवर्त्तनता १। ततः प्रतिपत्त्याऽऽवर्त्तनं प्रत्यावर्त्तनं, अर्थविशेष एव विवक्षितापायप्रत्यासन्नतरबोधविशेषाणां मुहुर्मुहुर्वर्त्तनमित्यर्थः, तद्भावः प्रत्यावर्त्तनता २। अप अयः अपायः, विशेषतः सङ्कलनेन निश्चयो निर्णयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम्, सर्वथेहाभावान्निवृत्तस्यावधारणावधारितमर्थमवगच्छतोऽपाय इति भावार्थः ३। ततस्तमेवावधारितमर्थं क्षयोपशमविशेषात् स्थिरतया पुनः पुनः स्पष्टतरमेव बुद्धयमानस्य बुद्धिः ४। विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्, क्षयोपशमविशेषादवधारितार्थविषयमेव तीव्रतरधारणाकारणमित्यर्थः ५। "से तं अवाए" सोऽयमपायः ॥

५४. [१] से किं तं धारणा ? धारणा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियधारणा १ चक्खिदियधारणा २ घाणिंदियधारणा ३ जिब्भिंदियधारणा ४ फासिंदियधारणा ५ णोइंदियधारणा ६। [२] तीसे णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा—धरणा १ धारणा २ ठवणा ३ पतिट्ठा ४ कोट्ठे ५। से त्तं धारणा।

५४. [१] से किं तमित्यादि निगदसिद्धं यावद्—

[२] धरणा इत्यादि। अपायानन्तरमवगतार्थमविच्युत्या जघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं धारयतो धरणेति भण्यते १। ततस्तमेवार्थं उपयोगात् च्युतं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तादुत्कृष्टतोऽसङ्ख्येयकालात् परतः स्मरतो धरणं धारणोच्यते २। स्थापनं स्थापना, ततोऽपायावधारितमर्थं पूर्वापरालोचितं हृदि स्थापयतः स्थापना, मूर्त्तघटस्थापनावत्, वासनेत्यर्थः। अन्ये तु धारणा-स्थापनयोर्व्यत्ययेन स्वरूपमाचक्षते ३। प्रतिष्ठापनं प्रतिष्ठा, अपायावधारितमेवार्थं हृदि प्रभेदेन प्रतिष्ठापयतः प्रतिष्ठा भण्यते, जले उपलप्रक्षेपप्रतिष्ठावत् ४। 'कोष्ठकः' इति अविनष्टसूत्रार्थबीजधारणात् कोष्ठकवद् धारणा कोष्ठक इति ५। इहाऽऽत्मनो ज्ञानस्वभावत्वाज्ज्ञानावरणीयादिकर्ममलपटलाच्छादितस्वभावत्वात् गुरुवदनसमुत्थशब्दाद्यनेकविधकारणापाद्यमानक्षयोपशमसामर्थ्यादवबोधः, ज्ञेयस्य चानन्तधर्मात्मकत्वात् कालक्षयोपशमविशेषतोऽवग्रहेहा-ऽपायावबोधविशेषो भावनीयः, कथञ्चिदेकाधिकरणत्वात्, अन्यथा परिच्छेदप्रवृत्तिलक्षणसकललोकप्रसिद्धसंव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इत्यलं प्रसङ्गेन, गमनिकामात्रमेतत् ॥

अवग्रहादिकालप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह —

५५. उग्गहे एक्कसामइए, अंतोमुहुत्तिया ईहा, अंतोमुहुत्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं ।

५५. उग्गहे० इत्यादि। अर्थावग्रह एकसामयिकः। आन्तर्मौहूर्तिकी ईहा। आन्तर्मौहूर्तिकोऽपायः। धारणा सङ्ख्येयं वाऽसङ्ख्येयं वा कालं स्मृति-वासनारूपा, सङ्ख्येयवर्षायुषां सङ्ख्येयमसङ्ख्येयवर्षायुषामसङ्ख्येयम् ॥

५६. एवं अट्ठावीसतिविहस्स आभिणिबोहियणाणस्स वंजणोग्गहस्स परूवणं करिस्सामि पडिबोहगदिट्ठंतेण मल्लगदिट्ठंतेण य ।

५६. एवं अट्ठावीसतिविधस्सेत्यादि। 'एवं' उक्तेन प्रकारेण अष्टाविंशतिविधस्य। कथमष्टाविंशतिविधम्? चतुर्विधो व्यञ्जनावग्रहः, षड्विधोऽर्थावग्रहः षड्विधा ईहा, षड्विधोऽपायः, षड्विधा धारणा। एवमष्टाविंशतिविधस्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानस्य सबन्धी यो व्यञ्जनावग्रहः तस्य 'प्ररूपणं' प्रतिपादनं करिष्यामि। कथम्? प्रतिबोधकदृष्टान्तेन मल्लकदृष्टान्तेन च ॥

५७. से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं? पडिबोहगदिट्ठंतेणं से जहाणामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोधएज्ज 'अमुगा! अमुग!' त्ति, तत्थ य चोयगे पन्नवगं एवं वयासी— किं एगसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति? दुसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति? जाव दससमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति? संखेज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति? असंखेज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति?। एवं वदंतं चोयगं पण्णवगे एवं वयासी—णो एगसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, णो दुसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, जाव णो दससमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, णो संखेज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, असंखेज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति । से त्तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ।

५७. से किं तमित्यादि। प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधकः, स एव दृष्टान्तस्तेन। तद् यथानाम 'कश्चिद्' अनिर्दिष्टस्वरूपः पुरुषः 'कञ्चित्' अन्यतममनिर्दिष्टस्वरूपमेव पुरुषं सुप्तं सन्तं "पडिबोधएज्ज" त्ति प्रतिबोधयेत्। कथम्? 'अमुक! अमुक!' इति। तत्र 'चोदके'त्यादि। इह ज्ञानावरणकर्मोदयतः कथितमपि सूत्रार्थमनवगच्छन् प्रश्नचोदनात् चोदकः, अविशिष्टक्षयोपशमभावतो वा अगृहीतशास्त्रगर्भार्थः पूर्वापरविरोधचोदनात् चोदकः। यथाऽवस्थितं सूत्रार्थं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापकः, श्रौतार्थापेक्षया विरुद्धं पुनरुक्तसूत्रं वा अर्थतोऽविरुद्धमपुनरुक्तं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापकः। तत्र चोदकः प्रज्ञापकं एवमुक्तवानिति, भूतकालनिर्देशः "अनादिमानागमः" इति ख्यापनार्थः। 'किमेकसमयप्रविष्टे'त्यादि सुगमं यावत् 'एवं वदन्तं चोदकं प्रज्ञापक एवमुक्तवान्'। 'नो एकसमयप्रविष्टे'त्यादि प्रकटार्थं यावद् 'नो सङ्ख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति'। नवरमयं प्रतिषेधः स्फुटशब्दविज्ञानग्राह्यता-

मधिकृत्य वेदितव्यः, शब्दविज्ञानजनकत्वेनेत्यर्थः, अन्यथा सम्बन्धमात्रमधिकृत्य प्रथमसमयादारभ्य ग्रहणमागच्छन्त्येव । "असंखेज्ज" इत्यादि, प्रतिसमयप्रवेशेनाऽऽदित आरभ्य असङ्ख्येयसमयैः प्रविष्टैरसङ्ख्येयसमयप्रविष्टाः, न पुनर्विंशत्याऽहोभिः पथिकगृहप्रवेशवदपान्तरालागमनसमयापेक्षयाऽसङ्ख्येयसमयप्रविष्टा इति, 'पुद्गलाः' शब्दद्रव्यविशेषा ग्रहणमागच्छन्ति, अर्थावग्रहज्ञानहेतवो भवन्तीति भावः । इह च चरमसमयप्रविष्टा एव ग्रहणमागच्छन्ति, तदन्ये त्विन्द्रियक्षयोपशमोपकारिण इत्योघतो ग्रहणमुक्तमिति । असङ्ख्येयमानं चात्र जघन्यमावलिकाऽसङ्ख्येयभागसमयतुल्यम्, उत्कृष्टं तु सङ्ख्येयावलिकासमयतुल्यम्, तच्च प्राणापानपृथक्त्वकालसमयमिति । उक्तं च—

वंजणवग्गहकालो आवलियाऽसंखभागमेत्तो उ । थोवो, उक्कोसो पुण आणापाणूपुहुत्तं ति ॥१॥

[ ]

"से तं" इत्यादि निगमनम् । सेयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणेति वाक्यशेषः ॥

५८. [१] से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं? मल्लगदिट्ठंतेणं से जहाणामए केइ पुरिसे आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खिवेज्जा से णट्ठे, अण्णे पक्खित्ते से वि णट्ठे, एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जण्णं तं मल्लगं रावेहिति, होही से उदगबिंदू जण्णं तंसि मल्लगंसि ठाहिति, होही से उदगबिंदू जण्णं तं मल्लगं भरेहिति, होही से उदगबिंदू जण्णं तं मल्लगं पवाहेहिति, एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं पक्खिप्पमाणेहिं अणंतेहिं पोग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरितं होति ताहे 'हुं' ति करेति णो चेव णं जाणति के वेस सद्दाइ?, तओ ईहं पविसति तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ, तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं ।

[२] से जहाणामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए, णो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ?, तओ ईहं पविसइ ततो जाणति अमुगे एस सद्दे, ततो णं अवायं पविसइ ततो से उवगयं हवति, ततो धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं । एवं अव्वत्तं रूवं, अव्वत्तं गंधं, अव्वत्तं रसं, अव्वत्तं फासं पडिसंवेदेज्जा ।

[३] से जहाणामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पडिसंवेदेज्जा, तेणं सुमिणे त्ति उग्गहिए ण पुण जाणति के वेस सुमिणे? त्ति, तओ ईहं पविसइ तओ जाणति अमुगे एस सुमिणे त्ति, ततो अवायं पविसइ ततो से उवगयं हवइ, ततो धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं । से त्तं मल्लगदिट्ठंतेणं ।

५८. [१] से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं मल्लकदृष्टान्त ?, मल्लकदृष्टान्तो नाम तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः 'आपाकशिरसः' आपाकः प्रतीतः तच्छिरसश्च 'मल्लकं' शरावं गृहीत्वा, 'इदं रूक्षं भवति' इत्यतोऽस्य ग्रहणमिति, 'तत्र' मल्लके एकं उदकबिन्दुं प्रक्षिपेत् स नष्टः, तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थः । शेषं सुगमं यावत् "जण्णं तं मल्लकं रावेहिति" आर्द्रतां नेष्यति, शेषं सुगमं यावत् "एवामेव" इत्यादि, अतिबहुत्वात् प्रतिसमयमनन्तैः 'पुद्गलैः' शब्दपुद्गलैर्यदा तद् व्यञ्जनं पूरितं भवति तदा 'हुं' इति करोति, तमर्थं गृह्णातीत्युक्तं भवति । अत्र व्यञ्जनशब्देन त्रयमभिगृह्यते–द्रव्यं १ इन्द्रियं २ सम्बन्धो ३ वा । यदा द्रव्यं व्यञ्जनमधिक्रियते तदा 'पूरित'मिति प्रभूतीकृतम्, स्वप्रमाणमानीतम्, स्वविषयव्यक्तौ समर्थीकृतमित्यर्थः १ । यदा व्यञ्जनमिन्द्रियं तदा 'पूरित'मित्याभृतम्, आभृतं व्याप्तमित्यर्थः २ । यदा तु द्वयोरपि सम्बन्धोऽधिक्रियते तदा 'पूरित'मिति अङ्गाङ्गीभावमानीतम्, अनुषक्तमित्यर्थः ३ । एवं यदा पूरितं भवति तदानीं तमर्थं गृह्णाति । किंविशिष्टम् ? नाम-जात्यादिकल्पनारहितम्, तथा चाह–"णो चेव णं जाणइ के वेस सद्दादि ?" त्ति, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिरर्थ इति, एकसामयिकत्वादर्थावग्रहस्य, अत्रार्थावग्रहात् पूर्वं सर्वो व्यञ्जनावग्रह इति । "ततो ईहं पविसति" इत्यादि सुगमं यावत् "संखेज्जं वा असंखेज्जं वा कालं" ति । अत्राह–सुप्तमङ्गीकृत्य युज्यतेऽयं न्यायः, जाग्रतस्तु शब्दश्रवणसमनन्तरमेव अवग्रहेहाव्यतिरेकेणैवापायज्ञानमुत्पद्यते, तथोपलम्भात्, न चैतदनार्षम्, यत आह सूत्रकारः–"से जहाणामए" इत्यादिः अथवा यदुक्तम् "न पुनरेवं जानाति 'क एष शब्दादिः ?" किं तर्हि ? नाम-जात्यादिकल्पनारहितं गृह्णातीत्येतदयुक्तम्, यत एवमागमः–"से" इत्यादि, अथवा सुप्तप्रतिबोधक मल्लकदृष्टान्ताभ्यां व्यञ्जनाऽर्थावग्रहयोः सामान्येन स्वरूपमभिधाय अधुना मल्लकदृष्टान्तेनैव प्रतिपादयन्नाह—

[२] से जहा इत्यादि, तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः अव्यक्तं शब्दं शृणुयात् । 'अव्यक्तमिति' अनिर्देश्यस्वरूपं नामादिकल्पनारहितमिति, अनेनार्थावग्रहमाह, तस्य च श्रोत्रेन्द्रियसम्बन्धिनो व्यञ्जनावग्रहपूर्वकत्वाद् व्यञ्जनावग्रहं च । आह–न ह्यत्रैवं क्रम उपलभ्यते, किन्त्वक्षेपेण शब्दापायज्ञानमेव वेद्यते, सूत्रेऽव्यक्तमिति शब्दविशेषणं कृतमतोऽव्यक्तं सन्दिग्धं पुरुषादिशब्दभेदेन शब्दं शृणुयादिति, न्याय्यम्, तथा चोत्तरसूत्रमप्येतदेवाह–"तेणं सद्दे त्ति उग्गहिते" 'तेन' श्रोत्रा शब्द इत्यवगृहीतं "णो चेव णं जाणति के वेस सद्दादि" न पुनरेवं जानाति–कः 'एषः' पुरुषादिसमुत्थानामन्यतमः शब्द इति, आदिशब्दाद् रसादिष्वप्ययमेव न्याय इति ज्ञापयति । "ततो ईहं पविसति" इत्याद्यपि सम्बद्धमिति, नैतदेवम्, उत्पलपत्रशतव्यतिभेददृष्टान्तेन कालभेदस्य दुर्लक्षत्वाद् अक्षेपेण शब्दापायज्ञानानुपपत्तेः, यच्च 'तेन शब्द इत्यवगृहीतम्' इत्युक्तम्, अत्र 'शब्दः' इति भणति वक्ता सूत्रकार इति, करणनिर्देशात् शब्दमात्रं चाशेषविशेषविमुखम्, न तु शब्दबुद्ध्या, तस्यैवापायप्रसङ्गात्, अवग्रहादिश्रुतव्यतिरेकेण च मतिज्ञानानुत्पत्तेः, तथा चाह–"णो चेव ण"मित्यादि, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिरर्थः, सामान्यमात्रप्रतिभासनात् । आह च भाष्यकार —

अव्वत्तमणिद्देसं[1] सरूव-णामादिकप्पणारहितं । जदि एवं जं 'तेणं गहियं सद्दे' त्ति तं कह णु ? ॥१॥
'सद्दे' त्ति भणति वत्ता, तम्मत्तं वा ण सद्दमुत्ती(बुद्धी)ए । जदि होज्ज सद्दबुद्धी तोऽवाओ चेव सो होज्जा ॥२॥
जति सद्दबुद्धिमेत्तयमवग्गहे तव्विसेसणमवाओ[2] । णणु सद्दो णासद्दो ण य रूवादी विसेसोऽयं ॥३॥
थोवमियं णावायो तब्भेयाविक्खणं अवाओ त्ति । तब्भेयाविक्खाए णणु थोवमिणं पि णावाओ ॥४॥

[विशेषा. गा. २५२–५५] इत्यादि ।

---

१ **सामण्णमणिद्देसं** इति **महाभाष्ये** पाठो वर्तते ॥ २ **संखाइविसेसणं अवाओ त्ति** महाभाष्ये पाठः ॥

अन्ये त्वाचार्या इदं सूत्रं विशेषसामान्यार्थावग्रहविषयं व्याचक्षते–'अव्यक्तं' अनिर्द्धारितविशेषस्वरूपं अशब्दव्यवच्छेदेन शब्दं शृणुयात्, तेन शब्द इति शब्दमात्रमवगृहीतम्, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दः ?, शाङ्ख-शार्ङ्गीदीनामन्यतमः, आदिशब्दाद् रसादिपरिग्रहः, तत्रापीयमेव वार्तेति, युक्तियुक्ता चेयं व्याख्येति । ततः 'ईहां प्रविशति' सदर्थपर्यालोचनां करोति, इह च दुरवबोधत्वाद् वस्तुनः अपटुत्वाच्च मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्यासञ्जातापाय एवेहोपयोगात् च्युतः पुनरप्यन्यमन्तर्मुहूर्त्तमीहते, एवमीहोपयोगाविच्छेदत एव प्रभूतानप्यन्तर्मुहूर्त्तानीहत इति सम्भवः, ततः 'जानाती'त्यादि वस्तुतः गतार्थं यावत् स्पर्शनेन्द्रियवक्तव्यता । उक्तं च भाष्यकारेण—

सेसेसु वि रूवादिसु विसएसु वि होइ सूवलक्खाइं । पायं पच्चासन्नत्तणेणमीहादिवत्थूणि ॥१॥
थाणुपुरिसादि-कुट्टुप्पलादि-संभितकरिल्लमंसादी । सप्पोप्पलणालादि य समाणरूवादिविसयाइं ॥२॥
एवं चिय सुमिणादिसु मणसो सद्दादिएसु विसएसु । होंतिंदियवावाराभावे वि अवग्गहादीया ॥३॥

[विशेपा. गा. २९२--९४] इत्यादि ।

[३] से जहाणामए इत्यादि । इह प्रतिबोधप्रथमसमये 'अव्यक्तम्' अनिर्द्धारितस्वरूपं स्वप्नं प्रतिसंवेदयेत् तस्य तदाऽर्थावग्रहः, तत ऊर्ध्वमीहादय इति । अन्ये तु मनसोऽप्यर्थावग्रहात् पूर्वं व्यञ्जनावग्रहं मनोद्रव्यव्यञ्जनग्रहणलक्षणं व्याचक्षते तत् पुनरयुक्तम्, अनार्षत्वात्, व्यञ्जनावग्रहस्य श्रोत्रादिभेदेन चतुर्विधत्वात् । शेषं प्रकटार्थम् यावत् "से तं मल्लगदिट्ठंतेणं" । इह च सुखप्रतिपत्त्यर्थं स्वप्नमधिकृत्य नोइन्द्रियार्थावग्रहादयः प्रतिपादिताः, अन्यथाऽन्यत्रापीन्द्रियव्यापाराभावे सति मनसा पर्यालोचयतोऽवगन्तव्या इति । अत्राऽऽह–किमुक्तलक्षणमवग्रहादिक्रमं विहाय क्वचिदपि मतिज्ञानं नोत्पद्यते येनैवं क्रमः ? इति, अत्रोच्यते, नोत्पद्यते, तथाहि–नानवगृहीतमीह्यते, न चानीहितमवगम्यते, न चानवगतं धार्यते इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ सर्वमेवेदं द्रव्यादिभिर्निरूपयन्नाह—

५९. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणति ण पासति १ । खेत्तओ णं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ ण पासइ २ । कालओ णं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वं कालं जाणइ न पासइ ३ । भावओ णं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ ण पासइ ४ ।

५९. तं समासनो इत्यादि । द्रव्यत आभिनिबोधिकज्ञानी 'आदेशेन' आदेशः–प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च, तत्र द्रव्यजातिसामान्यादेशेन 'द्रव्याणि' धर्मास्तिकायादीनि जानाति, विशेषतोऽपि यथा धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य देश इत्यादि, न पश्यति सर्वात्मना धर्मास्तिकायादीन्, शब्दादीँस्तु योग्यदेशावस्थितान् पश्यत्यपि, श्रुतादेशतो वा जानाति । एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयम् । नवरं तान् न पश्यत्येव । तथा चोक्तं भाष्यकारेण—

आदेसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं । धम्मत्थिकाइयाइं जाणइ, न उ सँव्वभावेणं ॥ १ ॥

---

१ अन्ये इति नन्दिचूर्णिकृतः [पत्र ८०] ॥ २ "एव रूपादिष्वपि विषयेषु सुपलक्ष्याणि ईहादिवस्तूनि, प्रायः प्रत्यासन्नत्वात् स्थाणु-पुरुषादिना सादृश्यादित्यर्थः" इति स्वोपज्ञटीका ॥ ३ अन्ये नन्दीचूर्णिकृतः [पत्र ८१] ॥ ४ सव्वमेएणं इति महाभाष्ये पाठः ॥

खेत्तं लोगा-ऽलोगं, कालं सव्वद्धमहव तिविधो वि । पंचोदइयादीए भावे जं नेयमेवतियं ॥ २ ॥
आदेसो त्ति व सुत्तं, सुतोवलद्धेसु तस्स मतिणाणं । पसरइ, तब्भावणभाविणो वि सुत्ताणुसारेणं ॥ ३ ॥
[विशेषा. गा. ४०३–५]

साम्प्रतं सङ्ग्रहगाथा उच्यन्ते । तत्र—

६०. उग्गह ईहाऽवाओ य धारणा एव होंति चत्तारि ।
आभिणिबोहियणाणस्स भेयवत्थू समासेणं ॥ ७२ ॥

अत्थाणं उग्गहणं तु उग्गहं, तह वियालणं ईहं ।
ववसायं तु अवायं, धरणं पुण धारणं बिंति ॥ ७३ ॥

उग्गहो एक्कं समयं, ईहा-ऽवाया मुहुत्तमद्धं तु ।
कालमसंखं संखं च धारणा होति णायव्वा ॥ ७४ ॥

पुट्ठं सुणेति सद्दं, रूवं पुण पासती अपुट्ठं तु ।
गंधं रसं च फासं च बद्ध-पुट्ठं वियागरे ॥ ७५ ॥

भासासमसेढीओ सद्दं जं सुणइ मीसयं सुणइ ।
वीसेढी पुण सद्दं सुणेति णियमा पराघाए ॥ ७६ ॥

ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सती मती पण्णा सव्वं आभिणिबोहियं ॥ ७७ ॥

से त्तं आभिणिबोहियणाणपरोक्खं ।

६०. उग्गह० गाहा । व्याख्या–'अवग्रहः' प्रागभिरूपितशब्दार्थः, तथा ईहाऽपायश्च, चशब्दः पृथगवग्रहादिस्वरूपस्वातन्त्र्यप्रदर्शनार्थः, अवग्रहादीनामीहादयः पर्याया न भवन्तीत्युक्तं भवति; समुच्चयार्थो वा, यदा समुच्चयार्थस्तदा व्यवहितो द्रष्टव्यः, धारणा च । 'एवकारः' क्रमपरिदर्शनार्थः, एवमनेनैव क्रमेण भवन्ति चत्वार्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भिद्यन्त इति भेदाः विकल्पाः अंशा इत्यनर्थान्तरम्, त एव वस्तूनि भेदवस्तूनि । कथम् ? यतो नानवगृहीतमीह्यते, न चानीहितमवगम्यते, न चानवगतं धार्यत इति । अथवा काका नीयते, एवं भवन्ति चत्वार्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भेदवस्तूनि 'समासेन' सङ्क्षेपेण विशिष्टावग्रहादिस्वरूपापेक्षया, न तु विस्तरत इति, विस्तरतोऽष्टाविंशतिभेदभिन्नत्वात् तस्येति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

इदानीमनन्तरोपन्यस्तानामवग्रहादीनां स्वरूपं प्रतिपिपादयिषयाऽऽह—

अत्थाणं० गाहा । व्याख्या–तत्रार्यन्त इत्यर्थाः, अर्यन्ते–गम्यन्ते परिच्छिद्यन्त इति यावत्, ते च रूपादयः तेषामर्थानां प्रथमदर्शनानन्तरं च ग्रहणं अवग्रहम्, ब्रुवत इति योगः । आह–वस्तुनः सामान्य-विशेषात्मकतयाऽविशिष्ट-

त्वात् किमिति प्रथमं दर्शनं ततो ज्ञानम् ? इति, उच्यते, तस्य प्रबलावरणत्वाद् दर्शनस्य चाल्पावरणत्वादिति । 'तथा' इति आनन्तर्ये । विचारणं-पर्यालोचनम्, अर्थानामिति वर्तते, ईहनमीहा ताम्, ब्रुवत इति सम्बन्धः । विविधोऽवसायो व्यवसायः-निर्णयस्तं व्यवसायं च, अर्थानामिति वर्तते, अपायं ब्रुवत इति संसर्गः । धृतिर्धरणम्, अर्थानामिति वर्तते, परिच्छिन्नस्य वस्तुनः अविच्युति-स्मृति-वासनारूपम्, तद् धरणं पुनर्धारणां ब्रुवत इति, अनेन शास्त्रपारतन्त्र्यमाह, इत्थं तीर्थकर-गणधरा ब्रुवते । अन्ये त्वेवं पठन्ति-"अत्थाणं उग्गहणम्मि उग्गहो" इत्यादि, अत्राप्यर्थानामवग्रहणे सति 'अवग्रहो नाम' मतिविशेष इत्येवं ब्रुवते, एवमीहादिष्वपि योज्यम् । भावार्थस्तु पूर्ववदेवेति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ इदानीमभिहितस्वरूपाणामवग्रहादीनां कालप्रमाणमभिधित्सुराह—

उग्गहो० गाहा । व्याख्या-इहाभिहितलक्षणोऽर्थावग्रहो यो जघन्यो नैश्चयिकः स खल्वेकं समयं भवतीति सम्बन्धः । तत्र कालः परमनिकृष्टः समयोऽभिधीयते, स च प्रवचनप्रतिपादितोत्पलपत्रशतव्यतिभेदोदाहरणाज्जीर्णपट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताच्चावमेय इति । तथा सांव्यवहारिकार्थावग्रह-व्यञ्जनावग्रहौ तु पृथक् पृथगन्तर्मुहूर्तकालं भवत इति ज्ञातव्यौ । ईहा चापायश्चेहापायौ, प्राकृतशैल्या बहुवचनम्, उक्तं च—

बहुवयणेण दुवयणं, छट्ठिविभत्तीइ भण्णइ चउत्थी । जह हत्था तह पाया, नमोऽत्थु देवाहिदेवाणं ॥ १ ॥
[　　　　　　]

तावीहा-ऽपायौ मुहूर्तार्द्धं ज्ञातव्यौ भवतः । तत्र मुहूर्त्तशब्देन घटिकाद्वयपरिमाणः कालोऽभिधीयते, तस्यार्द्धं मुहूर्त्तार्द्धम् । 'तुशब्दः' विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ? व्यवहारापेक्षयैतन्मुहूर्त्तार्द्धमुक्तम्, तत्त्वतस्त्वन्तर्मुहूर्त्तमवसेयमिति । अन्ये त्वेवं पठन्ति-"मुहुत्तमंतं तु" मुहूर्त्तान्तस्तु, द्वे पदे, अयमर्थः-अन्तर्मध्यकरणे, 'तुशब्दः' एवकारार्थः, स चावधारणे, एतदुक्तं भवति-ईहा-ऽपायौ 'मुहूर्त्तान्तः' भिन्नं मुहूर्त्तं ज्ञातव्यौ भवतः, अन्तर्मुहूर्त्तमेवेत्यर्थः । कलनं कालः, तं कालम्, न विद्यते सङ्ख्या-इयन्तः पक्ष-मास-र्त्वयन-संवत्सरादय इत्येवम्भूता सङ्ख्या यस्यासावसङ्ख्यः, पल्योपमादिलक्षण इत्यर्थः, तं कालमसङ्ख्यम्, तथा सङ्ख्यायत इति सङ्ख्यः, इयन्तः पक्ष-मास-र्त्वयनादय इत्येवंसङ्ख्यप्रमित इत्यर्थः, तं सङ्ख्यं च, चशब्दादन्तर्मुहूर्त्तं च, 'धारणा' अभिहितलक्षणा भवति ज्ञातव्या । अयमत्र भावार्थः-अपायोत्तरकालमविच्युतिरूपाऽन्तर्मुहूर्त्तं भवत्येव, स्मृतिरूपाऽपि, वासनारूपा तु तदावरणक्षयोपशमाख्या स्मृतिधारणाया बीजभूता सङ्ख्येयवर्षायुषां सत्त्वानां सङ्ख्येयकालं असङ्ख्येयवर्षायुषां पल्योपमादिजीविनां चासङ्ख्येयमिति गाथार्थः ॥७४॥

इत्थमवग्रहादीनां स्वरूपमभिधायेदानीं श्रोत्रेन्द्रियादीनां प्राप्ता-ऽप्राप्तविषयतां प्रतिपिपादयिषुराह—

पुट्ठं सुणेइ० गाहा । व्याख्या-तत्र 'स्पृष्टमिति' आलिङ्गितम्, तनौ रेणुवत्, 'शृणोति' गृह्णाति । किम् ? 'शब्दं' शब्दद्रव्यसङ्घातम् । कुतः ? तस्य सूक्ष्मत्वाद् भावुकत्वात् प्रचुरद्रव्याकुलत्वात् श्रोत्रेन्द्रियस्यान्येन्द्रियगणात् प्रायः पटुतरत्वात् १ । रूप्यत इति रूपम्, तद् रूपं पुनः 'पश्यति' गृह्णाति 'अस्पृष्टं' अनालिङ्गितम्, असम्बद्धमित्यर्थः । 'पुनःशब्दः' विशेषणार्थः, 'तुशब्दस्तु' एवकारार्थः, ततश्चायमर्थः-अस्पृष्टमेव पश्यति, पुनःशब्दादस्पृष्टमपि योग्यदेशावस्थितम्, नायोग्यदेशावस्थितमधोलोकादि । कुतः ? अप्राप्तकारित्वात् परिमितदेशस्थविषयग्राहित्वाच्चक्षुष इति २ । [गन्ध्यते-]घ्रायत इति गन्धस्तम्, रस्यत इति रसस्तं च, स्पृश्यत इति स्पर्शस्तं च, 'चशब्दौ' पूरण-समुच्चयार्थौ, 'बद्धस्पृष्टमिति' बद्धम्-आश्लिष्टं तोयवदात्मप्रदेशैरात्मीकृतमित्यर्थः, स्पृष्टं-पूर्ववत्, प्राकृतशैल्या चेत्थमुपन्यासः "बद्धपुट्ठं" ति, अर्थतस्तु स्पृष्टं च बद्धं च स्पृष्टबद्धमिति विज्ञेयम्, आलिङ्गितानन्तरमात्मप्रदेशैरागृहीतमित्यर्थः,

गन्धादि स्तोकद्रव्यत्वादभावुकत्वाद् घ्राणादीनां चापटुत्वाद् विनिश्चिनोतीत्येवं व्याख्यानीयादिति गाथार्थः ३ ॥७५॥ इह 'स्पृष्टं शृणोति शब्दम्' इत्युक्तम्, तत्र किं शब्दप्रयोगोत्सृष्टान्येव केवलानि शब्दद्रव्याणि गृह्णाति ? उतान्यानि तद्भावितानि ? आहोश्विद् मिश्राणि ? इति चोदकाभिप्रायमाशङ्क्य 'न तावत् केवलानि, तेषां वासकत्वात् तद्योग्यद्रव्याकुलत्वाच्च लोकस्य, किन्तु मिश्राणि तद्वासितानि वा गृह्णाति'इत्यमुमर्थमभिधित्सुराह—

भासा० गाहा । व्याख्या—भाष्यत इति भाषा, वक्त्रा शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिरित्यर्थः, तस्याः समश्रेणयो भाषासमश्रेणयः, समग्रहणं विश्रेणीव्यवच्छेदार्थम्, इह श्रेणयः क्षेत्रप्रदेशश्रेणयोऽभिधीयन्ते, ताश्च सर्वस्यैव भाषमाणस्य षट्सु दिक्षु विद्यन्ते, यासूत्सृष्टा सति भाषाऽऽद्यसमय एव लोकान्तमनुधावतीति, ता इतः—भाषासमश्रेणीतः, इतो गतः प्राप्तः स्थित इत्यनर्थान्तरम् । एतदुक्तं भवति—भाषासमश्रेणिव्यवस्थित इति । श्रूयतेऽनेनेति शब्दः—भाषात्वेन परिणतः पुद्गलराशिः तं शब्दम्, यं पुरुषा-ऽश्वादिसम्बन्धिनं 'शृणोति' गृह्णाति उपलभत इति पर्यायाः, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तं मिश्रं शृणोति । एतदुक्तं भवति—उत्सृष्टद्रव्यभावितापान्तरालस्थशब्दद्रव्यमिश्रमिति । विश्रेणिं पुनः इत इति वर्तते, ततश्चायमर्थो भवति—विश्रेणिव्यवस्थितः पुनः श्रोता शब्दं शृणोति नियमेन पराघाते सति, यानि शब्दद्रव्याण्युत्सृष्टद्रव्याभिघाते वासितानि तान्येव, न पुनरुत्सृष्टानीति भावार्थः, कुतः ? तेषां अनुश्रेणिगमनात् प्रतिघाताभावाच्च । अथवा विश्रेणिस्थित एव विश्रेणिरभिधीयते, पदेऽपि पदावयवप्रयोगदर्शनात्, भीमसेनः सेनः सत्यभामा भामेति यथेति गाथार्थः ॥७६॥

साम्प्रतं विनेयगणसुखप्रतिपत्तये मतिज्ञानपर्यायशब्दानभिधित्सुराह—

ईहा० गाहा । व्याख्या—ईहनमीहा, सदर्थपर्यालोचनचेष्टेत्यर्थः । अपोहनमपोहः, निश्चय इत्यर्थः । विमर्षणं विमर्षः, ईहा-ऽपायमध्यवर्त्ती प्रत्ययः । तथाऽन्वयधर्मान्वेषणा मार्गणा । 'चः' समुच्चयार्थः । व्यतिरेकधर्मालोचना गवेषणा । तथा संज्ञानं सञ्ज्ञा, व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेष इत्यर्थः । स्मरणं स्मृतिः, पूर्वानुभूतार्थालम्बनप्रत्ययः । मननं मतिः, कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिरित्यर्थः । तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा, विशिष्टक्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा संविदिति भावना । सर्वमिदमाभिनिबोधिकम्, मतिज्ञानमित्यर्थः । एवं किञ्चिद्भेदाद् भेदः प्रदर्शितः, तत्त्वतस्तु मतिवाचकाः सर्वे एते पर्यायशब्दा इति गाथार्थः ॥७७॥ "से त "मित्यादि, तदेतदाभिनिबोधिकज्ञानमिति । साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तसकलचरणकरणक्रियाधारश्रुतज्ञानस्वरूपजिज्ञासयाऽऽह—

६१. से किं तं सुयणाणपरोक्खं ? सुयणाणपरोक्खं चोद्दसविहं पण्णत्तं, तं जहा—अक्खरसुतं १ अणक्खरसुतं २ सण्णिसुयं ३ असण्णिसुयं ४ सम्मसुयं ५ मिच्छसुयं ६ सादीयं ७ अणादीयं ८ सपज्जवसियं ९ अपज्जवसियं १० गमियं ११ अगमियं १२ अंगपविट्ठं १३ अणंगपविट्ठं १४ ।

६१. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् श्रुतज्ञानम् ? श्रुतज्ञानमुपाधिभेदाच्चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अक्षरश्रुतं १ अनक्षरश्रुतं २ संज्ञिश्रुतं ३ असंज्ञिश्रुतं ४ सम्यक्श्रुतं ५ मिथ्याश्रुतं ६ सादि ७ अनादि ८ सपर्यवसितं ९ अपर्यवसितं १० गमिकं ११ अगमिकं १२ अङ्गप्रविष्टं १३ अनङ्गप्रविष्टम् १४ । एतेषां च भेदानां स्वरूपं यथावसरं वक्ष्यामः ।

अक्षरश्रुता-ऽनक्षरश्रुतभेदद्वयान्तर्भावे सत्यपि शेषभेदानामुपन्यासोऽज्ञातज्ञापनार्थः, न च भेदद्वयादेवाव्युत्पन्नमतीनां शेषभेदावगम इति प्रतीतमेतत् । अलं विस्तरेण ॥ साम्प्रतमुपन्यस्तश्रुतभेदानां स्वरूपमनवगच्छन्नाद्यं भेदमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

६२. से किं तं अक्खरसुतं ? अक्खरसुतं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—सण्णक्खरं १ वंजणक्खरं २ लद्धिअक्खरं ३ ।

६२. से किं तमित्यादि । अथ किं तदक्षरश्रुतम् ?, क्षर "सञ्चलने" [पाणिनिधातु. ८५१] न क्षरतीत्यक्षरम्, तच्च ज्ञानम्, चेतनेत्यर्थः, जीवस्वाभाव्यादनुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रच्यवत इत्यर्थः, इत्थम्भूतभावाक्षरकार्यकारणत्वादकाराद्यप्यक्षरमुच्यते । तत्राक्षरात्मकं श्रुतमक्षरश्रुतं द्रव्याक्षराण्यधिकृत्य, अथवाऽक्षरं च तत् श्रुतं चाक्षरश्रुतं भावाक्षरमधिकृत्य । इदमक्षरश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, अक्षरस्यैव त्रिभेदत्वात् । त्रिभेदतामेव दर्शयन्नाह—सञ्ज्ञाक्षरं १ व्यञ्जनाक्षरं लब्ध्यक्षरम् ३ ॥

६३. से किं तं सण्णक्खरं ? सण्णक्खरं अक्खरस्स संठाणा-ऽऽगिती । से त्तं सण्णक्खरं १ ।

६३. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् संज्ञाक्षरम् ?, सञ्ज्ञानं संज्ञा, सञ्ज्ञायते वा अनयेति संज्ञा, तन्निबन्धनमक्षरं संज्ञाक्षरम्, इदं च 'अक्षरस्य' अकारादेः संस्थानस्याऽऽकृतिः संस्थानाकारः, यतस्तन्निबन्धनैवैतेष्वकारादिसंज्ञा प्रवर्त्तते इति । एतच्च ब्राह्म्यादिलिपीविधानादनेकविधम् । "से तं सन्नक्खरं" तदेतत् संज्ञाक्षरम् १ ॥

६४. से किं तं वंजणक्खरं ? वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो । से त्तं वंजणक्खरं २ ।

६४. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् व्यञ्जनाक्षरम् ?, व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम्, व्यञ्जनं च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरम्, तच्चेह सर्वमेव भाष्यमाणमकारादि हकारान्तम्, अर्थाभिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्य, तथा चाह सूत्रकारः—'अक्षरस्य' अकारादेः 'व्यञ्जनाभिलापः' शब्दोच्चारणम् । "से त"मित्यादि, तदेतद् व्यञ्जनाक्षरम् २ ॥

६५. से किं तं लद्धिअक्खरं ? लद्धिअक्खरं अक्खरलद्धीयस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ, तं जहा—सोइंदियलद्धिअक्खरं १ चक्खिंदियलद्धिअक्खरं २ घाणेंदियलद्धिअक्खरं ३ रसणिंदियलद्धिअक्खरं ४ फासेंदियलद्धिअक्खरं ५ णोइंदियलद्धिअक्खरं ६ । से त्तं लद्धिअक्खरं ३ । से त्तं अक्खरसुयं १ ।

६५. से किं तमित्यादि । अथ किं तल्लब्ध्यक्षरम् ?, लब्धिः—क्षयोपशमः उपयोग इत्यर्थः । "अक्खरलद्धीयस्स" इत्यादि, इहाक्षरे लब्धिर्यस्य सोऽक्षरलब्धिकस्तस्य, इन्द्रिय-मनउभयविज्ञानसमुत्थघटाद्यक्षरलब्धिसमन्वितस्येत्यर्थः, अनेन विकलेन्द्रियादिव्यवच्छेदमाह । 'लब्ध्यक्षरं समुत्पद्यते' कुतश्चिच्छब्दादेर्निमित्तात् सञ्जाततदावरणकर्मक्षयोपशमस्य 'लब्ध्यक्षरं समुत्पद्यते' अक्षरोपलम्भः सञ्जायते । एतदुक्तं भवति—शब्दादिग्रहणसमनन्तरमिन्द्रिय-मनोनिमित्तं श्रुतग्रन्थानुसारि शङ्ख इत्याद्यक्षरानुषक्तं विज्ञानमुत्पद्यते । तच्चानेकप्रकारम्, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरमित्यादि । इह श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणे सति शङ्खोऽयमित्याद्यक्षरद्वयलाभः श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तत्वाच्छ्रो-

श्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरमिति, एवं शेषेष्वपि भावनीयम् । "से त"मित्यादि, तदेतल्लब्ध्यक्षरम् । "से त"मित्यादि, तदेतदक्षरात्मकं अक्षरं च तदिति वा श्रुतं चाक्षरश्रुतम् । अत्र संज्ञा-व्यञ्जनाक्षरे द्रव्यश्रुतम्, लब्ध्यक्षरं पुनर्भावश्रुतम् लब्धेर्विज्ञानरूपत्वात् ॥

६६. से किं तं अणक्खरसुयं ? अणक्खरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा–

ऊससियं णीससियं णिच्छूढं खासियं च छीयं च ।
णिस्संघियमणुसारं अणक्खरं छेलियादीयं ॥ ७८ ॥

से त्तं अणक्खरसुयं २ ।

६६. से किं तमित्यादि । अथ किं तदनक्षरश्रुतम् ? । अनक्षरशब्दकारणं कार्यमनक्षरश्रुतं 'अनेकविधं' अनेकप्रकारं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—

ऊससियं० गाहा । उच्छ्वसनमुच्छ्वसितम्, भावे निष्ठाप्रत्ययः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम् । निष्ठीवनं निष्ठ्यूतम् । कासनं कासितम् । 'चशब्दः' समुच्चयार्थः । क्षवणं क्षुतम् । 'चशब्दः' समुच्चयार्थ एव, अस्य व्यवहितः सम्बन्धः । कथम् ? सेण्टितं चानक्षरं श्रुतमिति वक्ष्यामः । निःसङ्घनं निःसङ्घितम् । अनुस्वारवदनुस्वारम्, अक्षरमपि यदनुस्वारवदुच्चार्यते । 'अनक्षर'मिति एतदुच्छ्वसितादि अनक्षरश्रुतमिति । सेण्टनं सेण्टितम्, तत् सेण्टितं चानक्षरश्रुतमिति । इदं चोच्छ्वसितादि द्रव्यश्रुतमात्रम्, ध्वनिमात्रत्वात् । अथवा श्रुतविज्ञानोपयुक्तस्य जन्तोः सर्व एव व्यापारः श्रुतम्, तस्य तद्भावेन परिणतत्वात् । आह—यद्येवं किमित्युपयुक्तस्य चेष्टाऽपि श्रुतं नोच्यते येनोच्छ्वसिताद्येवोच्यते ? इति, अत्रोच्यते, रूढ्या, अथवा श्रूयत इति श्रुतम्, अन्वर्थसंज्ञामधिकृत्योच्छ्वसिताद्येव श्रुतमुच्यते, न चेष्टा, तदभावादिति, अनुस्वारादयस्त्वर्थगमकत्वादेव श्रुतमिति ॥७८॥

"से त"मित्यादि, तदेतदनक्षरश्रुतम् ॥

६७. से किं तं सण्णिसुतं ? सण्णिसुतं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालिओवएसेणं १ हेऊवएसेणं २ दिट्ठिवादोवदेसेणं ३ ।

६७. से किं तमित्यादि । अथ कि तत् संज्ञिश्रुतम् ? । संज्ञानं संज्ञा, साऽस्यास्तीति संज्ञी, तस्य श्रुतं संज्ञिश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, संज्ञिन एव त्रिभेदत्वात् । त्रिभेदतामेव दर्शयन्नाह, तद्यथा—कालिक्युपदेशेन १ हेतूपदेशेन २ दृष्टिवादोपदेशेन ३ ॥

६८. से किं तं कालिओवएसेणं ? कालिओवएसेणं जस्स णं अत्थि ईहा अपोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं सण्णि त्ति लब्भइ, जस्स णं णत्थि ईहा अपोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं असण्णीति लब्भइ । से त्तं कालिओवएसेणं १ ।

६८. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं कालिक्युपदेशेन ? इहाऽऽदिपदलोपाद् दीर्घकालिकी कालिक्युच्यते, संज्ञेति प्रकरणाद् गम्यते, उपदेशनमुपदेशः, कथनमित्यर्थः, दीर्घकालिक्याः सम्बन्धी दीर्घकालिक्या वा मतेनोपदेशो दीर्घकालिक्युपदेशः, एतेन 'यस्य' प्राणिनः 'अस्ति' विद्यते 'ईहा' शब्दाद्यवग्रहणोत्तरकालमन्वय-व्यतिरेकधर्मा-

लोचनचेष्टेत्यर्थः; तथा 'अपोहः' व्यतिरेकधर्मपरित्यागेनान्वयधर्माभ्यासेनावधारणात्मकः प्रत्यय इति भावना, यथा शब्द इति; तथा 'मार्गणा' विशेषधर्मान्वेषणारूपा संविदित्यर्थः, यथा-शब्दः सन् किं शाङ्खः किं वा शार्ङ्गः? इति; तथा 'गवेषणा' व्यतिरेकधर्मस्वरूपालोचना, यथा खरादय एवम्भूता इति; तथा 'चिन्ता' अन्वयधर्मपरिज्ञानाभिमुखा चेष्टा, यथा मधुरत्वादयस्त्वेवम्भूता इति; तथा 'विमर्षः' त्याज्यधर्मपरित्यागेनोपादेयधर्मग्रहणाभिमुख्यम्, यथा न शार्ङ्गः, मायोऽयं मधुरत्वादियोगाच्छाङ्ख इति; "से णं सण्णीति लब्भति" त्ति 'सः' प्राणी "ण"मिति वाक्यालङ्कारे 'संज्ञीति लभ्यते' मनःपर्याप्त्या पर्याप्तः, अवग्रहादिमतिज्ञानसम्पत्समन्वित इत्यर्थः। अथवा यस्यास्ति 'ईहा' किमेतदिति चेष्टा, इदमित्यवगमोऽपोहः, अवगतार्थाभिलाषे तत्प्रार्थना मार्गणा, तत्प्राप्तौ च निपुणोपायतोऽन्वेषणं गवेषणा, प्रयुक्तमतिहतोपायस्योपायान्तरचिन्तनं चिन्ता, तद्विषय एवोपायालोचनात्मकः प्रत्ययो विमर्षः, स संज्ञीति लभ्यते। अयं च गर्भव्युत्क्रान्तिकः पुरुषादिरौपपातिकश्च देवादिरेव मनःपर्याप्तिप्रयुक्तो विज्ञेयः, यथोक्तविशेषणकलापसमन्वितत्वात्, न पुनरन्यस्तद्विशेषणविकल इति। आह च-"जस्से"त्यादि, यस्य नास्ति ईहाऽपोहो मार्गणा गवेषणा चिन्ता विमर्षः सोऽसंज्ञीति लभ्यते, अयं च सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिय-विकलेन्द्रियादिर्ज्ञेयः, अल्पमनोलब्धित्वादभावाच्च। "से त"मित्यादि, सोऽयं कालिक्युपदेशेन १॥

६९. से किं तं हेऊवएसेणं? हेऊवएसेणं जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती से णं सण्णीति लब्भइ, जस्स णं णत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती से णं असण्णि त्ति लब्भइ। से त्तं हेऊवएसेणं २।

६९. से किं तमित्यादि। अथ कोऽयं हेतूपदेशेन?, हेतुः-कारणम्, उपदेशनं उपदेशः, हेतोरुपदेशः हेतूपदेशस्तेन, कारणोपदेशेनेत्यर्थः। 'यस्य' प्राणिनः 'अस्ति' विद्यतेऽभिसन्धारणम्-अव्यक्तेन विज्ञानेनाऽऽलोचनं तत्पूर्विका-तत्कारणिका करणशक्तिः-क्रियाशक्तिः, करणं-क्रिया शक्तिः-सामर्थ्यम्, अव्यक्तविज्ञानालोचननिबन्धनचेष्टासामर्थ्यमिति भावना, स प्राणी "ण"मिति वाक्यालङ्कारे संज्ञीति लभ्यते, अयं च द्वीन्द्रियादिः सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियावसानो विज्ञेयः। तथाहि-कृम्यादयोऽपीष्टेष्वाहारादिषु प्रवर्त्तन्ते अनिष्टेभ्यश्च निवर्त्तन्ते स्वदेहपरिपालनार्थं प्रायो वर्त्तमान एव, न चासञ्चिन्त्येष्टा-ऽनिष्टविषयप्रवृत्ति-निवृत्तिसम्भव इति संज्ञी। उक्तलक्षणविकलस्त्वसंज्ञी, तथा चाह-"जस्से"त्यादि, यस्य नास्ति अभिसन्धारणपूर्विका करणशक्तिः सोऽसंज्ञीति लभ्यते, अयं चैकेन्द्रियः पृथिव्यादिरवसेयः, मनोलब्धिरहितत्वात्।

आह-यदि स्वल्पसंज्ञायोगाद् विकलेन्द्रियादयः संज्ञिन इष्यन्ते पृथिव्यादयः किं नेष्यन्ते? यतस्तेषामपि दशविधाः संज्ञा विद्यन्त एव, तथा चोक्तं परमगुरुभिः-"कति णं भंते! एगिंदियाणं सण्णाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! दस, तंजहा-आहारसण्णा १ भयसण्णा २ मेहुण० ३ परिग्गहसण्णा ४ कोह० ५ माण० ६ माया० ७ लोभ० ८ ओहसण्णा ९ लोहसण्णा य" १० [ ] त्ति। उपयोगमात्रमोघसंज्ञा, लोकसंज्ञा स्वच्छन्दविकल्पिता विश्वगमा लौकिकैराचरिता, तद्यथा-"अनपत्यस्य न सन्ति लोकाः" इत्यादि, अन्ये तु व्याचक्षते-ओघसंज्ञा दर्शनोपयोगः, लोकसंज्ञा ज्ञानोपयोग इति, अत्रोच्यते, इहौघसंज्ञा स्तोकत्वाद् आहारादिसंज्ञाश्चानिष्टत्वान्नाधिक्रियन्ते, यथा न कार्षापणमात्रेण धनवानभिधीयते मूर्त्तिमात्रेण वा रूपवानिति, किन्तु यथा प्रभूतरत्नादिसमन्वितो धनवान् प्रशस्तमूर्तियुक्तश्च रूपवानभिधीयते; एवं महती शोभना च संज्ञा यस्यास्त्यसौ संज्ञीति, विशिष्टतरा च विकलेन्द्रियसंज्ञेत्यलं विस्तरेण। "से त"मित्यादि, सोऽयं हेतूपदेशेन २॥

७०. से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं? दिट्ठिवाओवएसेणं सण्णिसुयस्स खओवसमेणं सण्णी लब्भति, असण्णिसुयस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भति। से त्तं दिट्ठिवाओवएसेणं ३। से त्तं सण्णिसुतं ३। से त्तं असण्णिसुतं ४।

७०. से किं तमित्यादि। अथ कोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन?, दृष्टिः दर्शनं, वदनं वादः, दृष्टीनां वादः दृष्टिवादः तदुपदेशेन तन्मतापेक्षया संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन संज्ञीति लभ्यते, अयमत्र भावार्थः-संज्ञानं संज्ञा, तद्योगात् संज्ञी, तस्य श्रुतं संज्ञिश्रुतम्, इदं सम्यक्श्रुतमेव, अन्यथा संज्ञानाभावात्, न हि मिथ्यादृष्टेः संज्ञानमस्ति, हिताऽहितप्रवृत्ति-निवृत्त्यभावाद् रागादिप्रवृत्तेः। उक्तं च—

तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्? ॥१॥ [ ]

सम्यग्दृष्टिस्तु तन्निग्रहपरत्वाद् वीतरागसम एव। उक्तं च—

कलुसफलेण ण जुज्जइ किं चित्तं तत्थ? जं विगतराओ। संते वि जो कसाए णिगिण्हती सो वि तत्तुल्लो॥१॥
[विशेषा. गा. ३२६५] त्तीत्यादि।

अलं प्रसङ्गेन। तदित्थम्भूतस्य संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन सता संज्ञीति लभ्यते, अयं च सम्यग्दृष्टिरेव क्षायोपशमिकज्ञानयुक्तो रागादिनिग्रहपरः। तदन्यस्त्वसंज्ञी, यत आह ग्रन्थकारः-असंज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेनासंज्ञीति लभ्यते, "से त"मित्यादि, सोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन ३। एवं संज्ञिनस्त्रिभेदभिन्नत्वात् श्रुतमपि तदुपाधिभेदात् त्रिविधमेवेति।

अत्राह-कालिक्युपदेशेनेत्यादि क्रमः किमर्थम्?, उच्यते, इह प्रायः सूत्रे यत्र क्वचित् संज्ञिग्रहणं तत्र दीर्घकालिक्युपदेशेन समनस्कसंज्ञिपरिग्रह इति प्रथमं तदुपन्यासः, अप्रधानत्वाच्चेतरयोः, अन्ते च प्रधानाभिधानमिति न्याय्यम्। "से त"मित्यादि, तदेतत् संज्ञिश्रुतम् ३। असंज्ञिश्रुतं तु प्रतिपक्षाभिधानादेव प्रतिपादितम्। तदेतदसंज्ञिश्रुतम् ४॥

७१. [१] से किं तं सम्मसुतं? सम्मसुतं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाण-दंसणधरेहिं तेलोक्कणिरिक्खिय-महिय-पूइएहिं तीय-पच्चुप्पण्ण-मणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ विवाहपण्णत्ती ५ णायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुतं ११ दिट्ठिवाओ १२।

[२] इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुतं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुतं, तेण परं भिण्णेसु भयणा। से त्तं सम्मसुतं ५।

७१. से किं तमित्यादि। अथ किं तत् सम्यक्श्रुतम्?, सम्यक्श्रुतं यदिदं प्रणीतमिति सम्बन्धः। तत्राशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तथा चोक्तम्—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥१॥ [ ]

तैरर्हद्भिः, तत्र शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतानुसारिभिः अनादिशुद्धा एव मुक्तात्मानोऽभ्युपगम्यन्ते । यथोक्तम्—

ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥१॥
[ ] इत्यादि ।

बहवश्च कैश्चिदिष्यन्ते, तेऽपि च स्थापनादिद्वारेण पूजार्हत्वादर्हन्तो भवन्त्येव। अतो 'भगवद्भिः' भगः—खलु समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, यथोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥१॥
[ ]

भगो विद्यते येषां ते भगवन्तः तैर्भगवद्भिः, न चानादिशुद्धानां समग्रं रूपमुपपद्यते, अशरीरित्वात्, शरीरस्य च रागादिकार्यत्वात्, तेषां च तदभावादिति। स्वेच्छानिर्माणतः समग्रशरीरसम्भवात् तुल्यतामेवाशङ्क्याऽऽह—उत्पन्नज्ञान-दर्शनधरैः, न च तेऽनादिशुद्धाः उत्पन्नज्ञान-दर्शनधराः, "ज्ञानमप्रतिघं यस्य"त्यादिवचनविरोधात्, एवं शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतानुसारिपरिकल्पितमुक्तव्यवच्छेदार्थोऽयं ग्रन्थः। अधुना पर्यायास्तिकनयमतानुसारिपरिकल्पितमुक्तव्यवच्छेदार्थमाह—'त्रैलोक्यनिरीक्षित-महित-पूजितैः' निरीक्षिताश्च महिताश्च पूजिताश्चेति समासः, त्रैलोक्येन निरीक्षित-महित-पूजिता इति विग्रहः। विशेषणसाफल्यं पुनरित्थमवसेयम्—त्रैलोक्यग्रहणाद् भवन-व्यन्तर-नर-विद्याधर-ज्योतिष्क-वैमानिकपरिग्रहः, निरीक्षिताः—भक्तिनम्रैर्मनोरथदृष्टिभिर्दृष्टाः, महिता यथावस्थितान्यासाधारणगुणोत्कीर्तनलक्षणेन भावस्तवेन, पूजिताः सुगन्धिपुष्पप्रकरप्रक्षेपादिना द्रव्यस्तवेनेति। तत्र सुगतादयोऽपि पर्यायास्तिकनयमतानुसारिभिस्त्रैलोक्यनिरीक्षित-महित-पूजिता इष्यन्त एव। आह च स्तुतिकारः—

देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥
[ ] इत्यादि ।

अत आह—'अतीत-प्रत्युत्पन्ना-ऽनागतज्ञैः' न चैकान्तक्षणिकवादिनां यथोक्तविशेषणसम्भवः, अतीता-ऽनागताभावात्। तथा चागमः—

ण णिहाणगया भग्गा, पुंजो णत्थि अणागते । णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसोवमा ॥१॥

असतां च ग्रहणायोगाद् इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यम् न च तदुच्यते, गमनिकामात्रत्वादस्य प्रारम्भस्य। व्यवहारनयमतानुसारिभिस्तु कैश्चिदतीता-ऽनागतार्थग्राहिण इष्यन्त एव ऋषयः। यथाऽऽहुरेके—

ऋषयः संयतात्मानः फल-मूला-ऽनिलाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥१॥
अतीता-ऽनागतान् भावान् वर्तमानांश्च भारत ! । ज्ञानालोकेन पश्यन्ति त्यक्तसङ्गा जितेन्द्रियाः ॥२॥
[ ] इत्यादि ।

अत आह—सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः, ते तु सर्वज्ञा न भवन्तीत्यभिप्रायः। एवं प्रधानोभयनयमतानुसारिपरिकल्पितमुक्तव्यवच्छेदेनेदं नीयते, अन्यथा वाऽविरोधेन नेतव्यमिति। प्रणीतम्—अर्थकथनद्वारेण प्ररूपितम्। किं

तत् ? 'द्वादशाङ्गं' श्रुतपरमपुरुषोत्तमस्याङ्गानीवाङ्गानि द्वादश अङ्गानि–आचारादीनि यस्मिंस्तद् द्वादशाङ्गम् । गुणगणोऽस्यास्तीति गणी–आचार्यस्तस्य पिटकं–सर्वस्वं गणिपिटकम् । अथवा गणिशब्दः परिच्छेदवचनः, तथा चोक्तम्–

आयारम्मि अहीए जं णातो होइ समणधम्मो उ । तम्हा आयारधरो भण्णति पढमं गणिट्ठाणं ॥१॥
[आचाराङ्गनिर्युक्ति गा. १०]

परिच्छेदस्थानमित्यर्थः, ततश्च परिच्छेदसमूहो गणिपिटकम्, तद्यथा–आचार इत्यादि पाठसिद्धं यावद् दृष्टिवादः । अनङ्गप्रविष्टमावश्यकादि, ततोऽर्हत्प्रणीतत्वाद् वस्तुत उक्तत्वादनुक्तमपि गृह्यते । इदं सर्वमेव द्रव्यास्तिकनयमतेन तदभिधेयपञ्चास्तिकायभाववन्नित्यं सत् स्वाम्यसम्बन्धचिन्तायां सूत्रार्थोभयरूपं सम्यक्छ्रुतमेव भवति । स्वामिसम्बन्धचिन्तायां तु भाज्यम्, स्वामिपरिणामविशेषात्, कदाचित् सम्यक्छ्रुतं कदाचिद् विपर्ययः । तत्र सम्यग्दृष्टेः प्रशमादिसम्यक्परिणामोपेतत्वात् स्वरूपेण प्रतिभासनात् सम्यक्छ्रुतम्, पित्तोदयानभिभूतस्य शर्करादिरिवेति, मिथ्यादृष्टेः पुनरप्रशमादिमिथ्यापरिणामोपेतत्वाद् वस्तुनः स्वरूपेणाप्रतिभासनान्मिथ्याश्रुतम्, पित्तोदयाभिभूतस्याशर्करादिवदिति, देशतो दृष्टान्तः, अशर्करादित्वं च तं प्रति तत्कार्याकरणात्, तथाऽप्यभ्युपगमे चातिप्रसङ्गादित्यलं प्रसङ्गेन । श्रुतप्रमाणत एव सम्यक्परिणामनियमनायाह—

[२] इच्चेदमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं चतुर्दशपूर्विणः सम्यक्छ्रुतमेव, तथा अभिन्नदशपूर्विणोऽपि सम्यक्छ्रुतमेव । "तेण परं भिन्नेसु भयणा" त्ति पश्चानुपूर्व्या ततः परं भिन्नेषु दशसु 'भजना' कदाचित् सम्यक्छ्रुतं कदाचिन्मिथ्याश्रुतम्, परिणामविशेषात् । एतदुक्तं भवति–आसन्नभव्योऽपि मिथ्यादृष्टिः सम्पूर्णदशपूर्वरत्ननिधानं न प्राप्नोति, मिथ्यात्वपरिणामकलङ्कितत्वाद् दारिद्र्यनिबन्धनपापकलङ्काङ्कितपुरुषवच्चिन्तामणिमिति । "से त"मित्यादि तदेतत् सम्यक्छ्रुतम् ॥

७२. [१] से किं तं मिच्छसुतं ? मिच्छसुतं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदिट्ठीहिं सच्छंदबुद्धि-मतिविगप्पियं, तं जहा–भारहं रामायणं हंभीमासुरक्खं कोडलयं सगभद्दियाओ खोडमुहं कप्पासियं नागसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसियं बुद्धवयणं वेसितं कविलं लोगायतं सट्ठितंतं माढरं पुराणं वागरणं णाडगादी, अहवा बावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेदा संगोवंगा।

[२] एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छसुतं, एयाणि चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं ।

[३] अहवा मिच्छदिट्ठिस्स वि सम्मसुयं, कम्हा ? सम्मत्तहेउत्तणओ, जम्हा ते मिच्छदिट्ठिया तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठीओ वमेंति। से त्तं मिच्छसुयं ६ ।

७२. से किं तमित्यादि । अथ किं तन्मिथ्याश्रुतम् ? मिथ्याश्रुतं यदिदमज्ञानिकैः । तत्राल्पज्ञानभावाद-धनवदशीलवद्वा सम्यग्दृष्टयोऽप्यज्ञानिकाः मोच्यन्ते, अत आह–मिथ्यादृष्टिभिः । किम् ? 'स्वच्छन्दबुद्धि-मतिवि-

कल्पितं' इहावग्रहेहे बुद्धिः, अपाय-धारणे मतिः, स्वच्छन्देन–स्वाभिप्रायेण स्वतः सर्वज्ञप्रणीतार्थानुसारमन्तरेण बुद्धि-मतिभ्यां विकल्पितं स्वच्छन्दबुद्धि-मतिविकल्पितम्, स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितमित्यर्थः । तद्यथा–'भारत' मित्यादि सूत्रसिद्धं यावत् 'चत्वारश्च वेदास्साङ्गोपाङ्गाः' । एतानि स्वरूपतोऽन्यथावस्त्वभिधानान्मिथ्याश्रुतमेव । स्वामिसम्बन्धचिन्तायां तु भाज्यानि । तथा चाह–

[२] **मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वपरिगृहीतानि** विपरीताभिनिवेशहेतुत्वान्मिथ्याश्रुतम् । **एतान्येव सम्यग्दृष्टेः सम्यत्त्वपरिगृहीतानि** असारतादर्शनेन स्थिरतरसम्यत्त्वपरिणामहेतुत्वात् सम्यक्छ्रुतम् ।

[३] **अथवा मिच्छद्दिट्ठिस्स वि** सम्यक्श्रुतम् इत्यादि, अथवा मिथ्यादृष्टेरप्येतानि सम्यक्श्रुतम्, कस्मात् ?, सम्यत्त्वहेतुत्वात् । तथा चाऽऽह–"जम्हा ते मिच्छद्दिट्ठीया" इत्यादि, यस्मात् ते मिथ्यादृष्टयः "तेहिं चेव समयेहिं चोदिता समाण" त्ति तैरेव 'समयैः' सिद्धान्तैः पूर्वा-ऽपरविरोधद्वारेण–'यद्यतीन्द्रियार्थदर्शनं स्यात् कथं वेदार्थप्रतिपत्तिः ?' इत्यादिना चोदिताः सन्तः केचन विवेकिनः सत्यक्यादय इव, किम् ?, "सपक्खदिट्ठीओ वमेंति" स्वपक्षदृष्टीस्त्यजन्तीत्यर्थः । "से त"मित्यादि, तदेतत् मिथ्याश्रुतम् ॥

७३. से किं तं सादीयं सपज्जवसियं ? अणादीयं अपज्जवसियं च ? इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं विउच्छित्तिणयट्ठयाए सादीयं सपज्जवसियं, अविउच्छित्तिणयट्ठयाए अणादीयं अपज्जवसियं ।

७३. से किं तमित्यादि । सादि सपर्यवसितं अनाद्यपर्यवसितं चाधिकारवशाद् युगपदुच्यते । अथ किं तत् सादि ?, सह आदिना वर्तत इति सादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं व्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयः व्यवच्छित्तिनयः, पर्यायास्तिक इत्यर्थः, तस्यार्थो व्यवच्छित्तिनयार्थः, तद्भावो व्यवच्छित्तिनयार्थता तया व्यवच्छित्तिनयार्थभावेन, पर्यायापेक्षयेत्यर्थः, किम् ? सादि सपर्यवसितम्, पर्यवसानं पर्यवसितम्, भावे निष्ठाप्रत्ययः, सह पर्यवसानेन सपर्यवसितम्, नारकादिभवापेक्षया एव जीव इति । तथा अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयः अव्यवच्छित्तिनयः, द्रव्यास्तिकनय इत्यर्थः, तस्यार्थो अव्यवच्छित्तिनयार्थः, तद्भावः अव्यवच्छित्तिनयार्थता तया अव्यवच्छित्तिनयार्थभावेन, द्रव्यापेक्षयेत्यर्थः, किम् ? अनादि अपर्यवसितम्, त्रिकालावस्थायित्वात्, जीववत् ॥

अधिकृतमेवार्थं द्रव्यादिचतुष्टयमधिकृत्य प्रतिपादयन्नाह—

७४. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । तत्थ दव्वओ णं सम्मसुयं एगं पुरिसं पडुच्च सादीयं सपज्जवसियं, बहवे पुरिसे पडुच्च अणादीयं अपज्जवसियं १ । खेत्तओ णं पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पडुच्च सादीयं सपज्जवसियं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणादीयं अपज्जवसियं २ । कालओ णं ओसप्पिणिं उस्सप्पिणिं च पडुच्च सादीयं सपज्जवसियं, णोओसप्पिणिं णोउस्सप्पिणिं च पडुच्च अणादीयं अपज्जवसियं ३ । भावओ णं जे जया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति ते तहा पडुच्च सादीयं सपज्जवसियं, खाओवसमियं

पुण भावं पडुच्च अणादीयं अपज्जवसियं ४।

७४. तं समासतो इत्यादि। 'तत्' श्रुतज्ञानं 'समासतः' सङ्क्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः। तत्र द्रव्यतः "ण"मिति वाक्यालङ्कारे सम्यक्छ्रुतं एकं पुरुषं प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम्। कथम्?, सम्यक्त्वावाप्तौ तत्प्रथमपाठतो वा सादि, पुनर्मिथ्यात्वप्राप्तौ सति वा सम्यक्त्वे प्रमाद-ग्लान-सुरलोकगमन-केवलोत्पत्तिभावेऽभावात् सपर्यवसितम्। बहून् पुरुषान् प्रतीत्य अनाद्यपर्यवसितम्, सन्तानेन प्रवृत्तत्वात्, पुरुषत्ववत्। तथा क्षेत्रतः पञ्च भरतानि पञ्च ऐरवतानि प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम्। कथम्?, तेषु सुषमदुष्षमादिकाले तीर्थकर-धर्म-सङ्घानां तत्प्रथमतयोत्पत्तेः सादि, एकान्तदुष्षमादिकाले च तदभावे सपर्यवसितम्। तथा महाविदेहादि प्रतीत्य प्रवाहरूपेण तीर्थकरादीनामव्यवच्छित्तेरनाद्यपर्यवसितम्। कालतः "ण"मिति वाक्यालङ्कारे अवसर्पिणीं उत्सर्पिणीं च प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम्, कथम्?, यतोऽवसर्पिण्यां तिसृष्वेव सुषमदुष्षमा-दुःषमसुषमा-दुष्षमास्विति, उत्सर्पिण्यां द्वयोः दुष्षमसुषमा-सुषमदुष्षमयोरिति, न परतः, इत्यतः सादि सपर्यवसितम्। अत्र कालचक्रं विंशतिसागरोपमकोटीकोटिपरिमाणं विनेयजनानुग्रहार्थं प्ररूप्यते—

चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीउ संततीए उ। एगंतसूसमा खलु जिणेहिं सव्वेहिं णिद्दिट्ठा ॥१॥
तीए पुरिसाणमायुं तिण्णि य पलियाइं तह पमाणं च। तिन्नेव गाउयाइं आदीए भणंति समयण्णू ॥२॥
उवभोग-परीभोगा जम्मंतरसुकयबीयजातातो। कप्पतरुसमूहाओ होंति किलेसं विणा तेसिं ॥३॥
ते पुण दसप्पगारा कप्पतरू समणसमयकेतूहिं। धीरेहि विणिद्दिट्ठा मणोरहापूरगा एए ॥४॥
मत्तंगया १ य भिंगा २ तुडियंगा ३ दीव ४ जोति ५ चित्तंगा ६।
चित्तरसा ७ मणियंगा ८ गेहागारा ९ अणियणा १० य ॥५॥
मत्तंगएसु मज्जं सुहपेज्जं १ भायणाणि भिंगेसु २। तुडियंगेसु य संगयतुडियाणि बहुप्पगाराणि ३ ॥६॥
दीवसिहा जोतिसणामया य णिच्चं करेंति उज्जोयं ४। ५। चित्तंगेसु य मल्लं ६ चित्तरसा भोयणट्ठाए ७ ॥७॥
मणियंगेसु य भूसणवराणि ८ भवणाणि भवणरुक्खेसुं ९। आयन्नेसु य इच्छियवत्थाणि बहुप्पगाराणि १० ॥८॥
एएसु य अन्नेसु य नर-नारिगणाण ताणमुवभोगा। भविय पुणब्भवरहिया इय सव्वन्नू जिणा बिंति १ ॥९॥
तो तिन्नि सागरोवमकोडाकोडीउ वीयरागेहिं। सुसम त्ति समक्खाया पवाहरूवेण धीरेहिं ॥१०॥
तीए पुरिसाणमायुं दोण्णि य पलियाइं तह पमाणं च। दो चेव गाउयाइं आईए भणंति समयन्नू ॥११॥
उवभोग-परीभोगा तेसिं पि य कप्पपादवेहिंतो। होंति किलेसेण विणा नवरं ऊणाणुभावेहिं २ ॥१२॥
तो सुसमदूसमाए पवाहरूवेण कोडिकोडीओ। अयराण दोण्णि सिट्ठा जिणेहिं जियराग-दोसेहिं ॥१३॥
तीए पुरिसाणमाउं एगं पलियं तहा पमाणं च। एगं च गाउयं ती आदीए भणंति समयण्णू ॥१४॥
उवभोग-परीभोगा तेसिं पि य कप्पपादवेहिंतो। होंति किलेसेण विणा पायं ऊणाणुभावेहिं ॥१५॥
सुसमदुसमावसेसे पढमजिणो धम्मणायगो भयवं। उप्पन्नो कयपुन्नो सिप्पकलादंसगो उसहो ३ ॥१६॥
तो दुसमसुस्समूणा बायालीसाए वरिससहसेहिं। सागरकोडाकोडी एगेव जिणेहि पण्णत्ता ॥१७॥
तीए पुरिसाणमायुं पुव्वपमाणेण तह पमाणं च। धणुसंखानिद्दिट्ठं विसेससुत्तादो णायव्वं ॥१८॥

उवभोग-परीभोगा पवरोसहिमाइएहिं विण्णेया । जिण-चक्कि-वासुदेवा सव्वे य इमीए वोलीणा ४ ॥१९॥
इगवीस सहस्साइं वासाणं दूसमा, इमीए य । जीवियमाणुवभोगादिया य दीसंति हायंता ५ ॥२०॥
एत्तो उ किलिट्ठतरा जीतपमाणादिएहिं निद्दिट्ठा । अतिदूसम त्ति घोरा वाससहस्साइं इगवीसं ६ ॥२१॥
ओसप्पिणीए एसो कालविभागो जिणेहिं निद्दिट्ठो । एसो च्चिय पडिलोमं विण्णेयुस्सप्पिणीए वि ॥२२॥
एतं तु कालचक्कं सिस्सजणाणुग्गहट्ठया भणियं । संखेवेण महत्थो विसेसमुत्ताओ णायव्वो ॥२३॥

"णोउस्स(ओस)प्पिणी"मित्यादि । नोअवसर्पिणीनोउत्सर्पिणीं च प्रतीत्य अनाद्यपर्यवसितम्, महाविदेहेष्वेव कालस्यावस्थितत्वादिति भावः । भावतः "ज"मिति पूर्ववत् 'ये' इत्यनिर्दिष्टनिर्देशे ये केचन 'यदा' पूर्वाह्णादौ जिनैः प्रज्ञप्ता जिनप्रज्ञप्ताः 'भावाः' पदार्थाः "आघविज्जंति" त्ति प्राकृतशैल्या आख्यायन्ते, सामान्य-विशेषाभ्यां कथ्यन्त इत्यर्थः; 'प्रज्ञाप्यन्ते' नामादिभेदाभिधानेन; 'प्ररूप्यन्ते' नामादिस्वरूपकथनेन, यथा–"पर्यायानभिधेय"मित्यादि; 'दर्श्यन्ते' उपमानमात्रतः, यथा गौस्तथा गवय इत्यादि; 'निदर्श्यन्ते' हेतु-दृष्टान्तोपन्यासेन; 'उपदर्श्यन्ते' उपनय-निगमनाभ्यामिति सकलनयाभिप्रायतो वा 'तान्' भावान् 'तदा' तत्कालापेक्षया प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम् । एतदुक्तं भवति–प्रज्ञापकोपयोग-स्वर-प्रयत्ना-ऽऽसनविशेषतः प्रतिक्षणमन्यथा चान्यथा चावस्थितेः सादि सपर्यवसितम् । तथा चोक्तम्—

उवयोग-सर-पयत्ता आसणभेदादिया य पतिसमयं ।
भिन्ना पण्णवगस्सा सादि सपज्जन्तगं तम्हा ॥ १ ॥ [विशेषा. गा. ५४७]

अथवा प्रज्ञापनीयभावापेक्षया गति-स्थिति-द्व्यणुकाद्येकप्रदेशाद्यवगाहैकादिसमयस्थित्येकवर्णादिप्रतिपादनात् सादि सपर्यवसितम्, क्षायोपशमिकभावापेक्षया पुनरनाद्यपर्यवसितम्, प्रवाहरूपेण तस्यानाद्यपर्यवसितत्वात् ॥

अथवाऽत्र चतुर्भङ्गिका–सादि सपर्यवसितं १ साद्यपर्यवसितं २ अनादि सपर्यवसितं ३ अनाद्यपर्यवसितम् ४ । तत्र प्रथमभङ्गकप्रदर्शनायाऽऽह—

७५. अहवा भवसिद्धीयस्स सुयं साईयं सपज्जवसियं, अभवसिद्धीयस्स सुयं अणादीयं अपज्जवसियं ।

७५. "भवसिद्धीयस्स" इत्यादि । भवसिद्धिकः–भव्यस्तस्य 'श्रुतं' सम्यक्श्रुतं सादि सपर्यवसितम्, उपयोगाद्यपेक्षया भावितमेव । द्वितीयभङ्गकस्तु शून्यः, प्ररूपणामात्रतो वा अभव्यस्य वर्तमानकालापेक्षया अनागताद्धामधिकृत्य मिथ्याश्रुतमिति । तृतीयभङ्गस्तु सम्यक्त्वावाप्तौ भव्यस्य मिथ्याश्रुतम् । चतुर्थं भङ्गं पुनरुपदर्शयन्नाह–"अभव" इत्यादि, अभवसिद्धिकः–अभव्यस्तस्य 'श्रुतं' मिथ्याश्रुतं अनाद्यपर्यवसितम्, तस्य सदैव संसारवर्त्तित्वात् । इह च श्रुतस्य प्रक्रान्तत्वात् तृतीय-चतुर्थभङ्गकद्वयेऽनादिश्रुतभाव उक्तः, अन्यथा मतेरप्येवमेव द्रष्टव्यम्, मति-श्रुतयोरन्योऽन्यानुगतत्वात् ॥ अत्राह–सोऽनादिज्ञानभावः किं जघन्यः? उत विमध्यमः? आहोश्विदुत्कृष्टः? इति, अत्रोच्यते, जघन्यो विमध्यमो वा, न तूत्कृष्टः । कथम्? यतस्तस्येदं प्रमाणम्—

७६. सव्वागासपदेसग्गं सव्वागासपदेसेहिं अणंतगुणियं पज्जवग्गक्खरं णिप्फज्जइ ।

७६. "सव्वागासपदेसग्ग"मित्यादि । सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशम्, लोका-ऽलोकाकाशमित्यर्थः,

१ "यद् वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम् । पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥१॥" इति सम्पूर्णः श्लोकः ॥

तस्य प्रदेशाः—प्रकृष्टा देशाः प्रदेशाः, निर्विभागा भागा इत्यर्थः, तेषामग्रं—परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम्, सर्वाकाशप्रदेशैः, किम्? 'अनन्तगुणितं' अनन्तशो गुणितं अनन्तगुणितम्, एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अनन्तागुरुलघुपर्यायभावात्, 'पर्यायाग्राक्षरं' पर्यायपरिमाणाक्षरं निष्पद्यते, सर्वद्रव्य-पर्यायपरिमाणमिति भावार्थः। स्तोकत्वाच्चेह धर्मास्तिकायादयो नोक्ताः, अर्थतस्तु गृहीता एव ॥

७७. सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडियओ, जति पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तं पावेज्जा।

सुट्ठु वि मेहसमुदए होंति पभा चंद-सूराणं।

से त्तं सादीयं सपज्जवसियं। से त्तं अणादीतं अपज्जवसितं ७।८।९।१०।

७७. इह च ज्ञानमक्षरं गृह्यते, तथा तज्ज्ञेयम्, तथा अकारादि च, सर्वथाऽप्यविरोध इति। अस्य च सर्वजीवानामपि चाक्षरस्यानन्तभागः 'नित्योद्घाटितः' सदाऽनावृत इत्यर्थः। स पुनरनन्तभागोऽप्यनेकविधः, तत्र सर्वजघन्यश्चैतन्यमात्रम्, तत् पुनर्न कदाचिदुत्कृष्टावरणस्याप्याव्रियते, जीवस्वाभाव्यात्। आह च ग्रन्थकारः—"जइ पुण" इत्यादि। यदि पुनः सोऽपि आव्रियेत, ततः किम्?, 'तेन जीवः अजीवतां प्राप्नुयात्' 'तेन' आवृतेन 'जीवः' चैतन्यलक्षणः स्वलक्षणपरित्यागादजीवतां प्राप्नुयात्, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, सर्वस्य सर्वथा स्वभावातिरस्कारात्। अत्रैव दृष्टान्तमाह—"सुट्ठु वी"त्यादि सुष्ठ्वपि मेघसमुदये चन्द्र-सूर्यप्रभाजालतिरस्कारिणि सति भवति प्रभा चन्द्र-सूर्ययोः, सर्वस्य सर्वथा स्वभावातिरस्कारादिति।

अत्राह—"सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपदेसेहिं अणंतगुणियं पज्जवग्गक्खरं निप्फज्जति" इत्यत्राविशेषितमेवाक्षरमुक्तम्, अविशेषाभिधानाच्चेदं केवलमिति गम्यते, इह तु श्रुताधिकारादकारादि प्रकृतं यतः, तत् कथं केवलपर्यायपरिमाणतुल्यं भवेत्?, उच्यते, नन्वत्राप्यपर्यवसितश्रुताधिकाराद्येव गम्यते। अथ मतिः—"सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ" त्ति सर्वजीवग्रहणान्न तत् श्रुतम्, यतः समस्तद्वादशाङ्गविदां तत् समस्तमिति, यद्येवं केवलस्यापि न सर्वजीवानामेवानन्तभागोऽवतिष्ठते, सर्वज्ञसद्भावात्, अतो न तत् केवलाक्षरमपि, कस्यासावनन्तभागोऽस्तु?, तथा अविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायान्येषां अनन्तभागो गम्यते, अत एव किं न श्रुतात्मकमक्षरमङ्गीकृत्य समस्तद्वादशाङ्गविदोऽपि विहायान्येषामनन्तभागो गम्यते? तस्मात् स्व-परपर्यायभेदादुभयमप्यविरुद्धमिति, तथाऽप्यत्रापर्यवसितश्रुताधिकारादकाराद्येव न्यायानुपाति।

तत् पुनरनन्तपर्यायम्—इह अ अ अ इत्यकार उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः, स सानुनासिको निरनुनासिकश्च, एवं दीर्घः प्लुतः, एवं तावदष्टादशप्रभेदं अवर्णं ब्रुवते, एवं यावतः केवल एव अकारो लभते सानुनासिकादीन् तथाऽन्यवर्णसहितो वा तेऽप्यस्य स्वपर्यायाः, ते चानन्ताः। कथम्?, अभिलाप्यवाच्यनिमित्तभेदात्, तस्य च परमाणु-द्व्यणुकादिभेदेनानन्तत्वात्, ध्वनेश्च तथातथाभिधायकत्वपरिणामे सति तत्तदर्थप्रतिपादकत्वादिति, साङ्केतिकशब्दार्थसम्बन्धवादिमतमध्यावश्यके नयाधिकारे विचारयिष्यामः, ततश्चैते स्वपर्यायाः, शेषास्तु सर्व एव घटादि-

१ अत्रार्थे पूज्यप्रवरस्वविहिताऽऽवश्यकबृहद्वृत्तेर्दुष्षमाकालदुष्प्रभावविनष्टत्वाद् यत्किञ्चिच्चित्ततुष्ट्यर्थं सम्प्रत्युपलभ्यमानाऽऽगमोद्धारकमुद्रापिता शिष्यहिताख्याऽऽवश्यकलघुवृत्तिरवलोकनीया [आव० नि. गा. ७५४-६० पत्र २८२-८५]। तथाऽत्रार्थे विशेषावश्यकमहाभाष्यसत्काः २१८१ तः २२६२ गाथास्तट्टीकादिकं चापि विलोकनीयमिति ॥

पर्यायाः परपर्याया इति, ते पुनः स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः। आह–स्वपर्यायाणां तावत् पर्यायता युक्ता, घटादिपर्यायास्तु विभिन्नवस्त्वाश्रितत्वात् कथं 'तस्य' इति व्यपदिश्यन्ते ?, उच्यते, स्वपर्यायविशेषणोपयोगात्, इह ये यस्य स्वपर्यायविशेषणतयोपयुज्यन्ते ते तस्य पर्यायतया व्यपदिश्यन्ते, यथा घटस्य रूपादयः, उपयुज्यन्ते चाकार-स्वपर्यायाणां विशेषणतया घटादिपर्यायाः, तानन्तरेण स्वपर्यायव्यपदेशाभावात्, तथा वस्तुस्थित्याऽपि च घटादिपर्याया अभावरूपेणाकारस्य व्यवस्थितत्वाद् घटादिपर्यायाणां अकारपर्यायतायामविरोध इति। इयमत्र भावना–घटादिपर्यायाणामनन्तत्वात् तेभ्यश्चाकारस्य स्वभावभेदेन व्यावृत्तत्वात्, स्वभावभेदव्यावृत्त्यनभ्युपगमे च घटादिपर्यायाणामेकत्वप्रसङ्गात्, अतः स्वभावभेदनिबन्धनत्वादकारपर्यायता तेषामिति, तस्मात् स्व-परपर्याया-पेक्षया खल्वकारस्य सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्यधर्मताऽविरोध इति। न चेदमुत्सूत्रम्, यत आगमेऽप्युक्तम्–" जे एगं जाणति से सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणति से एगं जाणति " [आचाराङ्गे श्रु० १ अ० ३ उ० ४ सू० १] त्ति। अस्यायमर्थः–य एकं वस्तूपलभते सर्वपर्यायैः स सर्वमुपलभते, कथैकं सर्वपर्यायैरुपलभते ? य एव सर्वं सर्वथोपलभत इति, अतः सर्वमजानानो नाकारं सर्वथोपलभत इति, ततश्चास्मात् सूत्रात् सर्वमेव वस्तु सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्यधर्मकम्, इह त्वक्षराधिकारादक्षरमुक्तमिति, इतश्चैतदकाराद्येव प्रतिपत्तव्यम्, अस्मिन्नेवाधिकारे 'अक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घा-टितः' इत्युपन्यस्तत्वात्, केवलस्य चाविभागसम्पूर्णत्वेन निकृष्टानन्तभागासम्भवात्, अवधेरप्यसङ्ख्येयप्रकृति-भेदभिन्नत्वात्, मनःपर्यायज्ञानस्याप्योघत ऋजु-विपुलभेदभिन्नत्वात्, पारिशेष्यादकारादिश्रुताक्षरस्य निबन्धनज्ञान-स्यैवासावित्यलं प्रसङ्गेन। " से तं " इत्यादि निगमनद्वयमपि निगदसिद्धम् ॥

७८. से किं तं गमियं ? गमियं दिट्ठिवाओ। अगमियं कालितं सुयं। से त्तं गमियं। से त्तं अगमियं ११। १२।

७८. से किं तमित्यादि। अथ किं तद् गमिकम् ?। इहाऽऽदि-मध्या-ऽवसानेषु किञ्चिद् विशेषतः पुनस्त-त्स्वत्रोच्चारणलक्षणो गमः, यथाऽऽदिविशेषे तावत् "इह छज्जीवणिके"त्यादि, [दशवै० अ. ४ सू. १–३]गमा अस्य विद्यन्त इति "अत इनि ठनौ" [पा. प. २. १२५] इति गमिकम्। इदं च प्रायोवृत्त्या दृष्टिवादे, तस्यैव गमबहुलत्वात्। अगमिकं तु प्रायो गाथाद्यसमानग्रन्थत्वात् कालिकश्रुतमाचारादि। "से त"मित्यादि निगमनद्वयं कण्ठ्यम् ॥

७९. अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।

७९. **तं समासतो दुविहं पन्नत्तं** 'तद्' गमिका-ऽगमिकं अथवा 'तद्' ओघश्रुतमर्हदुपदेशानुसारि 'समासतः' सङ्क्षेपेण द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–अङ्गप्रविष्टं अङ्गबाह्यं च। अत्राह–पूर्वमेव चतुर्दशभेदोद्देशाधिकारे अङ्गप्रविष्टं च अङ्गबाह्यं चेत्युपन्यस्तम्, किमर्थं पुनः 'तत् समासतः' इत्याद्युपन्यासेन तदेवोदिश्यते ? इति, अत्रोच्यते, सर्वभेदानामेवाङ्गा-ऽनङ्गप्रविष्टभेदद्वयान्तर्भावेनार्हत्प्रणीतत्वेन च प्राधान्यख्यापनार्थमिति। तत्र—

पाददुगं २ जंघो २ रू २ गातदुयगं च २ दो य बाहूओ २।
गीवा १ सिरं च १ पुरिसो बारसअंगो सुयविसिट्ठो ॥१॥ [ ]

श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टम्, अङ्गभावव्यवस्थितमित्यर्थः। अथवा—

गणधरकयमंगगयं जं कत थेरेहिं बाहिरं तं तु।
नियतं वंगपविट्ठं अणिययसुय बाहिरं भणियं ॥१॥ [ ]

तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादङ्गबाह्यमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

८०. से किं तं अंगबाहिरं ? अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आवस्सगं च आवस्सगवइरित्तं च ।

८०. **से किं** तमित्यादि । अथ किं तदङ्गबाह्यम् ?। श्रुतपुरुषाद् व्यतिरिक्तं अङ्गबाह्यं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आवश्यकं च आवश्यकव्यतिरिक्तं च ॥

८१. से किं तं आवस्सगं ? आवस्सगं छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—सामायियं १ चउवीसत्थओ २ वंदणयं ३ पडिक्कमणं ४ काउस्सग्गो ५ पच्चक्खाणं ६ । से त्तं आवस्सयं ।

८१. **से किं** तमित्यादि । अथ किं तदावश्यकम् ? अवश्यक्रियानुष्ठानादावश्यकम्, गुणानां वा आ—अभिविधिना वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—सामायिकमित्यादि ।

सावज्जजोगविरती १ उक्कित्तण २ गुणवयो य पडिवत्ती ३ ।
खलियस्स णिंदणा ४ वणतिगिच्छ ५ गुणधारणा ६ चेव ॥१॥ [अनुयोग. पत्रं ४३-१]

अधिकारगाथा । एतदनुसारेण आवश्यकपिण्डार्थो वक्तव्यः । "से त"मित्यादि तदेतदावश्यकम् ॥

८२. से किं तं आवस्सयवइरित्तं ? आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालियं च उक्कालियं च ।

८२. **से किं** तमित्यादि । अथ किं तदावश्यकव्यतिरिक्तम् ? । आवश्यकव्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—कालिकं चोत्कालिकं च । यदिह दिवस-निशिप्रथम-पश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते तत् कालेन निर्वृत्तं कालिकम् । यत् पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदुत्कालिकम् ॥ तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादुत्कालिकमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

८३. से किं तं उक्कालियं ? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—दसवेयालियं १ कप्पियाकप्पियं २ चुल्लकप्पसुतं ३ महाकप्पसुतं ४ ओवाइयं ५ रायपसेणियं ६ जीवाभिगमो ७ पण्णवणा ८ महापण्णवणा ९ पमायप्पमादं १० नंदी ११ अणुओगदाराइं १२ देविंदत्थओ १३ तंदुलवेयालियं १४ चंदावेज्झयं १५ सूरपण्णत्ती १६ पोरिसिमंडलं १७ मंडलप्पवेसो १८ विज्जाचरणविणिच्छओ १९ गणिविज्जा २० झाणविभत्ती २१ मरणविभत्ती २२ आयविसोही २३ वीयरायसुतं २४ संलेहणासुतं २५ विहारकप्पो २६ चरणविही २७ आउरपच्चक्खाणं २८ महापच्चक्खाणं २९ । से त्तं उक्कालियं ।

८३. **से किं** तमित्यादि । अथ किं तदुत्कालिकम् ? । उत्कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—दशवैकालिकं प्रतीतम् १ । कल्पा-ऽकल्पप्रतिपादकं कल्पाकल्पम् २ । तथा कल्पनं कल्पः—स्थविरकल्पादिः, तत्प्रतिपादकं श्रुतं कल्पश्रुतम्, तत् पुनर्द्विभेदम्—चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं, एकमल्पग्रन्थमल्पार्थं च, द्वितीयं महाग्रन्थं महार्थं च ३।४। शेषभेदाः प्रायो निगदसिद्धास्तथापि लेशतोऽप्रसिद्धतरान् व्याख्यास्यामः—जीवादीनां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना ८। बृहत्तरा महाप्रज्ञापना ९ । प्रमादा-ऽप्रमादस्वरूप-भेद-फल-विपाक-प्रतिपादकमध्ययनं **प्रमादाप्रमादम्** । प्रमा-

दस्वरूपं महाकर्मेन्धनप्रभवाविध्यातदुःखानलज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यंस्तन्मध्यवर्त्यपि सति तन्निर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणौ यतो विचित्रकर्मोदयसाचिव्यजनितात् परिणामविशेषादपश्यन्निव तद्भयमविगणय्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एवाऽऽस्ते सत्त्वः स खलु प्रमाद इति । तद्भेदाः मद्यादयः, तत्कारणत्वात् । उक्तं च—

मज्जं विसय कसाया णिद्दा विगहा य पंचमी भणिया ।
एए पंच पमाया जीवं पाडंति संसारे ॥१॥ [ ]

एतस्य च पञ्चप्रकारस्यापि प्रमादस्य फलविपाको दारुणः । उक्तं च—

श्रेयो विषमुपभोक्तुं क्षमं भवेत् क्रीडितुं हुताशेन । संसारबन्धनगतैर्न तु प्रमादः क्षमः कर्तुम् ॥१॥
अस्यामेव हि जातौ नरमुपहन्याद् विषं हुताशो वा । आसेवितः प्रमादो हन्याज्जन्मान्तरशतानि ॥२॥
यत्र प्रयान्ति पुरुषाः स्वर्गं, यच्च प्रयान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्तमनार्यः प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ॥३॥
संसारबन्धनगतो जाति-जरा-व्याधि-मरणदुःखार्त्तः । यन्नोद्विजते सत्त्वः स अपराधः प्रमादस्य ॥४॥
आज्ञाप्यते यदवशः तुल्योदर-पाणि-पाद-वदनेन । कर्म च करोति बहुविधमेतदपि फलं प्रमादस्य ॥५॥
इह हि प्रमत्तमनसः सोन्मादवदनिभृतेन्द्रियाश्चपलाः । यत् कृत्यं तदकृत्वा सततमकार्येष्वभिपतन्ति ॥६॥
तेषामभिपतितानामुद्भ्रान्तानां प्रमत्तहृदयानाम् । वर्द्धन्त एव दोषाः वनतरव इवाम्बुसेकेन ॥७॥
दृष्ट्वाऽप्यालोकं नैव विश्रम्भितव्यं, तीरं नीताऽपि भ्राम्यते वायुना नौः ।
लब्ध्वा वैराग्यं भ्रष्टयोगः प्रमादाच्चित्रं व्यावृत्तो ब्रह्मदत्तो नरेशः ॥८॥ [ ] इत्यादि ।

एवं प्रतिपक्षद्वारेणाप्रमादस्वरूपादयो वाच्या इति १० । "नंदी"त्यादि सुगमम् । सूर्यप्रज्ञप्तिः सूर्यचरितप्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः १६ । **पौरुषीमण्डलं** पुरुषः—शङ्कुः शरीरं वा, तस्मान्निष्पन्ना पौरुषी । इयमत्र भावना—यदा सर्वस्य वस्तुनः स्वप्रमाणा छायोपजायते तदा पौरुषीति, एतच्च पौरुषीमानं उत्तरायणान्ते दक्षिणायनादौ चैकं दिनं भवति, तत ऊर्ध्वमङ्गुलस्याष्टावेकषष्टिभागा दक्षिणायने वर्द्धन्ते उत्तरायणे च ह्रसन्तीति, एवं यत्र पौरुषी मण्डले मण्डलेऽन्याऽन्या प्रतिपाद्यते तदध्ययनं पौरुषीमण्डलम् १७ । **मण्डलप्रवेशः** यत्र हि चन्द्र-सूर्ययोर्दक्षिणोत्तरेषु मण्डलेषु मण्डलान्मण्डलप्रवेशो व्यावर्ण्यते तदध्ययनं मण्डलप्रवेश इति १८ । **विद्याचरणविनिश्चयः** विद्येति—ज्ञानम्, तच्च दर्शनसहचरितम्, अन्यथा ज्ञानाभावात्, चरणं—चारित्रम्, एतेषां फलविनिश्चयप्रतिपादको ग्रन्थः विद्याचरणविनिश्चय इति १९ । '**गणिविद्या**' गुणगणोऽस्यास्तीति गणी, स चाऽऽचार्यः, तस्य विद्या—ज्ञानं गणिविद्या, तत्राविशेषेऽप्ययं विशेषः—

जोतिस-णिमित्तणाणं गणिणो पव्वावणादिकज्जेसु ।
उवयुज्जइ तिहि-करणादिजाणणट्ठऽण्णहा दोसो ॥१॥ [ ] २० ।

ध्यानविभक्तिः ध्यानानि—आर्त्तध्यानादीनि, तेषां विभजनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा ध्यानविभक्तिः २१ । मरणानि—प्राणत्यागलक्षणानि अनुसमयादीनि वर्तन्ते, यथोक्तम्—"अणुसमयं संतरं चे"त्यादि, एतेषां विभजनं यस्यां सा **मरणविभक्तिः** २२ । आत्मनः—जीवस्याऽऽलोचना-प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण विशुद्धिः—कर्मविगमलक्षणा

प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनं आत्मविशुद्धिः २३। **वीतरागश्रुतं** सरागव्यपोहेन वीतरागस्वरूपं प्रतिपाद्यते यत्राध्ययने तद् वीतरागश्रुतम् २४। **संलेखनाश्रुतं** द्रव्य-भावसंलेखना प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनं संलेखनाश्रुतम्। तत्र द्रव्यसंलेखनोत्सर्गतः—

चत्तारि विचित्ताइं विगतीणिज्जूहियाइं चत्तारि। संवच्छरे य दोन्नि उ एगंतरियं च आयामं ॥१॥

णातिविगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं। अन्ने वि य छम्मासे होति विगिट्ठं तवोकम्मं ॥२॥

वासं कोडीसहियं आयामं काउमाणुपुव्वीए। गिरिकंदरं तु गंतुं पादवगमणं अह करेति ॥३॥

[ ]

भावसंलेखना तु क्रोधादिकषायप्रतिपक्षाभ्यास इति २५। **विहारकल्पः** विहरणं विहारः, तस्य कल्पः—व्यवस्था स्थविरकल्पादीनामुच्यते यत्र ग्रन्थेऽसौ विहारकल्पः २६। **चरणविधिः** चरणं—व्रतादि, तथा चोक्तम्—"वय समणधम्म०" गाहा [ओघनि. भा. गा. २], एतत्प्रतिपादकमध्ययनं चरणविधिः २७। **आतुरप्रत्याख्यानं** आतुरः—क्रियातीतो ग्लानः, तस्य प्रत्याख्यानम्। एत्थ विधी—गिलाणं किरियातीतं णाउं गीयत्था पच्चक्खावेंति दिणे दिणे दव्वह्रासं करेन्ता सन्तः, अंते य सव्वदव्वदायणयाए भत्ते वेरग्गं जणेत्ता भत्ते णित्तण्हस्स भवचरिमपच्चक्खाणं कारेंति, एयं जत्थ अज्झयणे सवित्थरं वण्णिज्जति तदज्झयणं आउरपच्चक्खाणं २८। **महाप्रत्याख्यानं** महच्च तत् प्रत्याख्यानं चेति समासः, एत्थ भावत्थो—थेरकप्पेण जिणकप्पेण वा विहरेत्ता अंते थेरकप्पिया बारस वासे संलेहं करेत्ता जिणकप्पिया पुण विहारेणेव संलीढा तहा वि जहाजुत्तं संलेहं करेत्ता निव्वाघातं सचेट्ठा चेव भवचरिमं पच्चक्खंति, एयं सवित्थरं जत्थऽज्झयणे वण्णिज्जइ तमज्झयणं महापच्चक्खाणं २९। एयाणि अज्झयणाणि जहा अभिधाणत्थाणि तहा वण्णियाणि। "से त"मित्यादि निगमनम्, तदेतदुत्कालिकम्। उपलक्षणं चैतदित्युक्तमुत्कालिकम् ॥

८४. से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—उत्तरज्झयणाइं १ दसाओ २ कप्पो ३ ववहारो ४ णिसीहं ५ महाणिसीहं ६ इसिभासियाइं ७ जंबुद्दीवपण्णत्ती ८ दीवसागरपण्णत्ती ९ चंदपण्णत्ती १० खुड्डियाविमाणपविभत्ती ११ महल्लियाविमाणपविभत्ती १२ अंगचूलिया १३ वग्गचूलिया १४ विवाहचूलिया १५ अरुणोववाए १६ वरुणोववाए १७ गरुलोववाए १८ धरणोववाए १९ वेसमणोववाए २० देविंदोववाए २१ वेलंधरोववाए २२ उट्ठाणसुयं २३ समुट्ठाणसुयं २४ नागपरियावणियाओ २५ निरयावलियाओ २६ कप्पियाओ २७ कप्पवडिंसियाओ २८ पुप्फियाओ २९ पुप्फचूलियाओ ३० वण्हीदसाओ ३१।

८४. **से किं त**मित्यादि। अथ किं तत् कालिकम्?। कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा—**उत्तराध्ययनानि** उत्तराणि—प्रधानानि रूढ्या चोत्तराध्ययनानि १। दशेत्यादि प्रायो निगदसिद्धम्। निशीथवद् **निशीथम्**, इदं प्रतीतमेव ५। अस्मादेव ग्रन्थार्थाभ्यां महत्तरं **महानिशीथम्** ६। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः ८। इहाऽऽवलिकाप्रविष्टेतरविमानप्रविभजनं यत्राध्ययने तद् **विमानप्रविभक्तिः**, तच्चैकमल्पग्रन्थार्थं तथाऽन्यन्महाग्रन्थार्थम् अतः क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्महतीविमानप्रविभक्तिरिति ११।१२। **अङ्गचूलिका** अङ्गस्य—आचारादे-

श्रूलिका अङ्गचूलिका, यथाऽऽचारस्यानेकविधा । इहोक्ता-ऽनुक्तार्थसङ्ग्रहात्मिका चूलिका १३ । वर्गचूलिका इह वर्गः—अध्ययनादिसमूहः, यथाऽन्तकृद्दशास्वष्ट वर्गा इत्यादि, तेषां चूलिका वर्गचूलिका १४ । व्याख्या—भगवतीति, अस्याश्चूलिका व्याख्याचूलिका १५ । अरुणोपपातः इहारुणो नाम देवस्तत्समयनिबद्धो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुः अरुणोपपातः, जाहे तमज्झयणं उवउत्ते समाणे समणे परियट्टेति ताहे से अरुणे देवे समयनिबद्धत्तणओ चलियासणे संभमुब्भंतलोयणे पउत्तावही वियाणियट्टे हट्टपहट्टे चल-चवलकुंडलधरे दिव्वाए जुतीए दिव्वाए विभूईए दिव्वाए गतीए जेणामेव से भगवं समणे तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भत्तिभरोणयवयणे विमुक्कवरकुसुमवासे ओवयति, ओवतित्ता ताहे से समणस्स पुरतो ठिचा अंतद्धिए कयंजलिए उवउत्ते संवेगविसुज्झमाणज्झवसाणे सुणेमाणे चिट्ठइ, समत्ते य भणइ—सुसज्झाइयं सुसज्झाइयं, वरं वरेहि त्ति, ततो से इहलोगणिप्पिवासे समतिण-मणि-मुत्ता-लेट्ठु-कंचणे सिद्धिवधूणिब्भराणुरायचित्ते समणे पडिभणइ—ण मे वरेण अट्ठो त्ति, ततो से अरुणे देवे अधिगतरजातसंवेगे पयाहिणं करेत्ता वंदित्ता णमंसित्ता पडिगच्छइ १६ । एवं वरुणोववादादिसु वि भाणियव्वं । उत्थानश्रुतं अध्ययनम्, तं पुण सिंगणाइयकज्जेसु जस्सेगकुलस्स वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा स च्चेव समणे कयसंकप्पे आसुरुत्ते अप्पसन्ने अप्पसन्नलेसे विसमासणत्थे उवउत्ते समाणे उट्ठाणसुअज्झयणं परियट्टेति एक्कं दो तिन्नि वा वारे, ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा ओहयमणसंकप्पे विलवंते दुयं दुयं पहावंते उट्ठेति, उव्वसति त्ति वुत्तं भवति २३ । तथा समुत्थानश्रुतं अध्ययनम्, तं पुण समत्ते कज्जे तस्सेव कुलस्स वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा स च्चेव समणे कयसंकप्पे तुट्ठे पसण्णे पसण्णलेसे समसुहासणत्थे उवउत्ते समाणे समुट्ठाणसुतज्झयणं परियट्टेति एक्कं दो तिन्नि वा वारे, ताहे से कुले वा जाव रायहाणी वा पहट्ठचित्ते पसन्नमणे कलयलं कुणमाणे मंदाए गतीए सललियं आगच्छइ, आगच्छित्ता समुट्ठेति, आवासेति त्ति वुत्तं भवतीत्यर्थः, एवं कयसंकप्पस्स परियट्टेन्तस्स पुव्वुट्ठितं समुट्ठेति २४ । णागपरियावणियाओ नागपरिज्ञा, नाग त्ति—नागकुमाराः तस्समयणिबद्धमज्झयणं, से जया समणे उवउत्ते परियट्टेति तदाऽकयसंकप्पस्स वि ते णागकुमारा तत्थत्था चेव तं समणं परियाणंति वंदंति नमंसंति बहुमाणं च करेंति, सिंगणादियकज्जेसु य वरदा भवन्तीत्यर्थः २५ । णिरयावलियाओ जासु आवलियपविट्ठेतरे य णिरया तग्गामिणो य णर-तिरिया पसंगओ वन्निज्जंति २६ । कप्पियाउ त्ति सौधर्मादिकल्पगतवक्तव्यतागोचरा ग्रन्थपद्धतयः कल्पिका उच्यन्ते २७ । एवं कल्पावतंसिकाः सोधम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पविमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि, तेसु य देवीओ जा जेण तवोविसेसेण उववन्ना इड्ढिं च पत्ता एवं वन्निज्जंति जासु ताओ कप्पवडेंसियाओ वुच्चंति २८ । तथा पुष्फियाउ त्ति इह यासु ग्रन्थपद्धतिषु गृहवाससुकुलनपरित्यागेन प्राणिनः संयमभावपुष्पिताः सुखिताः, पुनः संयमभावपरित्यागतो दुःखावाप्तिमुकुलिताः, पुनस्तत्परित्यागादेव पुष्पिताः प्रतिपाद्यन्ते ताः पुष्पिता उच्यन्ते २९ । अधिकृतार्थविशेषप्रतिपादिकास्तु पुष्पचूला इति ३० । तथा अन्धकवृष्णिनराधिपवक्तव्यताविषया अन्धकवृष्णिदशा उच्यन्ते ३१ ॥

८५. एवमाइयाइं चउरासीतीपइण्णगसहस्साइं भगवतो अरहओ सिरिउसहस्स आइतित्थयरस्स, तहा संखेज्जाणि पइण्णगसहस्साणि मज्झिमगाणं जिणवराणं, चोद्दस पइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स । अहवा जस्स जत्तिया सिस्सा उप्पत्तियाए वेणतियाए कम्मयाए पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं, पत्तेय-

बुद्धा वि तत्तिया चेव। से त्तं कालियं। से त्तं आवस्सयवइरित्तं। से त्तं अणंगपविट्ठं।

८५. एवमाइयाइं इत्यादि। 'एवमादीनि' सर्वथा कियन्त्याख्यास्यन्ते? चतुरशीतिप्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हतः श्रीऋषभस्याऽऽदितीर्थकरस्य, तथा सङ्ख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमानां–अजितादीनां पार्श्वपर्यन्तानां जिनवराणाम्, तीर्थकराणामित्यर्थः, एतानि च यावन्ति तानि प्रथमानुयोगतोऽवसेयानि, तथा चतुर्दश प्रकीर्णकसहस्राणि अर्हतः, कस्य?, वर्द्धमानस्वामिनः। अयमत्र भावार्थः—भगवतो उसहस्स चउरासीति समणसाहस्सीतो होत्था, पयन्नगज्झयणाणि य सव्वाणि कालिय-उक्कालियाणं चउरासीतिसहस्साणि। कथम्? यतो ताणि चउरासीतिसमणसहस्साणि अरहंतमग्गोवदिट्ठे जं सुयमणुसरित्ता किंचि णिज्जूहंते ताणि सव्वाणि पतिन्नगाणि, अहवा सुयमणुसारतो अप्पणो वयणकोसल्लेण जं धम्मदेसणादिसु भासंते तं सव्वं पइन्नगं। जम्हा अणंतगम-पज्जवं सुत्तं दिट्ठं, तं च वयणं णियमा अन्नयरगमाणुवाती, तम्हा तं पइन्नगं। एवं चउरासीतिपइन्नगसहस्साणि भवंतीत्यर्थः। एएण विहिणा मज्झिमतित्थगराणं संखेज्जाइं पइन्नगसहस्साणि। समणस्स वि भगवओ महावीरस्स जम्हा चोद्दस समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया तम्हा चोद्दस पइन्नगज्झयणसहस्साणि भवंति। एत्थ पुण एगे आयरिया एवं पन्नवेंति–किल एतं चुलसीइसहस्सादिगं उसभादिजिणवराणं समणपरिमाणं पहाणसुत्तणिज्जूहणसमत्थसमणे पडुच्च भणियं, सामन्नसमणा पुण बहुतरा तक्काले। अन्ने भणंति–उसभादीणं भवत्थाणं संचराणं एतं चुलसीतिसहस्सादिगं पमाणं, पवाहेण पुणो एगतित्थेसु बहुगा दट्ठव्वा, तत्थ जे पमाणभूयसुत्तणिज्जूहणसमत्था अन्नकाल्लिया वि ते एत्थ अहिगया, एए ते सुप्पसिद्धप्पइन्नगणिज्जूहगा चेव दट्ठव्वा। यत आह—"अथवे"त्यादि, 'अथवा' इति प्रकारान्तरप्रदर्शनम्, यस्य ऋषभादेस्तीर्थकृतः यावन्तः शिष्या औत्पत्तिक्या वैनयिक्या कर्मजया पारिणामिक्या च चतुर्विधया बुद्ध्या उपपेताः–समन्विताः तस्य तावन्त्येव प्रकीर्णकसहस्राणि, प्रत्येकबुद्धा अपि तावन्त एव। अत्रैके व्याचक्षते–किल प्रत्येकबुद्धरचितान्येव तान्यवगन्तव्यानि, प्रकीर्णकप्रमाणेन प्रत्येकबुद्धप्रमाणप्रतिपादनात्। स्यादेतत्, प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुध्यत इति, एतदप्यसत्, तेषां प्रत्येकबुद्धत्वादाचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावस्य निषिद्धत्वात्, तीर्थकरप्रणीतशासनप्रतिपन्नत्वेन तु तच्छिष्यभावो न विरुध्यत इति। अन्ये पुनरित्थमभिदधति–सामान्येनेह प्रकीर्णकैस्तुल्यत्वात् प्रत्येकबुद्धानामत्राभिधानम्, न तु नियोगतः प्रत्येकबुद्धरचितानि प्रकीर्णकानीत्यलं विस्तरेण। "से त"मित्यादि, तदेतत् कालिकम्, तदेतदावश्यकव्यतिरिक्तम्, तदेतदनङ्गप्रविष्टमिति ॥

८६. से किं तं अंगपविट्ठं? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं, तं जहा–आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ वियाहपण्णत्ती ५ णायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुतं ११ दिट्ठिवाओ १२।

८६. से किं तमित्यादि। अथ किं तदङ्गप्रविष्टम्?, अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–आचारः सूत्रकृतमित्यादि ॥

८७. से किं तं आयारे? आयारेणं समणाणं णिग्गंथाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइय-सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया-वित्तीओ आघविज्जंति। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–णाणायारे १ दंसणायारे २ चरित्तायारे ३ तवायारे ४ वीरियायारे ५। आयारे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा,

संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे, दो सुयक्खंधा, पणुवीसं अज्झयणा, पंचासीती उद्देसणकाला, पंचासीती समुद्देसणकाला, अट्ठारस पयसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा । सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंनाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से त्तं आयारे १ ।

८७. से किं तमित्यादि । अथ किं तदाचारवस्तु ?, यद्वा अथ कोऽयमाचारः ? । आचरणमाचारः, आचर्यत इति वा आचारः, शिष्टाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थः, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्याचार एवोच्यते । अनेन चाऽऽचारेण करणभूतेन श्रमणानामाचारादि आख्यायत इति योगः । अथवा आचारे "ण"-मिति वाक्यालङ्कारे 'श्रमणानां' प्राग्निरूपितशब्दार्थानां 'निर्ग्रन्थानां' बाह्या-ऽभ्यन्तरग्रन्थरहितानाम्, आह–श्रमणा निर्ग्रन्था एव भवन्ति विशेषणं किमर्थम् ?, उच्यते, शाक्यादिव्यवच्छेदार्थम् । उक्तं च–"निग्गंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा ।" [पिण्डनि. गा. ४४५] तत्राऽऽचारः–ज्ञानाद्यनेकभेदभिन्नः, गोचरः–भिक्षाग्रहणविधिलक्षणः, विनयः–ज्ञानादि, वैनयिकं–फलं कर्मक्षयादि, शिक्षा–ग्रहणा-ऽऽसेवनाभेदभिन्ना, विनेयशिक्षेत्यन्ये, विनेयः–शिष्यः, भाषा–सत्या १ असत्यामृषा २ च, अभाषा–असत्या १ सत्यामृषा २ च, चरणं–व्रतादि, करणं–पिण्डविशुद्ध्यादि, "जाता-माता-वित्तीओ" त्ति यात्रा–संयमयात्रा, मात्रा–तदर्थमेवाहारमात्रा, वर्त्तनं वृत्तिः विविधैरभिग्रहविशेषैरिति, आचारश्च गोचरश्चेत्यादि द्वन्द्वः क्रियते, ततश्चाऽऽचार-गोचर-विनय-वैनयिक-शिक्षा-भाषा-ऽभाषा-चरण-करण-यात्रा-मात्रा-वृत्तय आख्यायन्ते । इह च यत्र क्वचिदन्यतरोपादाने अन्यतरगतार्थाभिधानं तत् सर्वं तत्प्राधान्यख्यापनार्थमेवावसेयम् । "से समासतो" इत्यादि, 'सः' आचारः 'समासतः' सङ्क्षेपतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–ज्ञानाचार इत्यादि । तत्र ज्ञानाचारः—

काले १ विणए २ बहुमाणे ३ उवहाणे ४ तहा अनिण्हवणे ५ ।
वंजण ६ अत्थ ७ तदुभए ८ अट्ठविहो णाणमायारो ॥१॥   [दशवै. नि. गा. १८६]

दर्शनाचारः—

णिस्संकिय १ णिक्कंखिय २ णिव्वितिगिच्छा ३ अमूढदिट्ठी ४ य ।
उववूह ५ थिरीकरणे ६ वच्छल्ल ७ पभावणे ८ अट्ठ ॥२॥   [दशवै. नि. गा. १८४]

अतिसेस १ इड्डि २ आयरिय ३ वादि ४ धम्मकधि ५ खमग ६ णेमित्ती ७ ।
विज्जा राया-गणसम्मया ८ य तित्थं पभावेंति ॥३॥   [निशीथभा. गा. ३३]

चारित्राचारः—

पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिं समितीहिं तिहि य गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो अट्ठविहो होति नायव्वो ॥४॥   [दशवै. नि. गा. १८७]

तपाचारः—

बारसविहम्मि वि तवे सब्भिंतर-बाहिरे जिणुवदिट्ठे ।
अगिलाए अणाजीवी णायव्वो सो तवायारो ॥५॥   [दशवै. नि. गा. १८८]

वीर्याचारः—

अणिगूहियबल-विरिओ परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजति य जहाथामं णायव्वो वीरियायारो ॥६॥ [दशवै. नि. गा. १८९]

"आयारे णं परित्ता वायणा" आचारे "ण"मिति वाक्यालङ्कारे 'परित्ता' सङ्ख्येयाः, आद्यन्तोपलब्धेरनन्ता न भवन्तीत्यर्थः, काः ?, 'वाचनाः' सूत्रा-ऽर्थप्रदानलक्षणाः, अवसर्पिणीकालं वा प्रतीत्य "परित्त" त्ति । सङ्ख्येयानि 'अनुयोगद्वाराणि' उपक्रमादीनि, अध्ययनानामेव सङ्ख्येयत्वात् प्रज्ञापकवचनगोचरत्वात् । "संखेज्जा वेढा" 'वेढाः' छन्दोविशेषाः । "संखेज्जा सिलोगा" 'श्लोकाः' प्रतीता अनुष्टुप्छन्दसा । "संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ" निर्युक्तानां युक्तिर्निर्युक्तयुक्तिरिति वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरिति, एताश्च निक्षेपनिर्युक्त्याद्याः सङ्ख्येया इति । "संखेज्जाओ पडिवत्तीओ" द्रव्यादिपदार्थाभ्युपगमाः प्रतिपत्तयः, प्रतिमाद्यभिग्रहविशेषा वा । "से ण"मित्यादि 'सः' आचारः "ण"मिति वाक्यालङ्कारे 'अङ्गार्थतया' अङ्गार्थत्वेन, अर्थग्रहणं परलोकचिन्तां प्रति सूत्रादर्थस्य गरीयस्त्वख्यापनार्थम्, सूत्रार्थोभयरूपो वाऽयमिति ख्यापनार्थम्, प्रथममङ्गम्, स्थापनामधिकृत्याऽऽद्यमङ्गमित्यर्थः । द्वौ 'श्रुतस्कन्धौ' अध्ययनसमुदायलक्षणौ । पञ्चविंशतिरध्ययनानि, तद्यथा—

सत्थपरिन्ना १ लोगविजयो य २ सीतोसणिज्ज ३ सम्मत्तं ४ ।
आवंति ५ धुअ ६ विमोहो ७ महापरिन्नो८वहाणसुयं ९ ॥१॥ पढमो सुयक्खंधो ॥
पिंडेसण १ सेज्जि२रिया ३ भासज्जाया य ४ वत्थ ५ पाएसा ६ ।
उग्गहपडिमा ७ सत्त य सत्तिकया १४ भावण १५ विमुत्ती १६ ॥२॥
[आवश्यकसङ्ग्रहणी. हारि. वृत्ति पत्र ६६०-१]

एवमेतानि निशीथवर्जानि पञ्चविंशतिरध्ययनानि । तथा पञ्चाशीत्युद्देशनकालाः, कथम् ? उच्यते, अङ्गस्य श्रुतस्कन्धस्याध्ययनस्योद्देशकस्य च एतेषां चतुर्णामप्येक एव, एवं सत्थपरिन्नाए सत्त उद्देसणकाला ७, लोगविजयस्स छ फा, सीओसणिज्जस्स चउरो टूक, सम्मत्तस्स चउरो टूक, लोगसारस्स छ र्फु, धुतस्स पंच ना, विमोहज्झयणस्स अट्ठ ह, महापरिन्नाए सत्त ग्र, उवहाणसुतस्स चउरो टूक, पिंडेसणाए एक्कारस ११, सेज्जाए तिन्नि ३, इरियाए तिन्नि ३, भासज्जाए दोन्नि २, वत्थेसणाए दोन्नि २, पाएसणाए दोन्नि २, उग्गहपडिमाए दोन्नि २, सत्तिकयाए सत्त ७, भावणाए एक्को १, विमोत्तीए एक्को १, एवमेए संपिंडिया पंचासीई भवन्ति । एत्थ संगहगाहा—

सत्त य छ चउ चउरो छ पंच अट्ठेव सत्त चउरो य । एक्कार ति ति य दो दो दो दो सत्तेक्क एक्को य ॥१॥

एवं समुद्देसणकाला वि भाणियव्वा । अष्टादश पदसहस्राणि पदाग्रेण, इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत् पदम् । चोदक आह–जदि दो सुतक्खंधा पणुवीसं अज्झयणाणि अट्ठारस पदसहस्साणि पदग्गेणं भवन्ति तो जं भणियं "णव बंभचेरमइओ अट्ठारसपदसहस्सिओ वेओ ।" [आचा. नि. गा. ११] त्ति एयं विरुज्झइ ? आचार्य आह–णणु एत्थ वि भणियं "हवइ य सपंचचूलो बहु बहुअयरो पयग्गेणं ॥" [आचा. नि. गा. ११] ति, इह सुत्तालावयपदेहिं सहितो बहू बहुयरो य वक्तव्य इत्यर्थः, अथवा दो सुयक्खंधा पणुवीसं अज्झयणाणि एयं आयारग्गसहितस्स आयारस्स पमाणं भणियं, अट्ठारस पयसहस्साणि पुण पढमसुयक्खंधस्स णवबंभचेरमतियस्स पमाणं, विचित्तत्थबद्धाणि य सुत्ताणि, गुरूवदेसतो तेसिं अत्थो जाणियव्वो । "संखेज्जा अक्खरा" सङ्ख्येयान्यक्षराणि, वेढादीनां सङ्ख्येयत्वात् ।

"अणंता गमा" इह गमा अर्थगमा गृह्यन्ते, अर्थपरिच्छेदा इत्यर्थः, ते चानन्ताः, एकस्मादेव सूत्रात् तत्तद्धर्मविशिष्टानन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपत्तेः । अन्ये तु व्याचक्षते—अभिधाना-ऽभिधेयवशतो गमा इति, ते चानन्ताः, ते पुनरनेन विधिना अवसेयाः, तद्यथा–सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया. आउसंतेणं भगवया, सुयं मे आउसंपदा, सुयं मे आउसं तहिं, सुयं मे आउसं, आउसं सुयं मे, आसुयं मया, तं सुयं मया, आ तया सुयं मया, आ तहिं सुयं मया आ, एवमादिभिर्भण्यमानं किलानन्तगममिति । "अणंता पज्जवा" स्व-परभेदभिन्नाः अक्षरार्थपर्याया इत्यर्थः । "परित्ता तसा" त्रस्यन्तीति 'त्रसाः' द्वीन्द्रियादयस्ते च परित्ताः । "अणंता थावरा" वनस्पतिकायसहिताः परिगृह्यन्ते । "सासय-कड-णिबद्ध-णिकाइय" त्ति शाश्वता द्रव्यार्थतयाऽविच्छेदेन प्रवृत्तेः, कृताः पर्यायार्थतया प्रतिसमयमन्यत्वावाप्तेः, निबद्धाः सूत्र एव, निकाचिता निर्युक्ति-सङ्ग्रहणि-हेतूदाहरणादिभिः । "जिणपन्नत्ता" जिनैः प्रज्ञप्ताः 'भावाः' पदार्थाः "आघविज्जंती"त्यादि ध्रुवगण्डिका पूर्ववत् । साम्प्रतमाचाराङ्गग्रहणफलप्रतिपादनायाऽऽह– "से एव"मित्यादि, 'सः' इत्याचाराङ्गग्राहकोऽभिसम्बध्यते, "एवंआय" त्ति अस्मिन् भावतः सम्यगधीते सति एवमात्मा भवति, तदुक्तक्रियापरिणामात्माव्यतिरेकात् स एव भवतीत्यर्थः । एवं क्रियासारमेव ज्ञानमिति ख्यापनार्थं क्रियापरिणाममभिधायाधुना ज्ञानमधिकृत्याह–"एवंणाय" त्ति इदमधीत्य एवंज्ञाता भवति यथैवेहोक्तमिति । "एवंविन्नाय" त्ति एवं विविधो विशिष्टो वा ज्ञाता विज्ञाता एवंविज्ञाता भवति, तन्त्रान्तरीयज्ञातृभ्यः प्रधानतर इत्यर्थः । एवं चरण-करणपरूवणया आघविज्जतीत्यादि । निगमनवाक्यं भावितार्थमेव ॥

८८. से किं तं सूयगडे ? सूयगडेणं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोया-ऽलोए सूइज्जइ, जीवा सूइज्जंति, अजीवा सूइज्जंति, जीवा-ऽजीवा सूइज्जंति, ससमए सूइज्जइ, परसमए सूइज्जइ, ससमय-परसमए सूइज्जइ । सूयगडे णं आसीतस्स किरियावादिसयस्स, चउरासीईए अकिरियवादीणं, सत्तट्ठीए अण्णाणियवादीणं, बत्तीसाए वेणइयवादीणं, तिण्हं तेसट्ठाणं पावादुयसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ । सूयगडे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे, दो सुयक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा, तेत्तीसं उद्देसणकाला, तेत्तीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पदसहस्साणि पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से त्तं सूयगडे २ ।

८८. से किं तं सूयगडे ? । "सूत्र सूचायाम्" [ ]सूचनात् सूत्रम्, सूत्रेण कृतं सूत्रकृतं रूढ्योच्यते । तत्र लोक्यते अनेन वाऽस्मिन् वा लोकः । सूच्यत इत्यादि निगदसिद्धं यावत् 'आसीतस्स किरियावादिसतस्स' अशीत्यधिकस्य क्रियावादिशतस्य व्यूहं कृत्वा स्वसमयः स्थाप्यत इति योगः । एवं शेषपदेष्वपि क्रिया योजनीयेति । तत्र न कर्तारं विना क्रियासम्भव इति तामात्मसमवायिनीं वदन्ति ये तच्छीलाश्च ते

क्रियावादिनः। ते पुनरात्माद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेनाशीत्यधिकशतसङ्ख्या विज्ञेयाः—जीवा-ऽजीवा-ऽऽस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-पुण्य-पाप-मोक्षाख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याधः स्व-परभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्या-ऽनित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरा-ऽऽत्म-नियति-स्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः, पुनश्चैवं विकल्पाः कर्त्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः। विकल्पार्थश्चायम्—विद्यते खल्वात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालवादिनः। उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्प ईश्वरकारणिनः, तृतीयो विकल्पः आत्मवादिनः "पुरुष एवेदं सर्वम्" [ऋग्वेदमं. १० सू. ९०] इत्यादि, नियतिवादिनश्चतुर्थविकल्पः, पञ्चमविकल्पः स्वभाववादिनः। एवं स्वत इत्यजहता लब्धाः पञ्च विकल्पाः। परत इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते। नित्यत्वापरित्यागेन चैते दश विकल्पाः। एवमनित्यत्वेनापि दशैव. एते विंशतिर्जीवपदार्थेन लब्धाः, अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं विंशतिर्विकल्पानाम्, अतो विंशतिर्नव गुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति।

'चउरासीईते अकिरियावादीणं' चतुरशीतेरक्रियावादिनाम्, क्रिया पूर्ववत्, न हि कस्यचिदनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भावे चावस्थितेरभावादित्येवंवादिनोऽक्रियावादिनः। तथा चाऽऽहुरेके—

क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थितानां कुतः क्रिया?।
भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ॥१॥ [ ] इत्यादि।

एते चाऽऽत्मादिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन चतुरशीतिर्द्रष्टव्याः—एतेषां हि पुण्या-ऽपुण्यविवर्जितपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव, जीवस्याधः स्व-परविकल्पभेदद्वयोपन्यासः, असत्त्वादात्मनो नित्या-ऽनित्यभेदौ न स्तः, कालादीनां तु पञ्चानां षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते, पश्चाद् विकल्पाभिलापः—नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विकल्पः, एवमीश्वरादिभिरपि यदृच्छावसानैः, सर्वे च षड् विकल्पाः। तथा नास्ति जीवः परतः कालत इति षडेव विकल्पाः, एकत्र द्वादश, एवमजीवादिष्वपि षट्सु प्रतिपदं द्वादश विकल्पाः, एवं द्वादश सप्तगुणाश्चतुरशीतिविकल्पा नास्तिकानामिति।

'सत्तट्ठीए अन्नाणियवादीणं' ति सप्तषष्टिरज्ञानिकवादिनाम्, क्रिया प्राग्वत्। तत्र कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्तीत्यज्ञानिकाः। नन्वेवं लघुत्वात् प्रक्रमस्य प्राग् बहुव्रीहिणा भवितव्यम् ततश्चाज्ञाना इति स्यात्, नैष दोषः, ज्ञानान्तरमेवाज्ञानम्, मिथ्यादर्शनसहचरितत्वात्, ततश्च जातिशब्दत्वात् गौरखरवदरण्यमित्यादिवदज्ञानिकत्वमिति। अथवा अज्ञानेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा अज्ञानिकाः, असञ्चिन्त्यकृतबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः। ते चामुनोपायेन सप्तषष्टिर्ज्ञातव्याः—तत्र जीवादीन् नव पदार्थान् पूर्ववद् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याधः सप्त सदादयः उपन्यसनीयाः, सत्त्वं १ असत्त्वं २ सदसत्त्वं ३ अवाच्यत्वं ४ सदवाच्यत्वं ५ असदवाच्यत्वं ६ सदसदवाच्यत्वमिति ७ च, एकैकस्य जीवादेः सप्त सप्त विकल्पाः, त एते नव सप्तकाः त्रिषष्टिः, उत्पत्तेस्तु चत्वार एवाद्या विकल्पाः, तद्यथा—सत्त्वमसत्त्वं सदसत्त्वं अवाच्यत्वं चेति, त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्ताः सप्तषष्टिर्भवन्ति। को जानाति जीवः सन्? इत्येको विकल्पः, ज्ञातेन वा किम्?, एवं असदादयोऽपि वाच्याः, उत्पत्तिरपि किं सतोऽसतः सदसतोऽवाच्यस्य? इति को वा जानातीत्येतत्?, न कश्चिदपीत्यभिप्रायः।

"बत्तीसाए वेणइयवादीणं" द्वात्रिंशतो वैनयिकवादिनाम्, क्रिया पूर्ववत्। तत्र विनयेन चरन्ति विनयो वा प्रयोजनमेषामिति वैनयिकाः, एते चानवधृतलिङ्गा-ऽऽचार-शास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन द्वात्रिंशदवगन्तव्याः—सुर-नृपति-ज्ञाति-यति-स्थविरा-ऽधम-मातृ-पितॄणां प्रत्येकं कायेन वाचा मनसा दानेन च देश-कालोपपन्नेन

विनयः कार्य इति, एते चत्वारो भेदाः सुरादिष्वष्टसु स्थानेषु, एकत्र मेलिता द्वात्रिंशदिति । सर्वसङ्ख्यां प्रतिपादयन्नाह–"तिण्हं तेसट्ठाण"मित्यादि, त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां 'प्रावादुकशतानां' विचित्रैकैकनयमतावलम्बिनां प्रवादिशतानामित्यर्थः 'व्यूहं' प्रतिक्षेपं कृत्वा 'स्वसमयः' स्वसिद्धान्तः स्थाप्यते । शेषं किञ्चिद् व्याख्यातं किञ्चित् सुगममिति यावत् "से तं सूयगडे" त्ति कण्ठ्यम् २ ॥

८९. से किं तं ठाणे ? ठाणेणं जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवा-ऽजीवा ठाविज्जंति, लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोया-ऽलोए ठाविज्जइ, ससमए ठाविज्जइ, परसमए ठाविज्जइ, ससमय-परसमए ठाविज्जइ । ठाणे णं टंका कूडा सेला सिहरिणो पब्भारा कुंडाइं गुहाओ आगरा दहा णदीओ आघविज्जंति । ठाणे णं एगाइयाए एगुत्तरियाए वुड्ढीए दसट्ठाणगविवड्ढियाणं भावाणं परूवणया आघविज्जति । ठाणे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा, एक्कवीसं उद्देसणकाला, एक्कवीसं समुद्देसणकाला, बावत्तरिं पदसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से त्तं ठाणे ३ ।

८९. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् स्थानम् ?, तिष्ठन्त्यस्मिन् प्रतिपाद्यतया जीवादय इति स्थानम् । तथा चाह–"ठाणे ण"मित्यादि, स्थानेन स्थाने वा जीवाः स्थाप्यन्ते, व्यवस्थितस्वरूपप्रतिपादनयेति हृदयम् । शेषं प्रायो निगदसिद्धमेव । नवरम्–"टंक" त्ति छिन्नतडं टंकं । "कूड" त्ति पव्वतोवरिं, जहा वेयड्ढस्सोवरिं नव सिद्धाययणादिया कूडा । "सेल" त्ति हिमवंतादिया सेला । "सिहरिणो" त्ति सिहरेण सिहरिणो त्ति, ते य वेयड्ढाइया । "पब्भार" त्ति जं कूडं उवरिं अंबखुज्जयं तं पब्भारं, जं वा पव्वयस्स उवरिभागे हत्थिकुंभागिती कुडुहं णिग्गयं तं पब्भारं भन्नइ । "कुंड" त्ति गंगादीणि कुण्डानि । "गुह" त्ति तिमिसादिया गुहा । "आगर" त्ति रुप्प-सुवन्न-रयणादिउप्पत्तिट्ठाणा आगरा । "दह" त्ति पोंडरीयादीया दहा । "णदीउ" त्ति गंगा-सिंधुमादीओ । शेषं क्षुण्णार्थं यावन्निगमनमिति ३ ॥

९०. से किं तं समवाए ? समवाएणं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति, जीवा-ऽजीवा समासिज्जंति, लोए समासिज्जति, अलोए समासिज्जति, लोया-ऽलोए समासिज्जति, ससमए समासिज्जति, परसमए समासिज्जति, ससमय-परसमए समासिज्जति । समवाए णं एगाइयाणं एगुत्तरियाणं ठाणगसयविवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जति । दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जति । समवाए णं परित्ता

वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ। से णं अंगट्ठयाए चउत्थे अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे अज्झयणे, एगे उद्देसणकाले, एगे समुद्देसणकाले, एगे चोयाले पदसयसहस्से पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जति। से त्तं समवाए ४।

९०. से किं तमित्यादि। अथ कोऽयं समवायः?, सम् अव अयः समवायः, सम्यगधिकपरिच्छेद इत्यर्थः, तद्धेतुकश्च ग्रन्थोऽपि समवायः। तथा चाऽऽह–समवायेन समवाये वा जीवाः समाश्रीयन्ते, अविपरीतस्वरूप-गुणभूषिता बुद्ध्या अङ्गीक्रियन्त इत्यर्थः। अथवा जीवाः 'समस्यन्ते' कुप्ररूपणाभ्यः सम्यक्प्ररूपणायां क्षिप्यन्ते, शेषं निगदसिद्धमा निगमनम्। नवरम्–"एगादियाण"मित्यादि, अत्रैकाद्येकोत्तरं स्थानशतं भवति, यथा–"एगे आया" इत्यादि। शेषं सूत्रसिद्धं यावन्निगमनमिति ४॥

९१. से किं तं वियाहे? वियाहेणं जीवा वियाहिज्जंति, अजीवा वियाहिज्जंति, जीवा-ऽजीवा वियाहिज्जंति, लोए वियाहिज्जति, अलोए वियाहिज्जति, लोया-ऽलोए वियाहिज्जति, ससमए वियाहिज्जति, परसमए वियाहिज्जति, ससमय-परसमए वियाहिज्जति। वियाहे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ। से णं अंगट्ठयाए पंचमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे सातिरेगे अज्झयणसते, दस उद्देसगसहस्साइं, दस समुद्देसगसहस्साइं, छत्तीसं वागरणसहस्साइं, दो लक्खा अट्ठासीतिं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से त्तं वियाहे ५।

९१. से किं तमित्यादि। अथ केयं व्याख्या?, व्याख्यानं व्याख्या। तथा चाह–व्याख्यायां जीवादयो व्याख्यायन्ते। इह सयं चेव अज्झयणसयं। शेषं प्रकटार्थं यावत् "से तं वियाहे" त्ति निगमनम् ५॥

९२. से किं तं णायाधम्मकहाओ? णायाधम्मकहासु णं णायाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-परलोगिया रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जाओ परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं संले-

हणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाईओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति । दस धम्मकहाणं वग्गा । तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइओवक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ भवंति त्ति मक्खायं । णायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगट्ठयाए छट्ठे अंगे, दो सुयक्खंधा, एगूणवीसं णातज्झयणा, एगूणवीसं उद्देसणकाला, एगूणवीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जति । से त्तं णायाधम्मकहाओ ६ ।

९२. से किं तमित्यादि । अथ कास्ताः ज्ञाताधर्मकथाः ? । ज्ञातानि–उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथाः ज्ञाताधर्मकथाः । आह च–"णायाधम्मकहासु णं" इत्यादि, ज्ञातानां–उदाहरणभूतानां नगरादीन्याख्यायन्ते । "दस धम्मकहाणं वग्गा" इत्यादि, एत्थ भावणा–एगूणवीसं णायज्झयणाणि, णाय त्ति–आहरणा, दिट्ठंतिओ उवणिज्जति जेहऽत्थो वा ताणि णाताणि–अज्झयणा, एए पढमसुयखंधे । अहिंसादिलक्खणस्स धम्मस्स कहाओ धम्मकहाओ, धम्मियाओ वा कहाओ धम्मकहाओ, अक्खाणग त्ति वुत्तं भवति, एयाणि बितियसुयखंधे । पढम-बितियसुयखंधभणियाणं णायाधम्मकहाणं नगरादिया भणंति । बितियसुयखंधे दस धम्मकहाणं वग्गा, "वग्गो" त्ति समूहो, तव्विसेसणविसिट्ठा दस अज्झयणा चेव ते दट्ठव्वा, एगूणवीसं णाया, दस धम्मकहाओ । तत्थ णातेसु आदिमा दस णाता णाया चेव, ण तेसु अक्खादियादिसंभवो, सेसा णव णाया, तेसु पुण एक्केक्के णाते पंच पंच चत्तालाइं अक्खाइयासयाइं, एत्थ वि एक्केकाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयसयाइं, तत्थ वि एक्केकाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइयोवक्खाइयसयाइं । एवमेयाइं संपिंडियाइं किं संजायं ?—

इगवीसं कोडिसयं लक्खा पन्नासमेव बोद्धव्वा ।
एवं ठिते समाणे अधिगतसुत्तस्स पत्थावो ॥१॥　　[　　]

तं जहा–दस धम्मकहाणं वग्गा, तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयसयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयसयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइयोवक्खाइयसयाइं । एवमेयाइं संपिंडियाइं किं संजातं ?—

पणुवीसं कोडिसयं एत्थ य समलक्खणाइगा जम्हा । णवणायगसंबद्धा अक्खाइयमाइया तेणं ॥१॥
ते सोहिज्जंति फुडं इमाओ रासीओ वेगलाणं तु । पुणरुत्तवज्जियाणं पमाणमित्थं विणिद्दिट्ठं ॥२॥
[　　]

सोधिए य समाणे अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ चेव हवंति, अत एवाह–"एवमेव सपुव्वावरेणं" भणिय-पगारेणं गुणण-सोहणे कते त्ति वुत्तं भवति, "अद्धुट्ठाओ कहाणयकोडीओ भवंतीति मक्खायं" प्रकटार्थमिति, एवं गुरवो व्याचक्षते। अन्ये पुनरन्यथा, तदभिप्रायं पुनर्वयमतिगम्भीरत्वान्नावगच्छामः, परमार्थं त्वत्र विशिष्टश्रुतविदो विदन्तीत्यलं प्रसङ्गेन। शेषं सुगमं यावत् "संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं" ते य किल पंच लक्खा छावत्तरिं च सहस्सा पदग्गेणं, अहवा सुत्तालावयपयग्गेणं संखेज्जा पदसहस्सा भवंति, एवं सव्वत्थ भावेयव्वं। शेषं सूत्रसिद्धं यावन्निगमनमिति ६॥

९३. से किं तं उवासगदसाओ ? उवासगदसासु णं समणोवासगाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-परलोइया रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चाया परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासपडिवज्जणया पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाईओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति। उवासगदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ। से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा, दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पदसहस्साइं पयग्गेणं। संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जति। से त्तं उवासगदसाओ ७।

९३. से किं तमित्यादि। उपासकाः–श्रावकाः तद्गतक्रियाकलापनिबद्धा दशाः–दशाध्ययनोपलक्षिताः उपासकदशाः। तथा चाह–"उवासगदसासु णं" इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत् "संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं" ते च किल एक्कारस लक्खा बावन्नं च सहस्सा पयग्गेणं ति। शेषं कण्ठ्यमा निगमनमिति ७॥

९४. से किं तं अंतगडदसाओ ? अंतगडदसासु णं अंतगडाणं णगराइं उज्जाणाइं चेतियाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-परलोगिया रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जाओ परियागा सुतपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाईओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति। अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगह-

णीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ। से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, अट्ठ वग्गा, अट्ठ उद्देसणकाला, अट्ठ समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जति। से त्तं अंतगडदसाओ ८।

९४. से किं तमित्यादि। अन्तः–विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलभूतस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृतः, ते च तीर्थकरादयः, तेषां दशाः प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तत्सङ्ख्यया अन्तकृद्दशा इति। तथा चाऽऽह–"अंतकडदसासु ण"मित्यादि पाठसिद्धं यावत् "अंतकिरियाओ" त्ति भवापेक्षया अन्त्याश्च ताः क्रियाश्चेति समासः, ताश्च शैलेश्यवस्थाद्या गृह्यन्ते। शेषं प्रकटार्थं यावत् "अट्ठ वग्गा" एत्थ 'वग्गो' त्ति समूहो, सो य अंतगडाणं अज्झयणाणं वा। सव्वाणि अज्झयणाणि जुगवं उद्दिसंति, अतो भणियं–"अट्ठ उद्देसणकाला" इच्चादि। "संखेज्जा पदसहस्सा पयग्गेणं" ते य किल एवतिया–तेवीसं लक्खा चउरो य सहस्सा पदग्गेणं ति। शेषं सूत्रसिद्धं यावन्निगमनमिति ८॥

९५. से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ? अणुत्तरोववाइयदसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-परलोगिया रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जपरियागा सुतपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरोववाइयत्ते उववत्ती सुकुलपच्चायादीओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति। अणुत्तरोववाइयदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ। से णं अंगट्ठयाए णवमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, तिण्णि वग्गा, तिण्णि उद्देसणकाला, तिण्णि समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ। से त्तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ९।

९५. से किं तमित्यादि। उत्तरः–प्रधानः, नास्योत्तरो विद्यत इति अनुत्तरः, उपपतनमुपपातः, जन्मेत्यर्थः, अनुत्तरः–प्रधानः संसारेऽन्यस्य तथाविधस्याभावाद् उपपातो येषामिति समासः, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धा दशाः–दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरोपपातिकदशाः। तथा चाऽऽह–"अणुत्तरोववाइयदसासु ण"मित्यादि सूत्रसिद्धं

यावत् “तिन्नि वग्गा” त्ति इहाध्ययनसमूहो वर्गः, वर्गे वर्गे दशाध्ययनानि। वर्गश्च युगपदेवोद्दिश्यत इत्यत आह– “तिन्नि उद्देसणकाला” इत्यादि। “संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं” ते य किल छायालीसं लक्खा अट्ठ य सहस्स त्ति। शेषं प्रकटार्थं यावन्निगमनमिति ९॥

९६. से किं तं पण्हावागरणाइं? पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिणसयं, अट्ठुत्तरं अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणा-ऽपसिणसयं, अण्णे वि विविधा दिव्वा विज्जातिसया नाग-सुवण्णेहि य सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति। पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ। से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पदसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ। से त्तं पण्हावागरणाइं १०।

९६. से किं तमित्यादि। प्रश्नः–प्रतीतः, तन्निर्वचनं व्याकरणम्, बहुत्वाद् बहुवचनम्। प्रश्नव्याकरणेषु “अट्ठोत्तरं पसिणसयं” इत्यादि। अंगुट्ठ-बाहुपसिणादियाओ पसिणाओ। जे पुण विज्जा-मंता विधीए जविज्जमाणा अपुच्छिया चेव सुभा-ऽसुभं कहेंति एता अपसिणातो। तहा अंगुट्ठपसिणभावं च पडुच्च साधेंति जा विज्जाओ ताओ पसिणापसिणाओ त्ति। अथवा अणंतरं जा कहिंति ता पसिणा, परंपरं पसिणापसिण त्ति, तं पुण विज्जाकहितं तस्स परंपरं भवति। अन्ने य दिव्वा विचित्ता विज्जातिसया। शेषं निगदसिद्धं यावत् “संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं” ते य किल बाणउतिलक्खा सोलस य सहस्स त्ति। शेषं गतार्थं यावदन्त इति १०॥

९७. से किं तं विवागसुतं? विवागसुते णं सुकड-दुक्कडाणं कम्माणं फल-विवागा आघविज्जंति। तत्थ णं दस दुहविवागा, दस सुहविवागा।

से किं तं दुहविवागा? दुहविवागेसु णं दुहविवागाणं णगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं चेइयाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोइय-परलोइया रिद्धिविसेसा निरयगमणाइं दुहपरंपराओ संसारभवपवंचा दुकुलपच्चायाईओ दुलहबोहियत्तं आघविज्जंति। से त्तं दुहविवागा।

से किं तं सुहविवागा? सुहविवागेसु णं सुहविवागाणं णगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं चेइयाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोइअ-परलोइया रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जाओ परियागा सुतपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ

भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुहपरंपराओ सुकुलपच्चायादीओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति।

विवागसुते णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ। से णं अंगट्ठयाए एकारसमे अंगे, दो सुयक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पदसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जति। से त्तं विवागसुतं ११।

९७. से किं तमित्यादि। विपचनं विपाकः, शुभा-ऽशुभकर्मपरिणाम इत्यर्थः, तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रुतम्। शेषमा निगमनं सूत्रसिद्धमेव। नवरम्–"संखेज्जा पदसहस्सा पदग्गेणं" एते य एगा पदकोडी चुलसीइं च लक्खा बत्तीसं च सहस्स त्ति ११॥

९८. से किं तं दिट्ठिवाए? दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जति। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–परिकम्मे १ सुत्ताइं २ पुव्वगए ३ अणुओगे ४ चूलिया ५।

९८. से किं तमित्यादि। दृष्टयः–दर्शनानि, वदनं वादः, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः। दृष्टीनां वा पातो यत्रासौ दृष्टिपातः, सर्वनयदृष्टय एवेहाऽऽख्यायन्त इत्यर्थः। तथा चाऽऽह–दृष्टिवादेन दृष्टिपातेन दृष्टिवादे दृष्टिपाते वा सर्वभावप्ररूपणा आख्यायते। "से समासओ पंचविहे पन्नत्ते" इत्यादि। सर्वमिदं प्रायो व्यवच्छिन्नं तथापि लेशतो यथागतसम्प्रदायं किञ्चिद् व्याख्यायत इति॥

९९. से किं तं परिकम्मे? परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा–सिद्धसेणियापरिकम्मे १ मणुस्ससेणियापरिकम्मे २ पुट्ठसेणियापरिकम्मे ३ ओगाढसेणियापरिकम्मे ४ उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ५ विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ६ चुतअचुतसेणियापरिकम्मे ७।

१००. से किं तं सिद्धसेणियापरिकम्मे? सिद्धसेणियापरिकम्मे चोद्दसविहे पण्णत्ते, तं जहा–माउगापयाइं १ एगट्ठियपयाइं २ अट्ठापयाइं ३ पाढो ४ आमासपयाइं ५ केउभूयं ६ रासिबद्धं ७ एगगुणं ८ दुगुणं ९ तिगुणं १० केउभूयपडिग्गहो ११ संसारपडिग्गहो १२ नंदावत्तं १३ सिद्धावत्तं १४। से त्तं सिद्धसेणियापरिकम्मे १।

१०१. से किं तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे? मणुस्ससेणियापरिकम्मे चोद्दसविहे पण्णत्ते, तं जहा–माउगापयाइं १ एगट्ठियपयाइं २ अट्ठापयाइं ३ पाढो ४ आमासपयाइं ५ केउभूयं ६

रासिबद्धं ७ एगगुणं ८ दुगुणं ९ तिगुणं १० केउभूयपडिग्गहो ११ संसारपडिग्गहो १२ णंदावत्तं १३ मणुस्सावत्तं १४। से त्तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे २।

१०२. से किं तं पुट्ठसेणियापरिकम्मे? पुट्ठसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पण्णत्ते, तं जहा—पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिबद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० पुट्ठावत्तं ११। से त्तं पुट्ठसेणियापरिकम्मे ३।

१०३. से किं तं ओगाढसेणियापरिकम्मे? ओगाढसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पण्णत्ते, तं जहा—पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिबद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० ओगाढावत्तं ११। से त्तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ४।

१०४. से किं तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे? उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पण्णत्ते, तं जहा—पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिबद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० उवसंपज्जणावत्तं ११। से त्तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ५।

१०५. से किं तं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे? विप्पजहणसेणियापरिकम्मे एगारसविहे पण्णत्ते, तं जहा—पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिबद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० विप्पजहणावत्तं ११। से त्तं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ६।

१०६. से किं तं चुयमचुयसेणियापरिकम्मे? चुयमचुयसेणियापरिकम्मे एगारसविहे पण्णत्ते, तं जहा—पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिबद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० चुयमचुयावत्तं ११। से त्तं चुयमचुयसेणियापरिकम्मे ७।

९९-१०६. तत्र सूत्रादिग्रहणयोग्यतासम्पादनसमर्थानि परिकर्माणि, गणितपरिकर्मवत्। तं च परिकम्मसुयं सिद्धसेणियादिपरिकम्ममूलभेदतो सत्तविहं, उत्तरभेदतो तेरासीतिविहं माउगपदाति। एयं च सव्वं मूलुत्तरभेदं सुत्तत्थतो वोच्छिन्नं, यथागतसम्प्रदायं वा वाच्यम्॥

१०७. [इच्चेइयाइं सत्त परिकम्माइं, छ ससमइयाइं, सत्त आजीवियाइं,] छ चउक्कणइयाइं, सत्त तेरासियाइं। से त्तं परिकम्मे १।

१०७. एएसिं परिकम्माणं छ आदिमा य परिकम्मा ससमइया चेव, गोसालयपवत्तियआजीवगपासंडिसिद्धंतमएणं पुण चुयअचुयसेणियापरिकम्मसहिया सत्त पन्नविज्जंति। इयाणिं परिकम्मे णयचिंता–तत्थ णेगमो दुविहो, संगहितो असंगहितो य, संगहिओ संगहं पविट्ठो, असंगहिओ ववहारं, तम्हा संगहो ववहारो ऋजुसुत्तो सद्दादिया य एक्को एवं चउरो णया। एतेहिं चउहिं णएहिं छ ससमइयाइं परिकम्माइं चिंतिज्जंति, अतो भणियं–छ चउक्कणयाइं भवंति। ते चेव आजीविया तेरासिया भणिया। कम्हा? उच्यते, जम्हा ते सव्वं जगत् त्र्यात्मकमिच्छन्ति, यथा जीवोऽजीवो जीवाजीवो, लोए अलोए लोयालोए, संते असंते संतासंते एवमादि। णयचिंताए ते तिविहं णयमिच्छंति, तंजहा–दव्वट्ठितो पज्जवट्ठितो उभयट्ठिओ, अओ भणियं—"सत्त तेरासिय"त्ति, सत्त परिकम्माइं तेरासियपासंडत्था तिविहाए णयचिंताए चिन्तयन्तीत्यर्थः। "से त्तं परिकम्मे"त्ति निगमनम् ॥

१०८. से किं तं सुत्ताइं? सुत्ताइं बावीसं पण्णत्ताइं, तं जहा–उज्जुसुतं १ परिणयापरिणयं २ बहुभंगियं ३ विजयचरियं ४ अणंतरं ५ परंपरं ६ मासाणं ७ संजूहं ८ संभिण्णं ९ आयच्चायं १० सोवत्थिप्पण्णं ११ णंदावत्तं १२ बहुलं १३ पुट्ठापुट्ठं १४ वेयावच्चं १५ एवंभूयं १६ भूयावत्तं १७ वत्तमाणुप्पयं १८ समभिरूढं १९ सव्वओभद्दं २० पणामं २१ दुप्पडिग्गहं २२।

इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं छिण्णच्छेयणइयाइं ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं १, इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिण्णच्छेयणइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं २, इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं तिगणइयाइं तेरासियसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं ३, इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कणइयाइं ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं ४, एवामेव सपुव्वावरेणं अट्ठासीतिं सुत्ताइं भवंतीति मक्खायं। से त्तं सुत्ताइं २।

१०८ से किं तं सुत्ताइं? सुत्ताइं उज्जुसुयादियाइं बावीसं भवंति। इह सर्वद्रव्य-पर्याय-नयाद्यर्थसूचनात् सूत्राणि। अमून्यपि च सूत्रार्थतो व्यवच्छिन्नान्येव, यथागतसम्प्रदायतो वा वाच्यानि। एतानि चेव बावीसं सुत्ताइं विभागतो अट्ठासीतिं हवंति, कथम्? उच्यते, "इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेदणइयाइं, ससमयसुत्तपरिवाडीए" त्ति सुत्तं, एत्थं जो णओ सुत्तं छिन्नं छेदेणं इच्छइ सो छिन्नच्छेदणओ, जहा—"धम्मो मंगलमुक्कट्ठं" [दशवै. अ. १ गा. १] ति सिलोगो सुत्तत्थओ पत्तेयं छेदनयठिओ ण बितियादिसिलोए अवेक्खइ, प्रत्येकं कल्पितपर्यन्त इत्यर्थः। एयाणि एवं बावीसं ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताणि ठियाणि। तथा—"इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेदणइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए" त्ति सुत्तमेव, इह जो णओ सुत्तं अच्छिन्नं छेदेण इच्छइ सो अच्छिन्नच्छेदणयो, जहा—"धम्मो मंगलमुक्कट्ठं" [दशवै० अ. १ गा. १] ति सिलोगो, एस चेव अत्थओ बितियादिसिलोगमवेक्खमाणो त्ति बितियादिया य पढमं ति, अन्योऽन्यसापेक्षा इत्यर्थः। एयाणि बावीसं आजीवियगोसालपवत्तियपासंडपरिवाडीए अक्खररयणविभागट्ठियाणि वि अत्थतो अन्नोन्नमवेक्खमाणाणि हवंति। "इच्चेयाइं" इत्यादि सुत्तं, तत्थ "तिकणइयाइं" ति नयत्रिकाभिप्रायतश्चिन्त्यन्त इत्यर्थः, त्रैराशिकाश्चाजीविका एवोच्यन्ते। तथा "इच्चेताइं" इत्यादि सूत्रम्, एत्थ "चउक्कणइयाइं" ति नयचतुष्काभिप्रायतश्चिन्त्यन्त इति भावना। "एवमेवे"त्यादि सूत्रम्, एवं चउरो बावीसाओ अट्ठासीतिं सुत्ताइं भवंति। "से त्तं सुत्ताइं" ति निगमनवाक्यम् ॥

१०९. से किं तं पुव्वगते? पुव्वगते चोद्दसविहे पण्णत्ते, तं जहा–उप्पादपुव्वं १ अग्गेणीयं २ वीरियं ३ अत्थिणत्थिप्पवातं ४ नाणप्पवातं ५ सच्चप्पवादं ६ आयप्पवादं ७ कम्मप्पवादं ८ पच्चक्खाणं ९ विज्जणुप्पवादं १० अवंझं ११ पाणाउं १२ किरियाविसालं १३ लोगबिंदुसारं १४। उप्पायस्स णं पुव्वस्स दस वत्थू चत्तारि चुलयवत्थू पण्णत्ता १। अग्गेणीयस्स णं पुव्वस्स चोद्दस वत्थू दुवालस चुलवत्थू पण्णत्ता २। वीरियस्स णं पुव्वस्स अट्ठ वत्थू अट्ठ चुलवत्थू पण्णत्ता ३। अत्थिणत्थिप्पवायस्स णं पुव्वस्स अट्ठारस वत्थू दस चुलवत्थू पण्णत्ता ४। णाणप्पवादस्स णं पुव्वस्स बारस वत्थू पण्णत्ता ५। सच्चप्पवायस्स णं पुव्वस्स दोण्णि वत्थू पण्णत्ता ६। आयप्पवायस्स णं पुव्वस्स सोलस वत्थू पण्णत्ता ७। कम्मप्पवायस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णत्ता ८। पच्चक्खाणस्स णं पुव्वस्स वीसं वत्थू पण्णत्ता ९। विज्जणुप्पवादस्स णं पुव्वस्स पणरस वत्थू पण्णत्ता १०। अवंझस्स णं पुव्वस्स बारस वत्थू पण्णत्ता ११। पाणाउस्स णं पुव्वस्स तेरस वत्थू पण्णत्ता १२। किरियाविसालस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णत्ता १३। लोगबिंदुसारस्स णं पुव्वस्स पणुवीसं वत्थू पण्णत्ता १४।

दस १ चोद्दस २ अट्ठ ३ ऽट्ठारसेव ४ बारस ५ दुवे ६ य वत्थूणि।
सोलस ७ तीसा ८ वीसा ९ पण्णरस १० अणुप्पवायम्मि ॥ ७९ ॥
बारस एक्कारसमे ११ बारसमे तेरसेव वत्थूणि १२।
तीसा पुण तेरसमे १३ चोद्दसमे पण्णवीसा उ १४ ॥ ८० ॥
चत्तारि १ दुवालस २ अट्ठ ३ चेव दस ४ चेव चुल्लवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चुलया णत्थि ॥ ८१ ॥

से त्तं पुव्वगते ३ ॥

१०९. से किं तं पुव्वगते इत्यादि। कम्हा पुव्वगतं?, उच्यते, जम्हा तित्थगरो तित्थपवत्तणकाले गणधराणं सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगयसुत्तत्थं भासइ तम्हा पुव्व त्ति भणिया, गणधरा पुण सुत्तरयणं करेन्ता आयारादिकमेण रएंति ठवेंति य। अन्नायरियमतेणं पुण पुव्वगयसुत्तत्थो पुव्वं अरहया भासिओ, गणधरेहि वि पुव्वगयसुयं चेव पुव्वं रइयं, पच्छा आयारादि। चोदक आह–णणु पुव्वावरविरुद्धं, कम्हा? जम्हा आयारणिज्जुत्तीए भणियं–"सव्वेसिं आयारो०" [गा. ८] गाहा, सत्यमुक्तम्, किन्तु सा ठवणा, इमं पुण अक्खररयणं पडुच्च भणियं, पूर्वं पूर्वाणि कृतानीत्यर्थः। ताणि य उप्पायपुव्वादीणि चोद्दस पुव्वाणि पन्नत्ताणि। पढमं उप्पायपुव्व, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पन्नवणा कया, तस्स य पयपरिमाणं एगा पयकोडी १। बितियं अग्गेणीयं, तत्थ वि सव्वदव्वाण पज्जवाण य सव्वजीवाजीवविसेसाण य अग्गं–परिमाणं वण्णिज्जति त्ति अग्गेणीयं,

तस्स पयपरिमाणं छण्णउतिं पयसयसहस्साणि २ । ततियं वीरियपवायं, तत्थ वि अजीवाणं जीवाणं सकम्मेतरं वीरियं पवयइ त्ति वीरियप्पवायं, तस्स बिसत्तरि य पयसयसहस्साणि ३ । चउत्थं अत्थिणत्थिपवायं, जं लोए जहा वा अत्थि जहा वा णत्थि अथवा सियवादाभिप्पाततो तदेवास्ति नास्तीत्येवं प्रवदति इति अत्थिणत्थिपवायं भणियं, तं पि पदपरिमाणतो सट्ठि पदसयसहस्साणि ४ । पंचमं णाणपवादं ति, तम्मि मतिणाणादिपंचकस्स साहयपरूवणा जम्हा कया तम्हा णाणप्पवायं, तम्मि पदपरिमाणं एगा पदकोडी एगपदूणा ५। छट्ठं सच्चप्पवायं, सच्चं–संजमो सच्चवयणं वा, तं सच्चं जत्थ सभेयं सपडिवक्खं च वण्णिज्जइ तं सच्चप्पवायं, तस्स पदपरिमाणं एगा पयकोडी छप्पयाहिया ६ । सत्तमं आयप्पवायं आय त्ति–आत्मा, सोऽणेगहा जत्थ णयदरिसणेहिं वण्णिज्जइ तं आयप्पवायं, तस्स वि पदपरिमाणं छव्वीसं पदकोडीओ ७ । अट्ठमं कम्मप्पवायं, णाणावरणादियं अट्ठविहं कम्मं पयति-ठिति-अणुभाग-पदेसादिएहिं भेदेहिं अण्णेहि य उत्तरुत्तरभेदेहिं जत्थ वण्णिज्जइ तं कम्मप्पवायं, तस्स वि पयपरिमाणं एगा पयकोडी असीतिं च पयसस्सा भवंति ८ । णवमं पच्चक्खाणं, तम्मि सव्वपच्चक्खाणसरूवं वण्णिज्जति त्ति अतो पच्चक्खाणप्पवायं, तस्स य पदपरिमाणं चउरासीतिं पयसयसहस्सा भवंति ९ । दसमं विज्जणुप्पवायं, तत्थ अणेगे विज्जातिसया वण्णिया, तस्स य पदपरिमाणं एगा पयकोडी दस पयसयसहस्सा १० । एक्कारसमं अवंझं, ति. वंझं णाम–णिप्फलं, ण वंझमवंझं, सफलमित्यर्थः, सव्वे णाण-तव-संजमजोगा सफला वण्णिज्जंति अप्पसत्था य पमादादिया सव्वे असुहफला वण्णिया अतो अवंझं, तस्स वि पयपरिमाणं छव्वीसं पदकोडीओ ११ । बारसमं पाणाउं, तत्थ वि आउं–प्राणविधानं सव्वं सभेयं अण्णे य पाणा वण्णिता, तस्स पयपरिमाणं एगा पयकोडी छप्पण्णं च पदसयसहस्साणि १२ । तेरसमं किरियाविसालं, तत्थ काय-किरियादियादओ विसाल त्ति–सभेया संजमकिरियाओ छंदकिरियाविहाणा य, तस्स य पयपरिमाणं णव कोडीओ १३ । चोद्दसमं लोगबिंदुसारं, तं च इमम्मि लोए सुअलोए वा बिंदुमिव अक्खरस्स सव्वुत्तमं सव्वक्खरसण्णिवायपरि(? ढित)त्तणओ लोगबिन्दुसारं भणियं, तस्स य पयपरिमाणं अद्धत्तेरस पयकोडीओ १४ । से त्तं पुव्वगते ॥

११०. से किं तं अणुओगे ? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–मूलपढमाणुओगे य गंडियाणुओगे य ।

११०. से किं तमित्यादि । अनुरूपः अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः, सूत्रस्य निजेनाभिधेयेन सार्द्धमनुरूपः सम्बन्ध इत्यर्थः । स च द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–मूलप्रथमानुयोगश्च गण्डिकानुयोगश्च ॥

१११. से किं तं मूलपढमाणुओगे ? मूलपढमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवलोगगमणाइं आउं चवणाइं जम्मणाणि य अभिसेया रायवरसिरीओ पव्वज्जाओ, तवा य उग्गा, केवलनाणुप्पयाओ तित्थपवत्तणाणि य सीसा गणा गणधरा य अज्जा य पवत्तिणीओ य, संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं, जिण-मणपज्जव-ओहिणाणि-समत्तसुयणाणिणो य वादी य अणुत्तरगती य उत्तरवेउव्विणो य मुणिणो जत्तिया, जत्तिया सिद्धा, सिद्धिपहो जह य देसिओ, जच्चिरं च कालं पादोवगओ, जो जहिं जत्तियाइं भत्ताइं छेयइत्ता अंतगडो मुणिवरुत्तमो तमरओघविप्पमुक्को मुक्खसुहमणुत्तरं च पत्तो, एते अन्ने य एवमादी भावा मूलपढमाणुओगे कहिया । से त्तं मूलपढमाणुओगे ।

१११. से किं तमित्यादि । इहैकवक्तव्यताप्रणयनान्मूलं तावत् तीर्थकराः, तेषां प्रथमः—सम्यक्त्वावाप्तिलक्षणपूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । तथा चाह—"मूलपढमाणुयोगे ण" मित्यादि सूत्रसिद्धं यावत् "से त्तं मूलपढमाणुयोगे" ।

११२. से किं तं गंडियाणुओगे? गंडियाणुओगे णं कुलगरगंडियाओ तित्थगरगंडियाओ चक्कवट्टिगंडियाओ दसारगंडियाओ बलदेवगंडियाओ वासुदेवगंडियाओ गणधरगंडियाओ भद्दबाहुगंडियाओ तवोकम्मगंडियाओ हरिवंसगंडियाओ ओसप्पिणिगंडियाओ उस्सप्पिणिगंडियाओ चित्तंतरगंडियाओ अमर-णर-तिरिय-निरयगइगमणविविहपरियट्टणेसु एवमाइयाओ गंडियाओ आघविज्जंति । से त्तं गंडियाणुओगे । से त्तं अणुओगे ४ ।

११२. से किं तमित्यादि । इहैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता गण्डिका उच्यन्ते, तासामनुयोगः—अर्थकथनविधिः गण्डिकानुयोगः । तथा चाह—"गंडियाणुयोगे ण" मित्यादि । तत्थ कुलगरगंडियासु कुलगराणं विमलवाहणादीणं पुव्वजम्म-णामादि कहिज्जइ । एवं सेसासु वि अभिधाणवसतो भावेयव्वं, जाव "चित्तंतरगंडियाओ" चित्राः—अनेकार्था अन्तरे—ऋषभा-ऽजिततीर्थकरान्तरे गण्डिकाः—एकवक्तव्यताधिकारानुगताः, ततश्च ता अन्तरगण्डिकाश्च चित्रान्तरगण्डिकाः । एतदुक्तं भवति—ऋषभा-ऽजिततीर्थकरान्तरे तद्वंशजभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगतिगमना-ऽनुत्तरोपपातप्राप्तिप्रतिपादिकाश्चित्रान्तरगण्डिका इति । एयासिं परूवणे पुव्वायरिएहिं इमो विही दिट्ठो—

आदिच्चजसाईणं उसभस्स पउप्पए णरवतीणं । सगरसुताण सुबुद्धी इणमो संखं परिकहेइ ॥१॥
चोद्दस लक्खा सिद्धा णिवतीणिक्को य होति सव्वट्ठे । एक्केक्कट्ठाणे पुण पुरिसजुगा होंतऽसंखेज्जा ॥२॥
पुणरवि चोद्दस लक्खा सिद्धा णिवतीण दोन्नि सव्वट्ठे । गुणठाणे वि असंखा पुरिसजुगा होंति णायव्वा ॥३॥
जाव य लक्खा चोद्दस सिद्धा पन्नास होंति सव्वट्ठे । पन्नासट्ठाणे वि तु पुरिसजुगा होंतऽसंखेज्जा ॥४॥
एगुत्तरा उ ठाणा सव्वट्ठे णेय जाव पन्नासा । एवेक्केक्कगठाणे पुरिसजुगा होंतऽसंखेज्जा ॥५॥१।
विवरीयं सव्वट्ठे चोद्दस लक्खा उ णिव्वुतो एगो । स चेव य परिवाडी पन्नासं जाव सिद्धीए ॥६॥२।
तेण पर दुलक्खादी दो दो ठाणा य समग वच्चंति । सिवगति-सव्वट्ठेहिं इणमो तेसिं विही होइ ॥७॥
दो लक्खा सिद्धीए दो लक्खा नरवतीण सव्वट्ठे । एवं तिलक्ख चउ पंच जाव लक्खा असंखेज्जा ॥८॥३।
सिवगति-सव्वट्ठेहिं चित्तंतरगंडिया ततो चउरो । एगा एगुत्तरिया १ एगादिबिउत्तरा बितिया २॥९॥
ततिएगादितिउत्तर ३ तिगमादिबिउत्तरा चउत्थेयं ४ । पढमाए सिद्धिक्को दोन्नि य सव्वट्ठसिद्धम्मि ॥१०॥
तत्तो तिन्नि नरिंदा सिद्धा चत्तारि होंति सव्वट्ठे । इय जाव असंखेज्जा सिवगति-सव्वट्ठसिद्धेहिं १॥११॥
ताहे बिउत्तराए सिद्धिक्को तिन्नि होंति सव्वट्ठे । एवं पंच य सत्त य जाव असंखेज्ज दो वि त्ति २॥१२॥
एग चउ सत्त दसगं जाव असंखेज्ज होंति दो वि त्ति । सिवगति-सव्वट्ठेहिं तिउत्तराए मुणेयव्वा ३॥१३॥
ताहे—तियगाइबिउत्तराए अउणत्तीसं तु तितग ठावेतुं । पढमे णत्थि उ खेवो सेसेसु इमो भवे खेवो ॥१४॥
दुग पण णवगं तेरस सत्तरस दुवीस छ च अट्ठेव । बारस चोद्दस तह अट्ठवीस छव्वीस पणुवीसा ॥१५॥

एक्कारस तेवीसा सियाल सतरि सतहत्तरी तह य । इग दुग सत्तासीई एगत्तरिमेव बावट्ठी ॥१६॥
अउणत्तरि चउवीसा छायालसयं तहेव छव्वीसा । एए रासीखेवा तिगअंतंता जहाकमसो ॥१७॥
सिवगति-सव्वट्ठेहिं दो दो ठाण विसमुत्तरा णेया । जावुणतीसट्ठाणे उणतीसं पुण छवीसाए ॥१८॥
विसमुत्तरा य पढमा एवमसंख विसमुत्तरा णेया । सव्वत्थ वि अंतिल्लं अब्भाए आदिमं ठाणं ॥१९॥
अउणत्तीसं वारे ठावेउं णत्थि पढमए खेवो । सेसेसऽडवीसाए सव्वत्थ दुगादिओ खेवो ॥२०॥
सिवगति पढमादीए बितियाए तह य होंति सव्वट्ठे । इय एगंतरियाइं सिवगइ-सव्वट्ठठाणाइं ॥२१॥
एवमसंखेज्जाओ चित्तंतरगंडियाओ णेयव्वा । जाव जियसत्तुराया अजियजिणपिया समुप्पण्णो ४॥२२॥४॥

एवं गाहाहिं चित्तंतरगंडियाओ समत्ताओ । इमा य एयासिं ठवणा—

एत्तिया लक्खा सिद्धिं गया	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४
एत्तिया लक्खा सव्वट्ठं पि गया	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०

एवं जाव असंखा पुरिसजुगा सिद्धा । एसा पढमा १ । अओ परं—

सिद्धा एत्तिया लक्खा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०
सव्वट्ठम्मि गया एत्तिया लक्खा	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४

एवं पि असंखेज्जा पुरिसजुगा सिद्धा । एसा बीया २ । अओ परं—

सिद्धा एत्तिया लक्खा	२	३	४	५	६	७	८
सव्वट्ठे वि गया एत्तिया लक्खा	२	३	४	५	६	७	८

एवं जाव असंखेज्जा आवलिया दुगाइएगुत्तरा दो वि गच्छंति । आवलिया दुगमणओ पंचासइमे ठाणे चिट्ठंति । तइया गंडिया ३ । अतः परं चतस्रो गण्डिका एकोत्तरिकादिकाः प्रदर्श्यन्ते—

शिवगतौ	१	३	५	७	९	एवं जाव असंखेज्जा
सर्वार्थे च	२	४	६	८	१०	एवं जाव असंखेज्जा

चित्तंतरगंडिया एगाइएगुत्तरिया पढमा णेया १ ।

सिद्धा एत्तिया	१	५	९	एवं जाव असंखेज्जा
सव्वट्ठे एत्तिया चेव	३	७	११	एवं जाव असंखेज्जा

एगादिबिउत्तरा बितिया चित्तंतरगंडिया २ ।

सिद्धा एत्तिया	१	७	१३	एवं जाव असंखेज्जा
सव्वट्ठे एत्तिया चेव	४	१०	१६	एवं जाव असंखेज्जा

चित्तंतरगंडिया एगादितिउत्तरा ततिया ३ ।

ततश्चतुर्थी त्र्यादिका द्व्यादिविषमोत्तरप्रक्षेपा एकोनत्रिंशत् त्रिकान् संस्थाप्य निदर्श्यते—

शिवगतौ सिद्धा एत्तिया	३	८	१६	२५	११	१७	२९	१४	५०	८०	५	७४	७२	४९	२९
सव्वट्ठे एत्तिया	५	१२	२०	९	१५	३१	२८	२६	७३	४	९०	६५	२७	१०३	०

पुणो वि—

सव्वट्ठे	२९	३४	४२	५१	३७	४३	५५	४०	७६	१०६	३१	१००	९८	७५	५५
सिद्धौ	३१	३८	४६	३५	४१	५७	५४	५२	९९	३०	११६	९१	५३	१२९	०

एवं पुनः पञ्चपञ्चाशदादौ कृत्वा एकोनत्रिंशत् स्थानानि संस्थाप्य द्व्यादिप्रक्षेपकेण यावत् पश्चिमस्थाने एकाशीतिर्भवति । अनेन [क्रमेण] उत्तरा असङ्ख्येयाश्चित्रान्तरगण्डिका नेयाः ४ । सेसं गाहाणुसारेणं नेयव्वं जाव असंखेज्जा ॥

शेषं निगदसिद्धं यावत् "से त्तं अणुओगे" ॥

११३. से किं तं चूलियाओ ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया, अवसेसा पुव्वा अचूलिया । से त्तं चूलियाओ ५ ।

११४. दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ । से णं अंगट्ठयाए दुवालसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, चोद्दस पुव्वा, संखेज्जा वत्थू, संखेज्जा चुल्लवत्थू, संखेज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडियाओ, संखेज्जाओ पाहुडपाहुडियाओ, संखेज्जाइं पदसहस्साइं पदग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जति । से त्तं दिट्ठिवाए १२ ।

११३–१४. से किं तमित्यादि । चूडा इव चूडा, इह दृष्टिवादे परिकर्म-सूत्र-पूर्वानुयोगोक्ता-ऽनुक्तार्थ-सङ्ग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयश्चूडा इति। एताश्चाद्यानां चतुर्णामेव पूर्वाणां भवन्ति, न शेषाणामिति। अत एवाह– "आदिल्लाण"मित्यादि । सङ्ख्या तासां भवितपूर्वमियं यथासङ्ख्यम्—

चउ बारसऽट्ठ दस या हवंति चूडा चउण्ह पुव्वाणं । एए य चूलवत्थू सव्वुवरिं किल पढिज्जंति ॥१॥

शेषमा निगमनं सूत्रसिद्धमेव । नवरम्—"संखेज्जा वत्थु" त्ति पणुवीसुत्तराणि दो सयाणि । "संखेज्जा चूलवत्थु" त्ति चउतीसं ॥ साम्प्रतमोघतो द्वादशाङ्गविषयमेव दर्शयन्नाह—

११५. इच्चेइयम्मि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा अणंता अभावा अणंता हेऊ अणंता अहेऊ अणंता कारणा अणंता अकारणा अणंता जीवा अणंता अजीवा अणंता भवसिद्धिया अणंता अभवसिद्धिया अणंता सिद्धा अणंता असिद्धा पण्णत्ता। संगहणिगाहा–

भावमभावा हेउमहेऊ कारणमकारणा चेव ।
जीवाऽजीवा भवियमभविया सिद्धा असिद्धा य ॥ ८२ ॥

११५. इच्चेयम्मि इत्यादि । इत्येतस्मिन् द्वादशाङ्गे गणिपिटक इति पूर्ववत्, अनन्ता भावाः प्रज्ञप्ता इति योगः, तत्र भवन्तीति भावाः–जीवादयः पदार्थाः, एते च जीव-पुद्गलानन्तत्वाद् अनन्ता इति। तथा अनन्ता अभावाः, सर्वभावानामेव पररूपेणासत्त्वात् त एवानन्ता अभावा इति, स्व-परसत्ताभावा-ऽभावोभयाधीनत्वाद् वस्तुतत्त्वस्य। तथाहि–जीवो जीवात्मना भावोऽजीवात्मना चाभावः, अन्यथाऽजीवत्वमसङ्गात्, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रत्वादारम्भस्य। अन्ये तु 'धर्मापेक्षया अनन्ता भावाः अनन्ता अभावाः मतिवस्त्वस्तित्व-नास्तित्वाभ्यां मतिबद्धाः' इति व्याचक्षते। तथाऽनन्ता हेतवः, तत्र हिनोति–गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः, ते चानन्ताः, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वात्, तत्प्रतिबद्धधर्मविशिष्टवस्तुगमकत्वाच्च हेतोः, सूत्रस्य चानन्तगम-पर्यायात्मकत्वादिति। यथोक्तहेतुप्रतिपक्षतोऽनन्ता अहेतवः । तथाऽनन्तानि कारणानि–मृत्पिण्ड-तन्त्वादीनि घट-पटादिनिर्वर्तकानि। तथाऽनन्तान्यकारणानि, सर्वकारणानामेव कार्यान्तराकारणत्वात्, न हि मृत्पिण्डः पटं निर्वर्तयतीति। एवं भावा-ऽभावाः हेत्वहेतवः कारणा-ऽकारणानि, जीवाः–प्राणिनः, तथा अजीवाः–द्व्यणुकादयः, तथा भव्याः–अनादिपारिणामिकभव्यभावयुक्ताः, एतेऽनन्ताः प्रज्ञप्ताः । तथा अभव्याः–अनादिपारिणामिकाभव्यभावयुक्ताः एतेऽनन्ताः प्रज्ञप्ता इति योगः । तथा सिद्धा अनन्ताः, तथा अनन्ता असिद्धाः प्रज्ञप्ता इति। इह भव्या-ऽभव्यानामानन्त्येऽभिहिते अनन्ता असिद्धा इति यत् पुनरभिधानं तत् सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वख्यापनार्थमिति ॥

साम्प्रतं द्वादशाङ्गविराधना-ऽऽराधननिष्पन्नं त्रैकालिकं फलमुपदर्शयन्नाह—

११६. इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टिंसु । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए विराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टंति। इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागते काले अणंता जीवा आणाए विराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टिस्संति ।

११६. इच्चेयमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं अतीतकाले अनन्ता जीवा आज्ञया विराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं "अणुपरियट्टिंसु" त्ति अनुपरावृत्तवन्त आसन् । इदं हि द्वादशाङ्गं सूत्रार्थोभयभेदेन त्रिविधम्, ततश्च 'आज्ञया' सूत्राज्ञयाऽभिनिवेशतोऽन्यथापाठादिलक्षणया विराध्य अतीतकाले अनन्ता जीवाः 'चतुरन्तं संसारकान्तारं' नारक-तिर्यङ्-नरा-ऽमरविविधवृक्षजालदुस्तरं भवाटवीगहनमित्यर्थः, अनुपरावृत्ता आसन् जमालिवत्; अर्थाज्ञया पुनरभिनिवेशतोऽन्यथाप्ररूपणादिलक्षणया गोष्ठामाहिलवत्, उभयाज्ञया पुनः पञ्चविधाचारपरिज्ञानकरणोद्यतगुर्वादेशादिलक्षणया गुरुमत्यनीकद्रव्यलिङ्गधार्यनेकश्रमणवत्, अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षयाऽऽगमोक्तानुष्ठानमेवाज्ञा, एतद्विराधनयैवानुपरावृत्ता आसन् । उक्तं च–"सव्वाओ वि गतीओ अविरहिया णाण-दंसणधरेहिं" [ ] इत्यादि । "इच्चेय"मित्यादि गतार्थमेव । नवरम्–"परित्ता जीवा" इति सङ्ख्येया जीवाः, वर्त्तमानविशिष्टविराधकमनुष्यजीवानां सङ्ख्येयत्वात्, "अणुपरियट्टंति" त्ति अनुपरावर्त्तन्ते, भ्रमन्तीत्यर्थः । "इच्चेत"मित्यादि, इदमपि भावितार्थमेव । नवरम्–"अणुपरियट्टिस्संति" त्ति अनुपरावर्त्तिष्यन्ते, पर्यटिष्यन्ति इत्यर्थः ॥

११७. इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अतीतकाले अणंता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं वितिवइंसु । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं वितिवयंति । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं वितिवतिस्संति ।

११७. "इच्चेत"मित्यादि, इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं अतीतकालेऽनन्ता जीवा आज्ञया आराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं "वितिवइंसु" त्ति व्यतिक्रान्तवन्तः, चतुर्गतिकसंसारोल्लङ्घनेन मुक्तिमवाप्ता इत्यर्थः । "इच्चेय"मित्यादि गतार्थम् । नवरम्–"विइवयंति" त्ति व्युत्क्रामन्ति । "इच्चेद"मित्यादि गतार्थमेव । नवरम्–"वितिवयिस्संति" त्ति व्युत्क्रमिष्यन्ते, एतत्प्रभावात् सेत्स्यन्तीत्यर्थः ॥

यदिदमनिष्टेतरभेदभिन्नं फलं प्रतिपादितम् एतत् सदाऽवस्थायित्वे सति द्वादशाङ्गस्योपजायत इत्यत्र आह—

११८. इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं ण कयाइ णाऽऽसी ण कयाइ ण भवति ण कयाइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवे णिअए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे । से जहाणामए पंचत्थिकाए ण कयाति णाऽऽसी ण कयाति णत्थि ण कयाइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवा णीया सासता अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा, एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे ण कयाइ णाऽऽसी ण कयाइ णत्थि ण कयाइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवे णिअए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ।

११८. इच्चेयमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं न कदाचिन्नासीद् अनादित्वात्, न कदाचिन्न भवति सदैव भावात्, न कदाचिन्न भविष्यति अपर्यवसितत्वात् । किं तर्हि ? "भुविं चे"त्यादि, अभूद् भवति भविष्यति च । ततश्चेदं त्रिकालभावित्वादचलत्वाद् ध्रुवम्, मेर्वादिवत् । ध्रुवत्वादेव नियतम्, पञ्चास्तिकायेषु

श्लोकवचनवत् । नियतत्वादेव शाश्वतम्, समया-ऽऽवलिकादिषु कालवद् । शाश्वतत्वादेव वाचनादिप्रदानेऽप्यक्षयम्, गङ्गा-सिन्धुप्रवाहेऽपि पौण्डरीकह्रदवत् । अक्षयत्वादेवाव्ययम्, मानुषोत्तराद् बहिः समुद्रवत् । अव्ययत्वादेव स्वप्रमाणेऽवस्थितम्, जम्बूद्वीपादिवत् । अवस्थितत्वादेव नित्यम्, आकाशवत् । साम्प्रतं दृष्टान्तमाह-"से जहाणामए"त्यादि, तद् यथानाम 'पञ्चास्तिकायाः' धर्मास्तिकायादयः न कदाचिन्नासन् न कदाचिन्न सन्ति न कदाचिन्न भविष्यन्ति, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च । "धुवे" इत्यादि पूर्ववत् । "एवामेवे"त्यादि निगमनं निगदसिद्धमेव ॥

११९. से समासतो चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ । खेत्तओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ । कालओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ । भावओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ ।

११९. "**से समासओ**" इत्यादि । 'तद्' द्वादशाङ्गं समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तमित्यादि प्रायो गतार्थमेव । नवरम्-द्रव्यतः श्रुतज्ञानी उपयुक्तः सन् सर्वद्रव्याणि जानाति पश्यतीति, अत्राभिन्नदशपूर्वधरादिः श्रुतकेवली परिगृह्यते, तदारतो भजना, सा पुनर्मतिविशेषतो ज्ञातव्येति । अत्राह-ननु पश्यतीति कथम् ? कथञ्चन सकलगोचरदर्शनायोगात्, अत्रोच्यते, प्रज्ञापनायां श्रुतज्ञानपश्यत्तायाः प्रतिपादितत्वात्, अनुत्तरविमानादीनां चाऽऽलेख्यकरणात्, सर्वथा चादृष्टस्याऽऽलेख्यकरणानुपपत्तेः । एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयमिति । अन्ये तु "न पश्यति" इत्यभिदधति ॥

साम्प्रतं सङ्ग्रहगाथा आह—

१२०. अक्खर १ सण्णी २ सम्मं ३ सादीयं ४ खलु सपज्जवसियं ५ च ।
गमियं ६ अंगपविट्ठं ७ सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥ ८३ ॥
आगमसत्थग्गहणं जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं ।
बिंति सुयणाणलंभं तं पुव्वविसारया धीरा ॥ ८४ ॥
सुस्सूसइ १ पडिपुच्छइ २ सुणेइ ३ गिण्हइ ४ य ईहए ५ यावि ।
तत्तो अपोहए ६ वा धारेइ ७ करेइ वा सम्मं ८ ॥ ८५ ॥
मूयं १ हुंकारं २ वा बाढक्कार ३ पडिपुच्छ ४ वीमंसा ५ ।
तत्तो पसंगपारायणं ६ च परिणिट्ठ ७ सत्तमए ॥ ८६ ॥
सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ णिज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।
तइओ य णिरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥ ८७ ॥

से त्तं अंगपविट्ठं । से त्तं सुयणाणं । से त्तं परोक्खणाणं ।

॥ से त्तं णंदी सम्मत्ता ॥

१२०. **अक्खर सन्नीत्यादि** । इयं गतार्थैव । नवरम्–सप्ताप्येते पक्षाः सप्रतिपक्षाः । ते चैवम्–अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतमित्यादि ॥८३॥ इदं पुनः श्रुतज्ञानं सर्वातिशयरत्नसमुद्रकल्पम्, तथा प्रायो गुर्वायत्तत्वात् पराधीनम्, अतो विनेयानुग्रहार्थं यो यथा चास्य लाभस्तथा दर्शयन्नाह—

आगम० गाहा । व्याख्या—आगमनमागमः, आङो अभिविधि-मर्यादार्थत्वाद् अभिविधिना मर्यादया वा गमः–परिच्छेद आगमः । स च केवलमत्यवधिलक्षणोऽपि भवति अतस्तद्व्यवच्छित्त्यर्थमाह—शास्यतेऽनेनेति शास्त्रं–श्रुतम् । आगमग्रहणं तु षष्टितन्त्रादिकुशास्त्रव्यवच्छेदार्थम्, तेषामनागमत्वात् सम्यक्परिच्छेदात्मकत्वाभावादित्यर्थः, शास्त्रतया च रूढत्वात्, तत आगमश्चासौ शास्त्रं च आगमशास्त्रं तस्य ग्रहणमिति समासः । गृहीतिर्ग्रहणम् । यद् बुद्धेर्गुणैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः करणभूतैरष्टभिर्दिष्टं तद् ब्रुवते श्रुतज्ञानस्य लाभः श्रुतज्ञानलाभस्तं तदेव ग्रहणं ब्रुवते । के ? पूर्वेषु विशारदाः–विपश्चितः 'धीराः' व्रतानुपालने स्थिरा इत्यर्थः । अयं गाथार्थः ॥८४॥

बुद्धिगुणैरष्टभिरित्युक्तं ते चामी—

सुस्सूसति० गाहा । व्याख्या—विनययुक्तो गुरुमुखात् श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते । पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति, तत् श्रुतमशङ्कितं करोतीति भावार्थः । पुनः कथितं सच्छृणोति । श्रुत्वा गृह्णाति । गृहीत्वा च 'ईहते' पर्यालोचयति 'किमिदमित्थम्? उतान्यथा?' इति । 'चशब्दः' समुच्चयार्थः । अपिशब्दात् पर्यालोचयन् किञ्चित् स्वबुद्ध्याऽप्युत्प्रेक्षते । ततस्तदनन्तरं 'अपोहते च' एवमेतद् यदादिष्टमाचार्येणेति । पुनस्तमर्थमागृहीतं धारयति । करोति च सम्यक् तदुक्तमनुष्ठानमिति, तदुक्तानुष्ठानमपि च श्रुतप्राप्तिहेतुर्भवति, तदावरणक्षयोपशमादिनिमित्तत्वात् तस्येति ।

अथवा यद् यदाज्ञापयति गुरुस्तत् सम्यगनुग्रहं मन्यमानः श्रोतुमिच्छतीति । पूर्वसन्दिष्टश्च सर्वकार्याणि कुर्वन् पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति । पुनरादिष्टः सन् सम्यक् शृणोति । शेषं पूर्ववत् ॥८५॥

बुद्धिगुणा व्याख्यातास्तत्र शुश्रूषतीत्युक्तम् । इदानीं श्रवणविधिप्रतिपादनायाह—

मूअं० गाहा । व्याख्या—'मूकमिति' मूकं शृणुयात् । एतदुक्तं भवति–प्रथमश्रवणे संयतगात्रस्तूष्णीं खल्वासीत् १ । तथा द्वितीये 'हुङ्कारं च' ईषद्वन्दनं कुर्यादित्यर्थः २ । तृतीये 'बाढकारं कुर्यात्' बाढमेवमेतन्नान्यथेति ३ । चतुर्थश्रवणे गृहीतपूर्वा-ऽपरसूत्राभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात्, कथमेतदिति ४ । पञ्चमे तु मीमांसां कुर्यात्, मातुमिच्छा मीमांसा, प्रमाणजिज्ञासेति यावत् ५ । ततः षष्ठे श्रवणे तदुत्तरोत्तरगुणप्रसङ्गपारगमनं चास्य भवति ६ । परिनिष्ठा सप्तमे श्रवणे भवति, एतदुक्तं भवति–गुरुवदनुभाषत एव सप्तमे श्रवणे इति ७ ॥८६॥

एवं तावत् श्रवणविधिरुक्तः । इदानीं व्याख्यानविधिमभिधित्सुराह—

सुत्तत्थो० गाहा । व्याख्या—सूत्रार्थमात्रप्रतिपादनपरः सूत्रार्थः, अनुयोग इति गम्यते । 'खलु'शब्दस्तु एवकारार्थः, स चावधारणे । एतदुक्तं भवति–गुरुणा सूत्रार्थमात्राभिधानलक्षण एव प्रथमोऽनुयोगः कार्यः, मा भूत् प्राथमिकविनेयानां मतिमोहः १ । द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रः कार्य इत्येवम्भूतो भणितो जिनैश्चतुर्दशपूर्वधरैश्च २ । तृतीयश्च 'निरवशेषः' प्रसक्ता-ऽनुप्रसक्तमप्युच्यते एवंलक्षणो निरवशेषः कार्य इति ३ । 'एषः' उक्तलक्षणो 'विधानं विधिः प्रकार इत्यर्थः 'भणितः' प्रतिपादितो जिनादिभिः । क्व ? सूत्रस्य निजेनाभिधेयेन सार्धमनुकूलो योगोऽनुयोगः–सूत्रान्वाख्यानमित्यर्थः, तस्मिन्ननुयोग इति गाथार्थः । आह—परिनिष्ठा सप्तम इत्युक्तम्, त्रयश्चानुयोगप्रकाराः, तदेतत् कथम्? इति, अत्रोच्यते, विनेयगणं विज्ञाय त्रयाणामन्यतमप्रकारेण सप्तवार-

करणादविरोधादित्योघविनेयविषयं तावत् सूत्रम्, न पुनः स एव नियमविधिः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृच्छ्रवण एवाशेषग्रहणदर्शनादलं विस्तरेण*॥८७॥

"से त्त"मित्यादि तदेतत् श्रुतज्ञानमिति निगमनम् । "से त्त"मित्यादि, तत् परोक्षमिति निगमनमेव ॥

॥ नन्द्यध्ययनविवरणं समाप्तम् ॥

यदिहोत्सूत्रमज्ञानाद् व्याख्यातं तद् बहुश्रुतैः । क्षन्तव्यं कस्य सम्मोहश्छद्मस्थस्य न जायते ? ॥१॥
नन्द्यध्ययनविवरणं कृत्वा यदवाप्तमिह मया पुण्यम् । तेन खलु जीवलोको लभतां जिनशासने नन्दीम् ॥२॥

॥ कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटपादसेवकस्याऽऽचार्यश्रीहरिभद्रस्येति ॥

॥ नमः श्रुतदेवतायै भगवत्यै ॥ ग्रन्थाग्रम् २३३६ ॥

॥ समाप्ता नन्दिटीका ॥

णमो त्थु णं समणस्स भगवओ महइमहावीरवद्धमाणसामिस्स

णमो अणुओगधराणं थेराणं

मलधारिश्री-श्रीचन्द्रसूरिविनिर्मितं

याकिनीमहत्तराधर्मसूनुश्रीहरिभद्रसूरिप्रणीतायाः

नन्दिसूत्रवृत्तेः टिप्पनकम्

॥ णमो णंदीए भगवतीए ॥



[पृष्ठ १]

............देरपि सम्भवात्। पं० ८. **अनैकान्तिको** अनैश्चयिकः। **अनात्यन्तिकः** व्यवच्छेदभाक् च। पं. ९. **ऐकान्तिकः** नैश्चयिकः। **आत्यन्तिको**ऽव्यवच्छेदपरः। पं. १२. **श्रुतधर्मसम्पत्समन्विता एव प्राय** इति **'माषतुषादिभिर्व्यभिचारो मा भूत्'** इति प्रायोग्रहणम्।

[पृष्ठ २]

पं. ३. **यस्येति,** इश्च अश्च यं तस्य [यस्य] इत्यनेन इकारलोपः। पं. ४. **नन्दन्ति** समृद्धिमवाप्नुवन्त्यनयेति नन्दी ॥ पं. ७. नन्दीति यत् कस्यचिद् नाम क्रियते सा **नामनन्दी**। अक्षादिषु स्थापिता **स्थापनानन्दी**।

पं. ९. **ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिरित्यादि,** ज्ञातवान् ज्ञः, तस्य शरीरम्, तदेवानुभूतभावत्वाद् द्रव्यनन्दिः ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः, नन्दिरिति यत् पदं तदर्थज्ञायकस्य यच्छरीरकं जीवविप्रमुक्तं तद् ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिरित्यर्थः। [**भव्यशरीरद्रव्यनन्दिरित्यादि**] विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यः, विवक्षितपर्यायार्हः, तद्योग्य इत्यर्थः, तस्य शरीरम्, तदेव भावनन्दिकारणत्वाद् द्रव्यनन्दिर्भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः, यो जन्तुर्नन्दिरिति पदमागामिकाले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते तज्जीवाधिष्ठितं शरीरं **भव्यशरीरद्रव्यनन्दिरित्यर्थः**।

पं. ११. भूत-भाविद्रव्यनन्देर्लक्षणाभिधानायाऽऽह–**भूतस्येत्यादि**। तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः कथितम्। यत् कथम्भूतम्? इत्याह–यत् 'कारणं' हेतुः। कस्य? इत्याह 'भावस्य' पर्यायस्य। कथम्भूतस्य? इत्याह–'भूतस्य' अतीतस्य 'भाविनो वा' भविष्यतः। 'लोके' आधारभूते। तच्च 'सचेतनं' पुरुषादि 'अचेतनं च' काष्ठादि भवति। एतदुक्तं भवति–यः पूर्वं स्वर्गादिष्विन्द्रादित्वेन भूत्वा इदानीं मनुष्यादित्वेन परिणतः सोऽतीतस्येन्द्रादिपर्यायस्य कारणत्वात् साम्प्रतमपि द्रव्यत इन्द्रादिरभिधीयते, अमात्यादिपदपरिभ्रष्टामात्यादिवत्। तथाऽग्रेऽपि य इन्द्रादित्वेनोत्पत्स्यते स इदानीमपि भविष्यदिन्द्रादिपदपर्यायकारणत्वाद् द्रव्यत इन्द्रादिरभिधीयते, भविष्यद्राजकुमारराजवत्। एवमचेतनस्यापि काष्ठादेर्भूत-भविष्यत्पर्यायकारणत्वेन द्रव्यता भावनीयेत्यार्यार्थः ॥ पं. १५. **भम्भा०** गाहा सुगमा। नवरं **'भम्भा'** अतिपृथुलमुखढक्काविशेषः। **मुकुन्द-मर्दलौ** तु मुरजविशेषौ। केवलमेकतः सङ्कीर्णोऽन्यत्र तु विस्तीर्णो **मुकुन्दो**ऽभिधीयते, **मर्दल**स्तु उभयतोऽपि समः। **'कडम्बा'** करटिका। **'तलिमा'** तिउल्लिका। शेषं प्रतीतम् ॥

पं. १८. नोआगमतो भावनन्दिः पञ्च ज्ञानानि, वचनरूपं श्रुतमेवाऽऽगमः, न शेषज्ञानानि, तेनाऽऽगमस्य ज्ञानपञ्चकैकदेशत्वात्। नोशब्दो देशवचनः। **अथवेति** अत्राप्यागमैकदेश एवायं नन्द्यध्ययनम्, शेषश्रुतार्णवापेक्षया हि देशवाच्येव नोशब्दः।

[पृष्ठ ३]

पं. १. **सचित्ते**त्यादि, सचित्त-शीत-संवृताश्च ता इतर-मिश्राश्चेति समासः। तत्रेतराः–अचित्तोष्ण-विवृताख्याः। सचित्ता-ऽचित्तादिद्विरूपतया मिश्रत्वम्। एतत्स्वरूपं चोक्तं पूर्वमुनिभिः—

मीसा य गब्भवसही, संवुडवियडा य वंसपत्ताई। सीओसिणाइभेया अणेगहा जोणिभेया उ ॥१॥
मिस्सत्तं जोणीए सुक्कमचित्तं सचेयणं रुहिरं। अहवा सुक्कं रुहिरं अचेयण-सचेयणा जोणी ॥२॥ [ ]

एवं मिश्रत्वं तिर्यग्-मनुष्यस्त्रीयोनेः। तथा—

अचित्ता खलु जोणी नेरइयाणं तहेव देवाणं। मीसा य गब्भवसही, तिविहा जोणी उ सेसाणं ॥१॥
[जिन० संग्र० गा० ३५९, जीवस० गा० ४६]

तिर्यग्-मनुष्यगर्भजव्यतिरिक्तानां सम्मूर्च्छनजतिर्यग्-मनुष्याणां यथा गोकृम्यादीनां सचित्ता, काष्ठघुणादीनामचित्ता, गोकृम्यादीनामेव केषाञ्चित् पूर्वकृतक्षते समुद्भवतां मिश्रेति त्रिधात्वम्। तथा—

सीओसिणजोणीया सव्वे देवा य गब्भवक्कंती। उसिणा य तेउकाए, दुह नरए, तिविह सेसाणं ॥१॥
[जिन० संग्र० गा० ३६०, जीवस० गा० ४७]

शीतोष्णयोनिकाः सर्वे देवा गर्भजास्तिर्यग्-मनुष्याश्च। तेजःकायिका उष्णयोनिकाः। नारकाणां द्विधा योनिः–तत्राऽऽद्य-पृथिवीत्रयोत्पत्तीनां प्रकृष्टोष्णा, चतुर्थ्यां कचिन्नरके उष्णा कचिच्छीता, अन्त्यपृथ्वीत्रये तु शीता। सम्मूर्च्छनजतिर्यग्-मनुष्य-पृथिव्यादीनां कचिच्छीता कचिदुष्णा कचिन्मिश्रा। तथा संवृता प्रच्छन्ना, विवृता प्रकटा, गोमयादिका संवृतविवृता प्रच्छन्नप्रकाशा॥

तत्र–एगिंदिय-नेरइया संवुडजोणी हवंति देवा य। विगलिंदियाण वियडा, संवुडवियडा य गब्भम्मि ॥१॥
[जिन० सग्र० गा० ३५८, जीवस० गा० ४५]

नवरं नारकाः संवृतयोनयः, तदुत्पत्तिभूतानां निष्कुटानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात्। देवा अपि संवृतयोनयः, "देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए सरीरोगाहणाए उववण्णा" [ ] इत्यादिवचनतः पटप्रच्छादितेषु देवशयनीयेषु देवदूष्याभ्यन्तरे संवृतस्वरूपे तेषामुत्पादात्। एकेन्द्रियाणामपि केवलिदृष्टेन केनापि प्रकारेण 'संवृतयोनित्वं' गुप्तयोनित्वं भावनीयम्। 'संवृतविवृता' आवृता-ऽनावृतस्वरूपा, गर्भजतिर्यग्-मनुष्याणामिति। अन्यच्च शङ्खावर्त्ता कूर्मोन्नता वंशीपत्रा चेति त्रिधा मनुष्यस्त्रीविषया स्यात्। तत्र च—

उत्तमनरमाऊणं नियमा कुम्मुन्नया हवइ जोणी। इयराण वंसपत्ता, संखावत्ता उ रयणस्स ॥१॥ [ ]
त्ति वाच्यम् ॥

पं. १३. **प्राणा** द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः। **जीवाः** पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः **सत्त्वा** उदीरिताः ॥१॥
[ ]

न अज्जावेयव्व त्ति, अज्जावणं–तज्जणं। न परिघेत्तव्वा सङ्घट्टनेन। परितापः–क्लमः। उद्दवणं–विणासो। ततश्चैष धर्मः 'खेदज्ञैः' सर्वज्ञैः 'लोकं' जीवास्तिकायात्मकं 'समेत्य' विज्ञाय तत्पीडाबकरणतः प्रवेदितः। कीदृशः? 'ध्रुवः' त्रिकालभावित्वाद् मेर्वादिवदचलः। ध्रुवत्वादेव नित्यः, नियतो वा पञ्चास्तिकायादिलोकवत्। नियतत्वादेव 'शाश्वतः' अक्षयः। पं. २४. 'इङ्गना' संज्ञा ॥ पं. ३०. सकलदुःखानां परमौषधभूतं यत् प्रवचनं–श्रुतं तस्यार्थतः प्रणेतृत्वाद् भगवतः।

---

१ जीवति गवादावुत्पद्यमानानां कृम्यादीनामित्यर्थः ॥

[पृष्ठ ४]

पं. ६. **पश्चानुपूर्व्या अपश्चिम** आद्यो महावीरः । पं. २२. यत् कर्मक्षयात् प्रभाजालं भगवच्छरीराच्चतसृष्वपि दिक्षु निर्गच्छति तद् **भामण्डलमुच्यते**, पृष्ठिभागे एव च तत् प्रदर्शयितुं शक्यते प्रतिमायाः ।

पं. ३०. **ते पुण दुसमय० गाहा** । 'ते' उपशान्त-क्षीण-सयोगिकेवलिनः द्विसमयस्थितिकस्य सातस्य योगप्रत्ययिकस्य बन्धकाः, बन्ध-वेदनारूपद्विसमयस्थितिकस्येत्यर्थः । न पुनः 'साम्परायिकसातस्य' कषायनिमित्तस्य बन्धकाः, तेषां कषायाभावात् ॥

[पृष्ठ ६]

पं. २. **बाला भ्रमिः** चक्रधारा, नेमिरित्यर्थः । पं. ३. **चरकादिभिरिति**, आदिग्रहणाच्चीरिकादिग्रहः । तत्र धाटिवाहकाः सन्तो ये भिक्षां चरन्ति ते **चरकाः**, यद्वा ये भुञ्जानाश्चरन्ति ते **चरकाः** । रथ्यापतितचीरपरिधानाः **चीरिकाः**, यद्वा येषां चीरमयमेव सर्वमुपकरणं ते **चीरिकाः** । **सुप्रणिधानमेतदिति**, सुष्ठु–प्रकर्षेण नियते आलम्बने धानं–धरणं मनः-प्रभृतेरिति सुप्रणिधानं–मनःप्रभृतीनामेकाग्रताकरणमभिधीयते । पं. ११. **"सज्झायसुनेमिघोसस्स"** त्ति **पाठापेक्षया 'नेमिनिर्घोषो** वा' इत्युक्तवान् । पं. २४. **कर्णिका** बीजकोशरूपा पद्मस्तका मध्यगण्डिकाशब्दवाच्या ।

[पृष्ठ ७]

पं. २. यथाशक्ति आ प्राणोपरमात् **तपश्चरति** । पं. १५. **कपिल-कणभक्षा-ऽक्षपादादीति**, विशेषोऽय-ममीषामुक्तः—

के-वै-शैषज्ञत्वानि, अं-नै-पानां तु षोडश । क्रमेणाऽऽधारिका-धारधारिणस्त्रि-चतुःप्रमाः (?) ॥१॥ [ ]

कपिलः साङ्ख्यमतप्रणेता । पं. २४. **धीवेल०** त्ति [गा. ११] वेदिका-जलयोरन्तरे **मद** रमणं तल्लक्षणा जलवृद्धिलक्षणा वा वेदिकापर्यवसाना **मर्यादा** वा ।

[पृष्ठ ८]

पं. २३. **चित्तकूडस्स** त्ति [गा. १३] "चिती संज्ञाने" **चित्यते** संज्ञायते वस्तु यैस्तानि चित्तानि ।

[पृष्ठ ९]

पं. ५. **उदरिय** त्ति [गा. १४] उदर्पिता इति व्याख्यातम् । पं. ११. **गुहास्तु समवाया** इति साधुवृन्दानि, श्रुतरत्नप्ररूपणोपाश्रया वा गुहाः । पं. १३. **संवरः प्रत्याख्यानरूपः** स एव वरः उज्झरः–निर्झरणं अम्भसां प्रसवः ।

[पृष्ठ १०]

पं. १८. **'रूपकं'** नाम गाथैकमात्रं छन्दोविशेषः । पं. २१. **विधि-प्रतिषेधद्वारेणेति**, "जे जत्तिया उ हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे" [ओघनि० गा० ५३] इति वचनाद् विधिः–आदरणीयः श्रेष्ठः पदार्थः मोक्षसाधकोऽपि भगवदादिकल्पः केषाञ्चिद् गुरुकर्मणां दूरभव्या-ऽभव्यानां **गोशालक-सङ्गमादीनां** संसारहेतुर्भवति । प्रतिषेधाश्रयोऽपि–अनादरणी-योऽपि कश्चिद् **हरि-हरादिर्मिथ्यात्वगोचरः** कस्यापि तदाचरणविमर्शादिना तत्परित्यागेन मोक्षहेतुर्भवति इति निर्वृतिमार्गहेतु-व्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति ।

[पृष्ठ १४]

पं. २५. **सुमुणियनिच्चा-ऽनिच्चमिति** [४०] गाथायां **यथा सवत्सा धेनुरिति**, धेनुर्दोग्ध्री तिर्यक्स्त्री अजा-वडवादिः

१ कणाद । वैशेषिक । शैव । द्रव्यगुणादि । जेटि० ॥ २ अक्षपाद । नैयायिक । पाशुपति । जेटि० ॥ ३ चर्ममय थोकलड । कक्षायाम् जेटि० ॥ ४ काष्ठमय, साऽपि कक्षायां धार्यते जेटी० ॥

सर्वाऽप्युच्यते। सचेतनस्य गुणाः पर्यायाश्च वाच्याः अचेतनस्य च। तत्र जीवद्रव्यस्य जीवत्व-चेतनत्वादयः सहवर्तित्वाद् गुणाः, नारकत्वादयश्च क्रमवर्तित्वात् पर्यायाः। अचेतनस्यापि वर्णादयः सहवर्तित्वाद् गुणाः, नव-पुराणादयश्च तस्य क्रमभावित्वात् पर्यायाः। तदुक्तम्—

सहवत्ति गुणा कमवत्ति पज्जवा जीवतिगुण निरयाई। वण्णाइ पोग्गलगुणा, पज्जाया नव-पुराणाई ॥१॥ [ ]

[पृष्ठ १५]

पं. ८. **भाषाभिधेया अर्था** इत्यादि, सूत्रस्य हि त्रयो व्याख्याप्रकारा भवन्ति–भाषा विभाषा वार्तिकमिति। तत्र भाषा— सुत्ते जो जं सुत्तालावगनिप्फन्नं धात्वर्थमात्रमेव भाषते स भाषको भण्यते १। जया तस्स सुत्तस्स जो दोहिं वा तिहिं वा चउहिं वा पगारेहिं अत्थपयाणि विभासइ सो विभासगो भण्णइ २। जया सव्वपज्जवेहिं अत्थं भासइ तदा व्यक्तीकरणाद् वार्तिककरोऽभिधीयते। अत एवोक्तम्–भाषाभिधेया अर्थाः, अल्पभाषणविषया इत्यर्थः, बहुबहुतरभाषणविषयास्त्वितरे इत्यमीषामयं विभागः। पं. १२. **सुकुमाले**त्यादिगाथा ४२–सुकुमालकोमलं–अतिमृदु तलं–चरणाधोभागरूपं येषां ते तथा तान्। पादान् **दूसगणि**सत्कान् प्रणमामि। 'प्रशस्तलक्षणान्' चक्र-च्छत्र-पद्म-वज्र-चामर-पताका-शङ्ख-मीन-श्रीवत्स-मन्दर-स्वस्तिक-कलश-वृषभ-सिंह-गजप्रभृत्यन्यतरसामुद्रिकशास्त्राभिहितलक्षणोपेतान्। प्रावचनिकाः–तत्कालोचितप्रकृष्टागमवेत्तारः सूरयः तेषां सम्बन्धिनः। ये पठनार्थमागता अन्यगच्छीयास्साधवस्ते प्रतीच्छका अभिधीयन्ते, तैः 'प्रणिपतितान्' प्रणतान्, अनेन बाहुश्रुत्यमुक्तम्। यद्वा तेषां प्रावचनिकानां दूसगणिनाम्नां सुकुमालादिविशेषणविशिष्टान् पादान् प्रणमामीति **देववाचक** इदमाह ॥

[पृष्ठ १६]

पं. ४. **अनुयोजयन्तोऽपि** श्रुतादिनोपकुर्वन्तोऽपि अयोग्यं जनं दयालवो न खलु भवन्ति महीयांसः, कथम्भूताः सन्तः ? न अवगतः परार्थसम्पादने उपायो यैस्तेऽनवगतपरार्थसम्पादनोपायाः सन्तः, येन हि परार्थसम्पादने उपायो ज्ञातो भवति स एव दयालुर्भवति, नेतरः ॥ पं. ६. **लाघवं चाऽस्ये**ति, 'लाघवं' हीलां 'अस्य' अध्ययनश्रुतस्य असावयोग्यः सम्पादयति, तच्च महतेऽनर्थाय। यत उक्तम्–

अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम्। दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव ज्वरे ॥१॥

धर्मशास्त्रार्थवैतथ्यात् प्रत्यपायो महान् भवेत्। रौद्रदुःखौघजनको दुष्प्रयुक्तादिवौषधात् ॥२॥ [ ]

पं. ८. **आमे**त्यादि। अल्पाधारं पात्रं सिद्धान्तरहस्यं कर्तृ 'विनाशयति' धर्मादिभ्रंशयति, यथाऽपक्वघटनिक्षिप्तं जलं तमेव घटं 'विनाशयति' स्वरूपाद् भ्रंशयति ॥ पं. १०. **तत्राधिकृतगाथामि**ति, "सेलघण-कुडग-चालणी"त्यादि [गा. ४४] प्रागुपन्यस्ताम्। विनेयजनानुग्रहाय चैनां सभाष्यां व्याख्यानयामः सम्प्रत्येव वयम्। तद्यथा–**सेलघण**० गाथायां 'सेल' त्ति मुद्गशैलः पाषाणविशेषः, घनः–मेघः, मुद्गशैलश्च घनश्च तदुदाहरणं प्रथमम् १। 'कुटः' घटः २। 'चालनी' प्रतीता ३। 'परिपूणकः' सुघरीचिटिकागृहम् ४। हंस-महिष-मेष-मशक-जलूका-बिडाल्यः प्रतीताः ५-१०। जाहकः–सेहुलकः ११। गौः १२ भेरी १३ आभीरी १४ चेति। योग्या-ऽयोग्यशिष्यविषयाणि चतुर्दशैतान्युदाहरणानि इति प्रकृतगाथासङ्क्षेपार्थः ॥

उदाहरणं च द्विविधं भवति–चरितं कल्पितं च। तत्रेह प्रथमं कल्पितमुदाहरणम्। एतच्च **भाष्यकारो** विवृण्वन्नाह—

पं. १२-१३. **उल्लेऊण न सक्को, गज्जइ इय मुग्गसेलओ रण्णे।**
तं संवट्टयमेहो गंतुं तस्सुप्परिं पडइ ॥ १ ॥
रविउ त्ति ठिओ मेहो, उल्लो मि न व त्ति गज्जई सेलो।
सेलसमं गाहिस्सं निव्विज्जइ गाहगो एवं ॥ २ ॥

१ °जलोको-बिडालाः सं० ॥

इह कश्चिदरण्ये पर्वतासन्नप्रदेशे समन्तान्निबिडो मुद्गवद् वृत्तत्व-श्लक्ष्णत्वादिधर्मयुक्तः किञ्चिद् भूतले निमग्नः किञ्चित्तु सप्रकाशश्चिकचिकायमानो बदरादिप्रमाणलघूपलरूपो **मुद्गशैलः** किलाऽऽसीत् । स च 'गर्जति' साक्षेपं जल्पति । कथम् ? इत्याह—अहं 'आर्द्रीकर्तुं' जलेन भेत्तुं केनापि न शक्य इति । तच्च मुद्गशैलस्य सम्बन्धि गर्ववचः कुतश्चिन्नारदकल्पाच्छ्रुत्वा **संवर्तको** नाम महामेघः 'तद्गर्वमथाहमपनयामि' इति सम्प्रधार्य तं **मुद्गशैलं** 'गत्वा' सम्प्राप्य तस्यैवोपरि 'पतति' निरन्तरं मुशलप्रमाणधाराभिर्वर्षतीत्यर्थः । **संवर्त्तकमेघश्चो**त्सर्पिण्यां शुभीभवति काले पूर्वदग्धभूम्याश्वासनार्थं वर्षतीत्यागमे प्रतिपाद्यते, तेन **भरतक्षेत्र**स्य प्रचुरमपि सर्वमशुभानुभावं भूमिरूक्षता-दाहादिकं प्रशस्तस्वकीयोदकेन संवर्त्तयति—नाशयतीति संवर्तक इत्युच्यते, यतस्तस्य सम्बन्धि जलमतीव भूम्यादेरार्द्रविकं वासकं च भवतीति विशेषतस्तस्येह ग्रहणम् । एवं च सप्ताहोरात्राणि महावृष्टिं कृत्वा "ठिओ मेहो" त्ति 'स्थितः' वृष्टेरुपरतोऽसौ मेघः । कया बुद्ध्या ? इत्याह—"रविउ" त्ति 'द्रावितः' खण्डशो नीतो मयाऽसौ **मुद्गशैलः** इत्यभिप्रायेणेत्यर्थः । पानीये चापसृते सुतरामुज्ज्वलीभूतोऽसौ चिकचिकायमानो **मुद्गशैलः** पुनरपि गर्जति । कथम् ? इत्याह—"उल्लो मि न व" त्ति आर्द्रोऽस्म्यहं न वेति सम्यग् निरीक्षस्व भोः पुष्करावर्तक !, किमित्येवमेव स्थितोऽसि ? तिलतुषत्रि-भागमात्रमपि ममाद्यापि न भिद्यते इति । ततो लज्जितो विलक्षीभूतः स्वस्थानमुपाश्रितो मेघः ॥

तदेवं **मुद्गशैलोदाहरण**मभिधायोपनयमाह—

सेलसममित्यादि । यस्य वचनकोटिभिरपि चित्तं न भिद्यते, एकमप्यक्षरं तन्मध्यान्न परिणमतीत्यर्थः, स एवम्भूतः शैल-समः—मुद्गशैलतुल्य इत्यर्थः । तं तथाभूतं शिष्यं ज्ञात्वाऽपि कश्चिद् ग्राहयतीति ग्राहको गुरुः—

आचार्यस्यैव तज्जाड्यं यच्छिष्यो नावबुध्यते । गावो गोपालकेनेव कुतीर्थेनावतारिताः ॥१॥ [ ]

'यथा तरीतुं न शक्नुवन्ति ततो गोपालस्यैव तद् जाड्यम्, न तासाम्' इत्यादिश्लोकार्थविभ्रमितमतिर्गर्वाद् 'अहममुं ग्राहयिष्ये' इति प्रतिज्ञाय समागतः, महता च सरम्भेणाध्यापयितुमारब्धस्तथापि मुद्गशैलोपमः शिष्योऽक्षरमपि न गृह्णाति, न च मनागपि स्वाग्रहग्रस्तत्वेन बुध्यते । ततश्चैवं यथा **पुष्करावर्तस्**तथैव सुचिरं क्लेशमनुभूय 'निर्विद्यते' पराभग्यते, ततो विलक्षीभूतो लज्जितश्च निवर्तते तद्ग्राहणादयमाचार्य इति ॥१॥२॥ एवम्भूतस्य च शिष्यस्य सूत्रार्थदाने आगमे प्रायश्चित्तमुक्तम् । कुतः ? इत्याह—

पं. १४. **आयरिए सुत्तम्मि य परिवाओ, सुत्त-अत्थपलिमंथो ।**
अन्नेसिं पि य हाणी, पुट्ठा वि न दुद्धया वंझा ॥ ३ ॥

एवं शैलसमस्यापि शिष्यस्य सूत्रार्थदानप्रवृत्ते आचार्ये 'सूत्रेऽपि च' आगमे 'परिवादः' अवर्णवादो लोकसमुत्थो भवति। तद्यथा—अहो ! नास्य सूरेः प्रतिपादिका शक्तिः, नापि तथाविधं किमपि परिज्ञानम्, यतोऽमुमप्येकं शिष्यमवबोधयितुं न क्षमः; आगमोऽप्यमीषां सम्बन्धी निरतिशयो युक्तिविकलश्च, इतरथा कथमयमेकोऽप्यस्माद् नावबुध्यते ? इत्यादि । तथा सूत्रार्थयोरन्त-रायसम्भवात् परिमन्थनं—मर्दनं विनाशनं सूत्रार्थपरिमन्थः, तच्छिक्षणप्रवृत्तस्य सूरेरात्मनः सूत्रपठन-परावर्तन-व्याख्यानभङ्गो भवतीत्यर्थः । अपरं च तद्ग्राहणप्रसक्ते सूरौ अन्येषां शिष्याणां सूत्रार्थहानिः, तद्ग्रहणभङ्ग इत्यर्थः । न च बहुनाऽपि कालेन तथाविधः शिष्यः किञ्चिदपि ग्राहयितुं शक्यः । कुतः ? इत्याशङ्कयात्रार्थे दृष्टान्तमाह—"पुट्ठा वि" इत्यादि, नियमनेन नियन्त्र्य स्तनेषु करैर्बहुधा स्पृष्टाऽपि वन्ध्या गौर्न खलु दुग्धदा भवति । यद्वा 'पुष्टाऽपि' शरीरोपचिताऽपि वन्ध्या गौर्दुह्यमाना सती दुग्धदा न भवतीति । एवं मुद्गशैलसमः शिष्योऽपि ग्राहणकुशलेनापि गुरुणा ग्राह्यमाणोऽपि नाक्षरमपि गृह्णाति, ततस्तादृशस्य सूत्रार्थौ न दातव्यौ, ऐहिका-ऽऽमुष्मिककायक्लेशादिबहुदोषसम्भवात् । ददाति चेत् तर्हि समयोक्तप्रायश्चित्तभागिति । अत्राऽऽह— ननु प्रोक्तोऽसौ मुद्गशैलदृष्टान्तः, केवलं न पाषाण-मेघादीनां जल्पोऽभिप्रायपूर्विके च प्रवृत्ति-निवृत्ती इत्यलौकिकमेवेदम्, सत्यम्, किन्तु पूर्वमुनिभिरेवात्रोक्तं प्रतिविधानम्, तद्यथा—

चरियं च कप्पियं चिय आहरणं दुविहमेव पण्णत्तं । अत्थस्स साहणट्ठा इंधणमिव ओयणट्ठाए ॥१॥ [पिण्डनि०गा० ६३०]
न वि अत्थि न वि य होही उल्लावो मुग्गसेल-मेहाणं । उवमा खलु एस कया भवियजणविबोहणट्ठाए ॥२॥
[उत्तरा० नि० गा० ३०९, अनुयो० पत्र २३२]

इत्यलं प्रसङ्गेनेति ॥३॥ अथ मुद्गशैलप्रतिपक्षभूतं घनदृष्टान्तमाह—

पं. १५. वुट्ठे वि दोणमेहे न कण्हभोमाउ लोट्टए उदयं ।
गहण-धरणासमत्थे इय देयमछित्तिकारिम्मि ॥ ४ ॥

यावता वृष्टेनाऽऽकाशबिन्दुभिर्महती गर्गरी भ्रियते तावत्प्रमाणजलवर्षो मेघो द्रोणमेघ उच्यते । तस्मिन् वृष्टेऽपि सति कृष्णा भूमिर्यत्र प्रदेशेऽसौ कृष्णभूमः प्रदेशस्तस्माद् 'न प्रलोठति' बह्वपि तद् मेघजलं पतितं न लुठित्वाऽन्यत्र गच्छति, किन्तु तत्रैवान्तः प्रविशतीति भावः । एवं शिष्योऽपि स कश्चिद् भवति यो गुरुभिरुक्तं बह्वप्यवधारयति, न पुनरक्षरमपि पार्श्वतो गच्छतीति । एवम्भूते च सूत्रार्थग्रहण-धारणासमर्थे शिष्ये सूत्रार्थयोः शिष्य-प्रशिष्यपरम्पराप्रदानेनाव्यवच्छेदकारिणि देयं सूत्रार्थजातम्, नान्यस्मिन्ननन्तराभिहितमुद्गशैलकल्पे इति ॥४॥ अन्वय-व्यतिरेकात्मकत्वादेकमेवेदमुदाहरणम् । अथ द्वितीयं कुटोदाहरणं विवृण्वन्नाह—

पं. १६-१८. भाविय इयरे य कुडा अपसत्थ-पसत्थभाविया दुविहा ।
पुप्फाईहिं पसत्था, सुर-तेल्लाईहिं अपसत्था ॥ ५ ॥
वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थवम्मा उ होंति उ अगेज्झा ।
अपसत्थअवम्मा वि य, तप्पडिवक्खा भवे गज्झा ॥ ६ ॥
कुप्पवयण-ओसण्णेहिं भाविया एवमेव भावकुडा ।
संविग्गेहिं पसत्था, वम्माऽवम्मा य तह चेव ॥ ७ ॥

कुटाः—घटाः । ते च तावद् द्विविधाः—एके आपाकोत्तीर्णा नूतना अव्याप्रियमाणत्वादद्यापि पुष्प-जल-तैलादिनाऽभाविताः, अन्ये तु व्याप्रियमाणत्वाद् भाविताः । तत्र भाविता द्विविधाः—सुरभिपाटलाकुसुम-पट्टवासादिप्रशस्तवस्तुभिर्भाविताः प्रशस्तभाविताः १ सुरा-तैलाद्यप्रशस्तवस्तुभावितास्त्वप्रशस्तभाविताः २ ॥५॥

प्रशस्तभाविताः पुनरपि द्विविधाः—तद्भावं वमयितुं शक्या वाम्याः, तद्विपरीतास्त्ववाम्याः । एवमप्रशस्तभाविता अपि वाम्या-ऽवाम्यभेदद्वयादेव द्विविधाः । तत्र ये प्रशस्तवाम्याः प्रशस्तभावं वमयितुं शक्यास्तेऽग्राह्या भवन्ति, अनादेयाः असुन्दरा इति यावत् । तथा येऽप्रशस्तभावं वमयितुमशक्याः अप्रशस्तावाम्यास्तेऽप्यग्राह्या भवन्ति । "तप्पडिवक्खा भवे गज्झ" त्ति तेषां—प्रशस्तवाम्यानामप्रशस्तावाम्यानां च ये प्रतिपक्षाः—प्रशस्तावाम्या अप्रशस्तवाम्याश्च ते 'ग्राह्याः' आदेयाः सुन्दरा भवन्ति ॥६॥

तदेवं द्रव्यकुटास्तावत् प्ररूपिताः । भावकुटा अपि प्रशस्ता-ऽप्रशस्तगुणजलाधारत्वात् शिष्यजीवा एवमेव भाविता-ऽभावितादिभेदाद् द्रष्टव्याः । केवलमत्र पक्षे कुप्रवचना-ऽवसन्नादिभिर्भाविता अप्रशस्तभाविता उच्यन्त इत्यध्याहारः । ये तु संविग्नैरेव साधुभिर्भावितास्ते 'प्रशस्ताः' प्रशस्तभाविता इत्यर्थः । "वम्माऽवम्मा य तह चेव" त्ति वाम्या-ऽवाम्यभावना यथा द्रव्यकुटपक्षे तथैव भावकुटपक्षेऽपि द्रष्टव्येत्यर्थः । सा चैवम्—प्रशस्तभाविता वाम्या अप्रशस्तभाविताश्चावाम्याः एते उभयेऽप्यग्राह्याः, उक्तविपरीतास्तु ग्राह्या इति ॥७॥ तदेवमुक्तो भावितकुटपक्षः । अथाभावितकुटपक्षमधिकृत्याह—

पं. १९. जे उण अभाविया ते चउव्विहा, अहविमो गमो अन्नो ।
छिड्डकुड भिन्न खंडे सगले य परूवणा तेसिं ॥ ८ ॥

ये पुनरभाविताः कुटास्ते छिद्र-भिन्न-खण्ड-सकलभेदाच्चतुर्विधाः । अथवा कुटोदाहरणस्य भाविता-ऽभावितपक्षनिरपेक्ष एवायमन्यश्छिद्र-भिन्नादिको 'गमः' प्रकारो वर्तते । तमेवाह—"छिड्डकुडे"त्यादि, इह 'कुटः' घटः कोऽपि तावत् छिद्रः भवति, बुध्ने

सच्छिद्रो भवतीत्यर्थः १ अन्यस्तु 'भिन्नः' राजिमान् भवति २ तृतीयस्तु 'खण्डः' भग्नकर्णः ३ चतुर्थस्तु 'सकलः' परिपूर्ण एवेति ४ । एतेषां च चतुर्णामपि कुटभेदानां दार्ष्टान्तिकमधिकृत्य प्ररूपणा स्वयमेव कार्या, यथा–कोऽपि शिष्यः श्रुतग्रहणमाश्रित्य छिद्रघटकल्पो भवति, कश्चित्तु भिन्नघटकल्प इत्यादि वाच्यमिति ॥८॥ अथ क्रमप्राप्तं **चालन्युदाहरणम**भिधित्सुर्मुद्गशैल-च्छिद्रकुट-चालन्युदाहरणानां परस्परामेदोद्भावकशिष्यमतं च निराचिकीर्षुराह—

पं. २०-२१. **सेले य छिड्डु चालणि मिहो कहा सोउमुट्ठियाणं तु ।**
छिड्डाऽऽह, तत्थ बिट्ठो सुमरिंसु, सरामि नेदाणिं ॥ ९ ॥
एगेण विसइ बीएण नीइ कण्णेण, चालणी आह ।
धन्न त्थ आह सेलो, जं पविसइ नीइ वा तुज्झं ॥ १० ॥

शैल-च्छिद्रकुट-चालन्युदाहरणैः प्रतिपादिताः शिष्या अप्युपचारात् तथोच्यन्ते, तत्साद्दश्यात् । ततश्च शैल-च्छिद्रकुट-चालन्यभिधानानां शिष्याणां गुर्वन्तिके व्याख्यानं श्रुत्वोत्थायान्यत्र गतानां 'मिथः' परस्परं कथा समभवत् । कीदृशी ? इत्याह– छिड्डेत्यादि । **छिद्रघट**कल्पश्छिद्रशिष्यः प्राह । किम् ? इत्याह–'तत्र' गुरुसमीपे उपविष्टस्तदुक्तमस्मार्षमहम्, इदानीं तु न किमपि स्मरामि । छिद्रघटोऽपि ह्येवंविध एव भवति, सोऽपि हि स्थानस्थितो मुद्गादिकं प्रक्षिप्तं धरति, अन्यत्र तूत्क्षिप्य नीतस्य तत्र प्राप्यते, अधश्छिद्रेण गलित्वा निःसृतत्वात्, अतस्तत्कल्पः शिष्योऽपीत्थमाहेति भाव ॥९॥

छिद्रकुटकल्पेन शिष्येणैवमुक्ते **चालनी**कल्पः प्राह—

एगेणेत्यादि । चालनीकल्प शिष्यश्चालनी । स प्राह–भोः छिद्रकुट ! शोभनस्त्वं येन गुरुसमीपस्थेन त्वया तावदवधारितं तद्वच पश्चादेव विस्मृतम्, मम तु गुर्वन्तिके स्थितस्यैकेन कर्णेन विशति द्वितीयेन तु निर्गच्छति, न पुनः किमपि हृदये स्थितम्, कणिक्कादिचालन्या अपि हि जलादिकमुपरिभागेन क्षिप्यते, अधोभागेन तु निर्गच्छति, न तु किमपि सन्तिष्ठते, अतस्तदुपमः शिष्योऽपीत्थमेवाऽऽहेति भावः । तदेवं **छिद्रकुट-चालनी**भ्यामेवमुक्ते **मुद्गशैलः** प्राह–धन्न त्थेत्यादि, मुद्गशैलो वदति–धन्यावत्र युवाम्, 'यद्' यस्मात् कारणाद् युवयोस्तावत् कर्णयोर्गुरूक्तं किमपि प्रविशति निर्गच्छति वा, मम त्वेतदपि नास्ति, तदुक्तस्य सर्वथाऽपि मध्ये प्रवेशाभावात्, उपलस्यैवंविधत्वादेवेति भाव इति ॥१०॥ तदेवं चालन्युदाहरणस्य स्वरूपमुक्तम् । शैल-च्छिद्रघट-चालन्युदाहरणानां परस्परं विशेषश्चाभिहितः । अथ चालनीप्रतिपक्षमाह—

पं. २२. **तावसखउरकढिणयं चालणिपडिवक्खो, न सवइ दवं पि ।**
परिपूणगम्मि उ गुणा गलंति, दोसा य चिट्ठंति ॥ ११ ॥

चालनीप्रतिपक्षो भवतीति शेषः । किं तत् ? इत्याह–तापसानां भोजनादिनिमित्त उपकरणविशेषः **खउरकठिनक**मुच्यते । तच्च किल वंशं शुम्बादिकं च द्रव्यमतिश्लक्ष्णं कुट्टयित्वा कमठकाकारं क्रियते । इदं चातिनिबिडत्वाद् 'द्रवं' जलमपि प्रक्षिप्तं न श्रवति, किन्तु सम्यग् धरति, एवं शिष्योऽपि यो गुरुभिराख्यातं सर्वमेव धरति, न तु विस्मरति स ग्राह्यः, चालनीसमस्त्वग्राह्य इति भावः । अथ **परिपूणको**दाहरणमाह–परिपूणगेत्याद्युत्तरार्द्धम् । परिपूणको नाम–सुघरीचिटिकाविरचितो नीडविशेषः, तेन च किल घृतं गाल्यते, ततस्तत्र कचवरमवतिष्ठते, घृतं तु गलित्वाऽधः पतति, एवं परिपूणकसदृशः शिष्योऽप्युपचारात् परिपूणकः । तत्र हि श्रुतसम्बन्धिनो गुणाः सर्वेऽपि घृतवद् गलन्ति, दोषास्तु घृतगतकचवरवदवतिष्ठन्ते, श्रुतस्य दोषानेव गृह्णाति, गुणांस्तु सर्वथा परिहरति असौ, अतोऽयोग्य इति भावः ॥११॥ अत्र प्रेर्यमुत्थाप्य परिहरन्नाह—

---

१ "चालिन्याः प्रतिपक्षस्तापसस्य भाजन खउरं बिल्वरस-भल्लातकरसाभ्यां लिप्तत्वात् 'कठिन' अतिशयेन घनम्" इति बृहत्कल्पटीकायां मलयगिरयः १०३-४ पत्रे ॥

पं. २३. **सव्वण्णुप्पामन्ना दोसा हु न संति जिणमए केइ ।**
जं अणुवउत्तकहणं अपत्तमासज्ज व हवेज्जा ॥ १२ ॥

ननु 'सर्वज्ञप्रामाण्यात्' 'सर्वज्ञोऽस्य प्रवर्तकः' इति हेतोर्जिनमते दोषा: केचिदपि न सन्तीत्यर्थ, तत् कथमस्य कोऽपि दोषान् ग्रहीष्यति ? असत्त्वादेवेति भाव:, सत्यम्, किन्तु यद्यपि जिनमते दोषा न सन्ति तथाप्यनुपयुक्तस्य गुरोर्यत् कथनं--व्याख्याविधानं तदाश्रित्य दोषा भवेयुरिति सम्बन्धः । अथवा 'अपात्रम्' अयोग्यं शिष्यमङ्गीकृत्य जिनमतेऽपि कुशिष्योत्प्रेक्षिता दोषा भवेयुः, निर्दोषेऽपि हि जिनमतेऽपात्रभूताः शिष्या असतोऽपि दोषानुद्भावयन्त्येवेत्यर्थ । तथा च ते वक्तारो भवन्ति । तद्यथा—

पागयभासनिबद्धं को वा जाणइ पणीय केणेयं ? । किं वा चरणेणं तू दाणेण विणा उ हवइ ? त्ति ॥१॥
काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य । मोक्खाहिगारियाणं जोइसजोणीहिं किं कज्जं ? ॥२॥
[कल्पभाष्य गा. १३०३, ४९७९]

को आउरस्स कालो ? मइलंबरधोयणे य को कालो ? । जइ मोक्खहेउ नाणं को कालो ? तस्सऽकालो वा ? ॥३॥
[निशीथभाष्य गा. १०] इत्यादि ।

असन्तश्च सर्वेऽप्यमी दोषाः,
बाल-स्त्री-मूढ-मूर्खाणां नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥१॥
पुव्वभणियं पि जं वत्थु भण्णए तत्थ कारणं अत्थि । पडिसेहो य अणुण्णा वत्थुविसेसोवलंभो वा ॥२॥
इत्यादिना शास्त्रान्तरे विस्तरेण निराकृतत्वादिति ॥१२॥ अथ **हंसोदाहरण**व्याख्यामाह—

पं. २४. **अंबत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीरमुदगम्मि ।**
हंसो मोत्तूण जलं आवियइ पयं, तह सुसीसो ॥ १३ ॥

दुग्धं जलं च मिश्रयित्वा भाजने व्यवस्थाप्य कोऽपि हंसस्य पानार्थमुपनयति, स च तन्मध्ये चञ्चुं प्रक्षिपति, तस्य च जिह्वा स्वभावत एवाम्ला भवति, तेन च जिह्वाया अम्लत्वेन हेतुभूतेनोदकमध्यगतं दुग्धं विलुलित्वा 'कूचिकाः' बिन्दुरूपा बुद्बुदा भवन्तीत्यर्थः, ततश्च जलं मुक्त्वा तद् बुद्बुदीभूतं दुग्धमापिबति हंसः । तथा सुशिष्योऽपि गुरोर्जलस्थानीयान् दोषान् परित्यज्य दुग्धस्थानीयान् गुणान् गृह्णातीत्यर्थ इति ॥१३॥ अथ **महिषोदाहरणं** विवृण्वन्नाह—

पं. २५. **सयमवि न पियइ महिसो, न य जूहं पियइ लोडियं उदगं ।**
विग्गह-विगहाहि तहा अथक्कपुच्छाहिं य कुसीसो ॥ १४ ॥

स्वयूथेन समं वनमहिषो जलाशये कचिद् गत्वा तन्मध्ये च प्रविश्योद्वर्तन-परावर्तनादिभिस्तथा तज्जलमालोडयति यथा कलुषितं सत् स्वयं पिबति, नापि तद्यूथम् । एवं कुशिष्योऽपि व्याख्यानमण्डलिकायामुपविष्टो गुरुणाऽन्येन वा शिष्येण सह विग्रहं—कलहं उदीरयति, विकथाप्रबन्धं वा कञ्चिचालयति, सम्बद्धा-ऽसम्बद्धरूपाभिरनवरतमुपर्युपरिपृच्छाभिश्च तथा कथञ्चिद् व्याख्यानमालोडयति यथा नाऽऽत्मनः किञ्चित् पर्यवस्यति, नापि शेषविनेयानामिति ॥१४॥ **मेषोदाहरणमाह**—

पं. २६. **अवि गोपयम्मि वि पिबे सुढिओ तणुयत्तणेण तुंडस्स ।**
न करेइ कलुस तोयं मेसो, एवं सुसीसो वि ॥ १५ ॥

'अपि' इति सम्भावने । जलभृते कचिद गोष्पदेऽपि "सुढिओ" त्ति सङ्कुचिताङ्गः 'मेषः' उरणकः पिबेज्जलम्, न च तत् कलुषं करोति[1] । केन हेतुना ? इत्याह--'तनुकत्वेन' अग्रभागे श्लक्ष्णत्वेन 'तुण्डस्य' मुखस्येति, अग्रपादाभ्यामवनम्य तीक्ष्णेन

१ करोति सं० ॥

मुखेन तथाऽसौ जलं पिबति यथा सर्वथैव कलुषं न भवति । एवं सुशिष्योऽपि तथा गुरोः सकाशान्निभृतः श्रुतं गृह्णाति यथा तस्य परिषदो वा न कस्यचिन्मनोबाधादिकं कालुष्यं भवतीति ॥१५॥ **मशक-जलूकोदाहरणद्वयविवृतिमाह—**

पं. २७. **मसउ व्व तुदं जच्चाइएहिं निच्छुब्भए कुसीसो वि ।**
जलुगा व अदूमेंतो पियइ सुसीसो वि सुयनाणं ॥ १६ ॥

यथा मशको जन्तून् 'तुदति' व्यथयति, ततश्च वस्त्राञ्चलादिभिस्तिरस्कृत्य दूरीक्रियते, तथा कुशिष्योऽपि जात्यादिदोषोद्धट्टनैर्गुरुं 'तुदन्' व्यथमानो 'निष्कास्यते' परिह्रियत इति । जलूका पुनर्यथाऽसृक् पिबति, न चासृग्मन्तं व्यथयते, तथा सुशिष्योऽपि गुरुभ्यः श्रुतज्ञानं 'पिबति' गृह्णाति, न तु तान् जात्युद्घट्टनादिना दुनोतीति ॥१६॥ **बिडाल्युदाहरणमाह—**

पं. २८. **छड्डुउं भूमीए खीरं जह पियइ दुट्ठमज्जारी ।**
परिसुट्ठियाण पासे सिक्खइ एवं विणयभंसी ॥ १७ ॥

यथा दुष्टमार्जारी तथाविधस्वभावतया स्थाल्याः क्षीरं भूमौ छर्दयित्वा पिबति, न पुनस्तत्स्थम्, तथा च सति न तत् तस्यास्तथाविधं किञ्चित् पर्यवस्यति । एवं विनयाद् भ्रश्यतीति 'विनयभ्रंशी' विनयकरणभीरुः कुशिष्यो **गोष्ठामाहिलवत्** परिषदुत्थितानां विन्ध्यादीनामिव पार्श्वे 'शिक्षते' श्रुतं गृह्णाति, न तु गुरोः समीपे, तद्विनयकरणभयात् । इह च दुष्टमार्जारीस्थानीयः कुशिष्यः, भूमिकल्पास्तु परिषदुत्थिताः शिष्याः, छर्दितदुग्धपानसदृशं तु तद्गतश्रुतश्रवणमिति ॥१७॥ **जाहकोदाहरणमाह—**

पं. २९. **पाउं थोवं थोवं खीरं पासाइं जाहको लिहइ ।**
एमेव जियं काउं पुच्छइ मइमं, न खेएइ ॥ १८ ॥

यथा भाजनगतं क्षीरं स्तोकं स्तोकं पीत्वा 'जाहकः' सेहुलको भाजनस्य पार्श्वानि लेढि, पुनरपि च स्तोकं तत् पीत्वा भाजनपार्श्वानि लेढि, एवं पुनः पुनस्तावत् करोति यावत् सर्वमपि क्षीरं पीतमिति । एवं मतिमान् सुशिष्योऽग्रेतनं गृहीतं श्रुतं जित-परिचितं कृत्वा पुनरन्यद् गृह्णाति, एवं पुनः पुनस्तावद् विदधाति यावत् सर्वमपि श्रुतं गुरोः सकाशाद् गृह्णाति, न च गुरुं खेदयतीति ॥१८॥ अथ **गोदृष्टान्त** उच्यते—

तत्र च केनापि यजमानेन वेदान्तर्गतग्रन्थविशेषाध्ययननिमित्तचरणशब्दवाच्येभ्यश्चतुर्भ्यो ब्राह्मणविशेषेभ्यो गौः प्रदत्ता, प्रोक्ताश्च तेन ते ब्राह्मणाः—वारकेणासौ भवद्भिर्दोग्धव्येति । अन्येभ्योऽपि च चतुर्भ्यश्चरणद्विजेभ्यो गौरेका तेन प्रदत्ता, तेऽपि च तेन तथैवोक्ताः । तत्र च प्रथमद्विजानां मध्ये ज्येष्ठब्राह्मणेनैकेन गौः स्वगृहे नीत्वा दुग्धा, ततश्चारीप्रदानवेलायां चिन्तितं तेन । किम् ? इत्याह—

पं. ३०. **अन्नो दोज्झिहि कल्लं, निरत्थयं किं वहामि से चारिं ? ।**
चउचरणगवी उ मया, अवण्ण हाणी य बडुयाणं ॥ १९ ॥

तेनैतच्चिन्तितम्—हन्त ! वारकप्राप्तोऽन्यो ब्राह्मणः कल्ये तावदेनां धेनुं धोक्ष्यति, तत् किमद्य निरर्थिकामस्याश्चारीं वहामि ?, कल्येऽन्योऽपि हि तां दास्यति—इति विनिश्चित्य न तस्याश्चारी प्रदत्ता । ततो द्वितीयदिने द्वितीयेनापि धिग्जातीयेन तथैव कृतम् । एवं तृतीयदिने तृतीयेनापि, चतुर्थदिवसे चतुर्थेनापि तथैव चेष्टितम् । इत्थं च चारीविरहिता दुह्यमाना कतिपयदिनमध्ये चतुर्णां चरणानां सम्बन्धिनी सा गौर्मृता । ततश्च तेषां बटूनां गोहत्या समभवत्, जने चावर्णवादो जातः । हानिश्च तेषाम्, ततो यजमानादन्यस्माद्वा पुनर्गवादिलाभाभावादिति ॥१९॥

अन्यैस्तु यैश्चतुर्भिश्चरणैर्गौर्लब्धा तन्मध्ये प्रथमद्विजस्तां दुग्ध्वा चारीप्रदानवेलायामचिन्तयत् । किम् ? इत्याह—

[पृष्ठ १७]

पं. १. **मा मे होज्ज अवण्णो, गोवज्झा वा, पुणो वि न दलेज्जा ।**
वयमवि दोज्झामो पुणो, अणुग्गहो अण्णदुद्धे वि ॥ २० ॥

मा भूद् जनमध्ये ममावर्णवादः, गोहत्या वा मा भूत्, इतोऽस्याश्चारीं प्रयच्छामि, यदि तु न दास्यामि तदा सञ्जातकलङ्केभ्योऽस्मभ्यं पुनर्गवादिकं किमपि कोऽपि न दास्यति, अपरं चैतस्यै चारीप्रदाने को दोषः ? प्रत्युत गुण एव, यतश्चारीप्रदानपुष्टामेनां पुनरपि वारकेणाऽऽगतां वयमेव धोक्ष्यामः, यदि वाऽन्येनापि ब्राह्मणेन दुग्धायामेतस्यामस्माकमेवानुग्रह इति ॥२०॥

अथोपनयमाह—

पं. २. **सीसा पडिच्छगाणं भरो त्ति, ते वि य हु सीसगभरो त्ति ।**
न करेंति, सुत्तहाणी, अण्णत्थ वि दुल्लहं तेसिं ॥ २१ ॥

गुरोर्विनयकर्मणि कर्तव्ये स्वगच्छदीक्षिताः शिष्यास्तावच्चिन्तयन्ति । किम् ? इत्याह—'प्रतीच्छकानाम्' उपसम्पन्नानामागन्तुकशिष्याणामयं गुरोर्विनयकरणलक्षणः 'भरः' आचारः, किमस्माकम् ? तेषामेव साम्प्रतं वल्लभत्वादिति । तेऽपि च प्रतीच्छका एवं सम्प्रधारयन्ति—निजशिष्याणामेवायं भरः, किमस्माकमागन्तुकानामद्य समागतानामन्येद्युर्जिगमिषूणाम् ? इति । एवं सम्प्रधार्य उभयेऽपि गुरोर्न किञ्चिद् विनय-वैयावृत्यादिकं कुर्वन्ति । ततश्च गुरुष्ववसीदत्सु तेषां सूत्रा-ऽर्थहानिः, अन्यत्रापि च गतानां 'तेषां' दुर्विनीतानां दुर्लभं सूत्रमर्थश्च । उपलक्षणत्वादन्येऽप्यवर्णवादादयो दोषाः स्वयमेवाभ्यूह्याः । अयं च दुर्विनीतशिष्योपनयः कृतः । सुविनीतविनेयोपनयस्तूक्तविपर्ययेण स्वयमेव कर्तव्य इति ॥२१॥ भेरीदृष्टान्तमाह—

पं. ३-६. **कोमुइया तह संगामिया य उब्भूइया य भेरीओ ।**
कण्हस्साऽऽसि ण्हु तया, असिवोवसमी चउत्थी उ ॥ २२ ॥

मक्क पसंसा, गुणगाहि केसवा, नेमिवंद, सुणदंता ।
आसरयणस्स हरणं, कुमारभंगे य, पुयजुद्धं ॥ २३ ॥

नेहि, जिओ मि त्ति अहं, असिवोवसमीए संपयाणं च ।
छम्मासिय घोसणया पसमइ, न य जायए अन्नो ॥ २४ ॥

आगंतु वाहिखोभो, महिड्ढि मोल्लेण, कंथ. दंडणया ।
अट्ठम आराहण, अन्न भेरि, अन्नस्स ठवणं च ॥ २५ ॥

आसां भावार्थः कथानकेनोच्यते—द्वारवत्यां नगर्यां वासुदेवस्य राज्यं पालयतो गोशीर्षश्रीखण्डमय्यो देवतापरिगृहीतास्तिस्रो भेर्य आसन् । तद्यथा—कौमुदिकी साङ्ग्रामिकी औद्भूतिकीति । तत्राऽऽद्या कौमुदीमहोत्सवाद्युत्सवज्ञापनार्थं वाद्यते, द्वितीया सङ्ग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाद्यते, तृतीया पुनरुद्भूते आगन्तुके कस्मिंश्चित् प्रयोजने सामन्ता-ऽमात्यादिलोकस्यैव ज्ञापनार्थं वाद्यते । चतुर्थ्यपि गोशीर्षश्रीखण्डमयी भेरी तस्याऽऽसीत्, इयं तु षट्षण्मासपर्यन्ते वाद्यते, यश्च तच्छब्दं शृणोति तस्यातीतमनागतं च प्रत्येकं षाण्मासिकमशिवमुपशाम्यति ॥२२॥ इयं च प्रकृतोपयोगिनी चतुर्थी भेरीति तदुत्पत्तिर्लिख्यते—कदाचित् सौधर्मदेवलोके समस्तामरसभापुरःसरमभिहितं शक्रेण—

पेच्छ अहो ! हरिपमुहा सप्पुरिसा दोसलक्खमज्झे वि । गिण्हंति गुणं चिय, तह न नीयजुज्झेण जुज्झंति ॥१॥
एयं असद्दहंतो कोइ सुरो चिंतए, किह णु एयं । संभवइ ? जं अगहिउं परदोसं चिट्ठए कोइ ॥२॥
इय चिंतिऊण इहइं समागओ, तो विउव्वए एसो । बीभच्छकसणवण्णं अइदुग्गंधं मयगसुणयं ॥३॥
तस्स य मुहे विउव्वइ कुंदुज्जलपवरदसणरिंछोलिं । नेमिजिणवंदणत्थं चलियस्स पहम्मि हरिणो य ॥४॥
तं उवदंसइ सुणयं, भग्गं गंधेण तस्स हरिसेण्णं । सयलं पि उप्पहेणं वच्चइ, कण्हो उण सरूवं ॥५॥
विविहं भावंतो पोग्गलाण वच्चइ पहेण तेणेव । दट्ठूण सुणयरूवं पभणइ गरुयत्तणेणेवं ॥६॥
अइमसिणकसिणवत्थंचले व्व वयणे इमस्स पेच्छ अहो ! । मुत्तावलि व्व रेहइ निम्मलजुन्हा दसणपंती ॥७॥
अह चिंतियं सुरेणं, सच्चं जं अमरसामिणा भणियं । नूण गुणं चिय गरुया पेच्छन्ति परस्स, न हु दोसं ॥८॥
अह अन्नदिणे देवो तुरयं अवहरइ वल्लहं हरिणो । सेन्नं च तस्स सयलं विणिज्जियं तेण कुढलग्गं ॥९॥
तो अप्पणा वि विण्हू तुरयस्स कुदावयम्मि पडिलग्गो । अह देवेणं भणियं, जिणिउं घेप्पंति रयणाइं ॥१०॥
तो जुज्झामो त्ति भणेइ केसवो, किंतु रहवरे अहयं । तो गेण्ह तुमं पि रहं जेण समाणं हवइ जुज्झं ॥११॥
नेच्छइ एयं देवो, तुरएहिं गयाइएहिं वि स जुज्झं । जा नेच्छइ ता भणिओ हरिणा, तो भणसु तुममेव ॥१२॥
देवेण तओ भणियं, परम्मुहा दो वि होइऊण पुणो । जुज्झामो पुयघाएहिं, भणइ तो केसवो देवं ॥१३॥
जइ एवं तो विजिओ अहयं तुमए, तुरंगमं नेहि । जुज्झामि पुणो कहमवि न हु एरिसनीयजुज्झेणं ॥१४॥
संजायपच्चओ सो पच्चक्खो होइऊण तो देवो । भणइ, अमोहं देवाण दंसणं, भणसु कं पि वरं ॥१५॥
अह भणइ केसवो, असिवपसमणिं तो पयच्छ मह भेरिं । दिण्णा य सुरेणाऽऽगमणवइयरं साहिउं च गओ ॥१६॥
छण्हं छण्हं मासाण सा य वाइज्जए तहिं भेरी । जो सुणइ तीए सद्दं पुव्वुप्पन्नाउ वाहीओ ॥१७॥
नस्सति तस्स, अवराओ तह य न हु होंति जाव छम्मासा । अह अन्नया कयाई वणिओ आगंतुओ कोइ ॥१८॥
दाहज्जरेण घणियं अभिभूओ भेरिरक्खयं भणइ । दीणारसयसहस्सं गेण्हसु मह देसु पलमेगं ॥१९॥
भेरीए छिंदिऊणं दिण्णं तेणावि लोभवसगेणं । अन्नेण चंदणेण य भेरीए थिग्गलं दिन्नं ॥२०॥
इय अन्नाण वि दिंतेण तेण कंथीकया इमा भेरी । अह अन्नया य असिवे हरिणा ताडाविया एसा ॥२१॥
कथत्तणेण तीसे सद्दो सुव्वइ न हरिसभाए वि । कंथीकरणवइयरो विण्णाओ केसवेण तओ ॥२२॥
माराविओ य सो भेरिरक्खओ, तेण अट्ठमं काउं । आराहिओ स देवो. अन्नं भेरिं च सो देइ ॥२३॥
अन्नो य केसवेणं कओ तहिं भेरिपालओ, सो य । रक्खइ तं जत्तेणं, लहइ य लाभं च तो हरिणो ॥२४॥

इह चेत्थमुपनयोऽपि द्रष्टव्यः—यः शिष्योऽशिवोपशमिकाभेरीप्रथमरक्षक इव जिन-गणधरप्रदत्तां श्रुतरूपां भेरीं परमतादिथिग्गलकैः कन्थीकरोति स न योग्यः, यस्तु नैवं करोति स द्वितीयभेरीरक्षक इव योग्य इति ॥२३॥२४॥२५॥

अथाऽऽभीरीदृष्टान्तं विवृण्वन्नाह—

पं. ७. **मुक्कं तया अगहिए, दुपरिग्गहियं कयं, तया कलहो ।**
पिट्टण, अइचिर, विक्किय गएसु चोराऽऽय, ऊणऽग्घो ॥ २६ ॥

इह च कथानकेन भावार्थ उच्यते । तद्यथा—कुतश्चिद् ग्रामाद् गोकुलाद्वा आभीरीसहित आभीरो घृतवारकाणां गन्त्रीं भृत्वा विक्रयार्थं पत्तने समागतः । विक्रयस्थाने च गन्त्र्या अधस्ताद् भूमौ आभीरी स्थिता, आभीरस्तूपरि व्यवस्थितस्तस्या घृतवारकं समर्पयति । तत्रश्चानुपयोगेन समर्पणे ग्रहणे वा घृतवारके भग्ने आभीरी प्राह—भग्नाश ! नगरतरुणीनां मुखान्यवलोकयमानेन त्वया

घृतवारकोऽयं मयाऽगृहीत एव मुक्तस्ततो भग्नः। आभीरस्त्वाह–रण्डे! नगरयूनां वदनानि वीक्षमाणया त्वयैव दुष्परिगृहीतोऽयं कृतस्ततो भग्नः। इत्युभयोरपि कलहः सममवत्। पिट्टिता च तेनाऽऽभीरी। कलहयतोश्च तयोरन्यदपि घृतं बहु छर्दितम्, उद्धरितशेषेण च घृतेनोत्सूरेऽर्घोऽप्यूनो लब्धः। इतरेषु च सार्थिकेषु घृतं विक्रीय गतेषु तयोरेकाकिनोर्गच्छतोर्घृतद्रम्मा गन्त्री बलीवर्दाश्च सर्वे तस्करैरपहृतमिति ॥२६॥ एवं दृष्टान्तमभिधायोपनयमाह—

पं. ८.   **मा निण्हव इय दाउं, उवउज्जिय देहि, किं विचिंतेसि?।**
विद्धामेलियदाणे किलिस्ससे तं च हं चेव ॥ २७ ॥

चिन्तनिकाद्यवस्थायां वितथं प्ररूपयन्नधीयानो वा गुरुणा शिक्षितः शिष्यो जगाद—त्वयैव ममेत्थं व्याख्यातम्, पाठितो वा त्वयैवैवंविधमहम्, अतस्तवैव दोषोऽयम्, किं मां शिक्षयसि? । आचार्य प्राह—न मयैवमुपदिष्टम्। कुशिष्यो ब्रवीति—हन्त! साक्षादेव मम पुरस्सरमित्थं सूत्रमर्थं वा दत्त्वा सूरे! मा निह्नोपीस्त्वम्। इत्थमुक्त आचार्यः किमप्यन्तर्ध्यायन् पुनरप्युक्तः शिष्याभासेन–किं बलीवर्दात् पातित इव चिन्तयसि? सम्यगत्या 'उपयुज्य' उपयुक्तो भूत्वा देहि सूत्रा-ऽर्थौ, 'व्यत्याम्रेडितदाने' वितथसूत्रार्थप्रदाने केवलं त्वं अहं च क्लेशमेवानुभवावः। तदित्थं स्वदोषाप्रतिपत्तौ गुरुदोषोद्भावने वाऽऽभीरमिथुनस्येव गुरु-शिष्ययोः कलह एव प्रवर्तते। तथा च सति व्याख्याव्यवच्छित्ति-सूत्रार्थहान्यादयो दोषाः ॥ अत्र प्रतिपक्षः स्वयमेव द्रष्टव्यः। तथाहि—

अन्योऽप्याभीरः किल सकलत्रस्तथैव क्वापि नगरे घृतविक्रयार्थं गतः। कलत्रस्य च वारके समर्पिते भग्ने च 'अहो! मयाऽनुपयुक्तेन समर्पितोऽयम्' इति ब्रुवाणो झगिति गन्त्र्याः समुत्तीर्य कर्परकैर्घृतं संवृणोति। भार्याऽपि 'धिग् मयाऽनुपयुक्तया दुष्परिगृहीतः कृतोऽसौ तेन भग्नः' इति वदन्ती तथैव तत् संवृणोति। ततश्चान्योन्यं कलहेऽजाते उभयसवित्र्या घृतं शीघ्रमेव विक्रीतम्। सार्थिकैश्च सह क्षेमेण स्वस्थानं जग्मतुः। एवं गुरु-शिष्या अपि स्वदोषं प्रतिपद्यमानाः परदोषं तु निह्नुवाना येऽन्योन्यं न विवदन्ते त एव सूत्रार्थप्रदान-ग्रहणयोर्योग्या भवन्ति निर्जरादिलाभभागिनश्चेति ॥२७॥

तदेवं योग्या-ऽयोग्यान् गुरून् शिष्यांश्चोपदर्श्योपसंहारपूर्वकं तत्फलमाह—

पं. ९.   **भणिया जोग्गा-ऽजोग्गा सीसा गुरवो य, तत्थ दोण्हं पि।**
वेयालियगुण-दोसो, जोग्गो जोग्गस्स भासेज्जा ॥ २८ ॥

भणिता योग्या-ऽयोग्या गुरु-शिष्याः। तत्र 'द्वयोरपि' गुरु-शिष्ययोर्विचारितगुण-दोषयोर्योग्यो गुरुर्योग्याय शिष्याय सूत्रा-ऽर्थौ भाषेतेति ॥२८॥

पं. १६. **'अज्ञिका'** परिज्ञानरहिता।   पं. २१. **पगईमुद्धेत्यादिगाथा**—अज्ञिका प्रकृत्या मुग्धा भवति। कुतः प्रकृत्या मुग्धा भवति? "मियछावय" त्ति छावगशब्दः सर्वत्र सम्बध्यते, ततो मृग-सिंह-कुक्कुटशावं–लघु मृगाद्यपत्यं तद्भूता, अत्यन्तर्जुत्वसाम्यात् तत्सदृशी येत्यर्थः। सहजरत्नमिवासंस्कृता 'सुखसंज्ञाप्या' सुखप्रज्ञापनीया 'गुणैः' गुरुबहुमानादिभिः समृद्धा। अन्यच्च—

जा खलु अभाविया कुस्सुईहिं न य ससमए गहियसारा। अकिलेसकरा सा खलु वइरं छक्कोडिसुद्धं व ॥१॥

[कल्पभाष्य गा० ३६८]

षट्कोणविशुद्धं 'वज्रमिव' हीरक इव विशुद्धा या सा खल्वज्ञायकपर्षदिति वाक्यशेषः ॥

पल्लवग्राहित्वादिकं च महतेऽनर्थाय, सम्पूर्णश्रुताभावात्। तदुक्तम्—

पल्लवग्राहि पाण्डित्यं, क्रयक्रीतं च मैथुनम्। भोजनं च पैरायत्तं, तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥१॥

१ पराधीनं स० ॥

अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः । ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति ॥२॥ [भर्तृहरित्रिशती १.२]
अत्राऽऽद्यपर्षद्द्वयं योग्यम्, तृतीया त्वयोग्येति ॥

[पृष्ठ १८]

पं. १. **नाण**मित्यादि । पं. २. सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञानं **संविदुच्यते** । करणा-ऽपादाना-ऽधिकरण-कर्तृसाधनोऽपि ज्ञानशब्दो व्युत्पाद्यः । नवरं कर्तृपक्षे ज्ञान-ज्ञानिनोः कथञ्चिदव्यतिरेकादात्मैव ज्ञानम्, जानाति स्वं रूपं बाह्यभावांश्चेति ज्ञानम्, प्रदीपवत् स्व-परावभासित्वाद् ज्ञानस्येति भावः । अत एवाऽऽह— पं. ३. **स्व-विषयेति** स्व-विषययोः—आत्म-बाह्यार्थयोः सवेदनं रूपं यस्येति विग्रहः ॥ पं. ७. क् च ङ् च इत्—अनुबन्धो यस्य प्रत्ययस्येति विग्रहः, कानुबन्धे ङानुबन्धे चेत्यर्थः । अजादिगणश्च अच्च अजाद्यत् तस्मात्, अजादीनां तदन्याकारान्तानां च टापिति स्त्रियामा प्रवर्तते ।

पं. १०. **कुव्याख्येति**, 'विध इत्यकारान्तोऽयम्' इति **केचिदाहुः** तदस्य न सम्मतमिति रूपसिद्धिर्दर्शिता ॥

पं. १२. **अत्थं०** गाहा—इहोपचारादर्थप्रत्यायनहेतुत्वाच्छब्द एव खल्वर्थोऽत्र, ततः शब्दमेवार्थप्रत्यायकमर्हन् भाषते, न तु साक्षादर्थम्, तस्याशब्दरूपत्वेनाभिलपितुमशक्यत्वात् । गणभृतोऽपि च शब्दात्मकमेव श्रुत ग्रथ्नन्ति 'निपुणं' सूक्ष्मं बह्वर्थं वा । तदर्हदुभयोः कः प्रतिविशेषः ? इति चेत्, उच्यते—स हि भगवान् विशिष्टमतिसम्पन्नगणधरापेक्षया प्रभूतार्थमर्थमात्रं स्वल्पमेवाभिधत्ते, बीजमात्रतया, न त्वितरजनसाधारणं ग्रन्थराशिमिति, प्रभूतार्थतीर्थकरभाषितस्य गणधरैर्विस्तीर्णतया सूत्रकरणमिति विशेष इति गाथार्थः ॥ पं. १८. **तत्रेति** ज्ञानपञ्चकमध्ये । आभिनिबोधिकज्ञानमित्यस्यायमर्थः—अभिमुखः—योग्यदेशावस्थितार्थापेक्षी, **अर्थाभिमुखः** अर्थबलायातत्वेन तन्नान्तरीयकोद्भव इत्यर्थः । **'नियतः'** स्वस्वविषयापेक्षी, तेन श्रोत्र-चक्षू-रसना-घ्राण-स्पर्शनानामिन्द्रियाणां शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः स्वविषया ग्राह्यतया नियताः, न त्वितरस्य विषयमितरद् गृह्णाति यो बोधः सोऽभिनिबोधः, अभिनिबोध एवाऽऽभिनिबोधिकम्, विनयादिपाठात् स्वार्थे इकणिति, यथा विनय एव वैनयिकमिति । यद्वा नात्र स्वार्थिकप्रत्यय एव किन्तु यथाघटमानमन्यथाऽपि व्युत्पाद्यम् । पं. १९. **अभिनिबुध्यते** तदित्यादि, ननु कर्तारमन्तरेण कर्म न भवति, अभिनिबुध्यते तदित्यत्र तु मतिज्ञानं कर्मास्ति, न तु कर्ता, तत् कथमिदं घटते ? इत्याह— प. २०. **तस्य स्वसंविदितरूपत्वादिति**, स्वयमेव ज्ञानं नीलादिग्राहकत्वेनात्मानं व्यवच्छिनत्ति, न बाह्यो ज्ञानपरिच्छेदकः कर्ताऽन्वेषणीय इति भावः । ननु 'ओदनं पचति देवदत्तः' इत्यादिषु भेदेनैव कर्म-कर्तृव्यवहारो दृष्टः, अत्र तु तदेव ज्ञानं परिच्छेदकं तदेव च परिच्छेद्यमिति भेदाभावात् कथं तद्व्यवहारः ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**भेदोपचारादि**ति, तद्धि प्रदीपवत् प्रकाशस्वभावमेवोत्पद्यत इत्यसन्नपि कर्तृ-कर्मभावेन भेद उपचर्यत इति भावः । यथा ज्ञानं कर्तृ स्वं रूपमभिनिबुध्यते इत्येकस्यैव कर्तृत्वं कर्मत्वं स्यात् । तदेवमाभिनिबोधिकशब्दवाच्यं ज्ञानमुक्तम् । अथवा ज्ञानं क्षयोपशम आत्मा वा तद्वाच्य इति दर्शयति—करणादिसाधनतया अभिनिबुध्यते घटादि वस्तु आत्मा **'अनेन'** प्रस्तुतज्ञानेन तदावरणक्षयोपशमेन वाऽभिनिबोधः, स एवाऽऽभिनिबोधिकम् । पं. २१. अभिनिबुध्यते **'अस्मात्'** प्रकृतज्ञानात् क्षयोपशमाद्वा । पं. २२. **'अभिनिबुध्यते'** अवगच्छति वस्तु आत्मा 'अस्मिन्' अधिकृतज्ञाने क्षयोपशमे वा सति आभिनिबोधिकम् । पं. २३. यद्वा 'अभिनिबुध्यते' वस्तु अवगच्छति आत्मैवाभिनिबोधः, स एवाऽऽभिनिबोधिकम् । नन्वात्म-क्षयोपशमयोराभिनिबोधिकशब्दवाच्यत्वे ज्ञानेन सह कथं सामानाधिकरण्यं स्याद् येन कर्मधारयो युज्येत ? सत्यम्, किन्तु ज्ञानस्याऽऽत्माश्रयत्वात् क्षयोपशमस्य च ज्ञानकारणत्वादुपचारतोऽत्रापि पक्षे आभिनिबोधिकशब्दो ज्ञाने वर्त्तते, ततश्च **आभिनिबोधिकं च तद् ज्ञानं चेति** कर्मधारयोऽदुष्टः १ ॥ पं. २४. **श्रूयते**ऽसाविति श्रुतं शब्दः । नन्वभिलापप्लावितार्थग्रहणप्रत्ययो लब्धिविशेषः श्रुतम्, तदेव च ज्ञानम्, तत् कथं शब्दः श्रुतं स्यात् ? इत्याह—**भावश्रुते**त्यादि, श्रुतज्ञानकारणं शब्दोऽपि श्रुतमुच्यते ।

पं. २६. यद्वा **शृणोतीति श्रुत**मात्मैवोच्यते, ज्ञान-ज्ञानिनोः कथञ्चिदव्यतिरेकात् श्रुतोपयोगपरिणामयुक्तः श्रुतं भवति, तदत्रापि शब्दस्य श्रुतकारणत्वात् क्षयोपशमस्य च ज्ञानहेतुत्वाद् आत्मनश्च कथञ्चित् तदव्यतिरेकाद उपचारतः **श्रुतं च तद् ज्ञानं चेति** समासो युज्यते २। पं. २८. अवशब्दो अधःशब्दार्थः मर्यादार्थश्च। **'अवधीयते'** अधोऽधो विस्तृतं परिच्छिद्यते रूपि वस्तु **'अनेन'** ज्ञानेनेत्यवधिः। यद्वा अव–रूपिद्रव्यमर्यादया धीयते–परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेत्यवधिः। पं. २९. अवधीयते 'अस्माद्' ज्ञानाद् जीवेन साक्षाद् वस्तु इत्यवधिः। पं. ३०. अवधीयते जीवेनास्मिन् सति वस्तु इत्यवधिः। अवधानं वाऽवधिः–साक्षादर्थपरिच्छेदनम्। पं. ३२. पर्ययनं–सर्वतः परिच्छेदनं पर्ययः। क पुनरसौ ? इत्याह—

[पृष्ठ १९]

पं. १. **मनसी**त्यादि, मनसि ग्राह्ये मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्ययो मनःपर्ययः। पं. ३. यद्वा **मनःपर्यायज्ञान**मित्युच्यते। तत्र "इण् गतौ" अयन आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः, परि–समन्तादायः पर्यायः, मनसः पर्यायास्तेषु ज्ञानम्। यद्वा संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गणापुद्गलद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते। ततश्च जीवैर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति–परिच्छिनत्ति मनःपर्यायम्, "कर्मण्यण्" [पा. ३-२-१] तस्य कथञ्चित् कर्तुरनन्यत्वात् कर्तृत्वविवक्षा। कर्ता वा आत्मा यथोक्तानि मनांसि पर्येति अनेनेति मनःपर्यायम्, "अकर्तरि च" (पा. ३-३-१९) इत्यादिना घञ्, तत् पुनस्तदावरणक्षयोपशमजो लब्धिविशेषस्तदुपयोगो वा विषयग्रहणात्मकः। यद्वाऽवनं–गमनं वेदनमित्यवः, परि–समन्तादवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवा मनःपर्यवाः, तेषां तेषु वा इदमित्थम्भूतमनेन चिन्तितमित्येवंरूपं ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिति वेति। **इदं चे**त्यादि, अर्द्धं तृतीयं येषां तेऽर्धतृतीया द्वीपाः, ते च समुद्रौ चार्धतृतीयद्वीप-समुद्राः, तेषामन्तः–मध्यं तत् तथा, तत्र वर्तन्ते ये तेऽर्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिनः, ते च ते संज्ञिनश्च तेषां मनोगतानि–मनस्त्वेन परिणमय्य मुक्तानि यानि द्रव्याणि तैरेव तान्यालम्बते–आश्रयति अर्थपरिच्छेदकतया यद् ज्ञानं तत् तदालम्बनम्। पं. ५. **केवल**मित्यादि, "केवलमेगं सुद्धं सकलमसाहारणं अणंतं च।" [विशेषा. गा. ८४] इति वचनात् केवलशब्द एकाद्यर्थपञ्चकवृत्तिरिति क्रमेण व्याचष्टे। तत्र केवलमिति कोऽर्थः ? **असहायम्** इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षित्वादेकमित्यर्थः, तद्भावे शेषच्छाद्मस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वाऽसहायम्। अत एवाह–**मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम्**। केवलं **शुद्धं** निर्मलमित्यर्थः, सकलावरणमलकलङ्कविगमसम्भूतत्वात्। **सकलं वा केवलम्**, परिपूर्णमित्यर्थः, सम्पूर्णद्रव्यादिज्ञेयग्राहित्वात्।

पं. ६. **तत्प्रथमतयैवे**ति, यो येन भावेन पूर्वं नासीदिदानीं च जातः स तेन भावेन तत्प्रथम उच्यते तेन प्रथमः, सा चासौ प्रथमता चेति वेति विग्रहः। **असाधारणं** तादृशापरज्ञानाभावाद् अनन्यसदृशम्। पं. ७. **अनन्तं** अप्रतिपातित्वेनाविद्यमानपर्यन्तं ज्ञेयानन्तत्वाद्वा अनन्तं केवलमुच्यते।

पं. ९. **आहे**त्यादि, एतेषु मध्ये आदौ मतिश्रुतोपन्यासः किमर्थः ?, उच्यते, स्वाम्यादिकारणषट्कं प्रतीत्य मति-श्रुतयोरुपन्यासः, नवरमाभिनिबोधिकं ह्यौत्पत्तिक्यादिमतिप्रधानत्वान्मतिरप्युच्यते। **कालो** द्विधा—नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च। स चायं द्विविधोऽप्यनयोस्तुल्य एव, नानाजीवापेक्षया द्वयोरपि सर्वकालमनुच्छेदात्, एकजीवापेक्षया तूभयोरपि निरन्तरसातिरेकसागरोपमषट्षष्टिस्थितिकत्वेनात्रैवाभिधास्यमानत्वात्। **कारण**मपीन्द्रिय-मनोलक्षणं स्वावरणक्षयोपशमस्वरूपं च द्वयोरपि समानम्। उभयस्यापि "सव्वगयं सम्मत्तं" [आव० नि० गा० ८३० विशेषा० गा० २७५१] इत्यादिना सर्वद्रव्यादिविषयत्वाद् **विषयतुल्यता**। पं. १६. तत्र **आदेशत** इति, आदेशः–प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च। सामान्यतो द्रव्यजातिं जानीते, विशेषतो धर्मास्तिकायादेरेव देशादिविभागं जानीते। पं. १७. इन्द्रियादिपरनिमित्तत्वादुभयोः **परोक्षत्वसमता**।

१ मनःपर्यवव्युत्पादनं नास्ति हारिभद्रयां व्याख्यातम्॥

पं. १८. ननु यद्यनयोः परस्परमेवं तुल्यता तर्ह्येकत्र द्वयोरप्युपन्यासोऽस्तु, आदावेव तु तदुपन्यासः कथम्? इति, उच्यते, मति-श्रुतज्ञानसद्भावे एव शेषावध्यादिज्ञानलाभादादौ तदुपन्यासः, नहि स कश्चित् प्राणी भूतपूर्वोऽस्ति भविष्यति वा यो मति-श्रुतज्ञाने अनासाद्य प्रथममेवावध्यादीनि शेषज्ञानानि प्राप्तवान् प्राप्नोति प्राप्स्यति वेति भावः । तदुक्तम्—

जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिं तुल्लाइं । तब्भावे सेसाणि य, तेणाऽऽईए मइ-सुयाइं ॥ [विशेषा० गा० ८५]

भवतु तर्ह्यादौ मति-श्रुतोपादानम्, केवलं पूर्वं मतिः पश्चात्तु श्रुतमित्यत्र किं कारणम्? उच्यते—**मतिपूर्वकत्वा**दित्यादि ।

पं. २०. **मइपुव्वं०** गाहा । व्याख्या—मतिः पूर्वं—प्रथममस्येति मतिपूर्वं 'येन' कारणेन श्रुतज्ञानं तेन श्रुतस्याऽऽदौ मतिः तीर्थकर-गणधरैरुक्तेति शेषः, नह्यवग्रहादिरूपे मतिज्ञाने पूर्वमप्रवृत्ते काप्यभिलापप्लाविनार्थग्रहणरूपश्रुतप्रवृत्तिरस्तीति भावः । "विसिट्ठो वा मइभेओ चेव सुयं" ति यदि वा इन्द्रिया-ऽनिन्द्रियनिमित्तद्वारेणोपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव, केवलं परोपदेशादा-गमवचनाच्च भवन् विशिष्टः कश्चिन्मतिभेद एव श्रुतम्, नान्यत् । यतश्च विशिष्टमत्यंश एव श्रुतं ततो मूलभूताया मतेरादौ विन्यासः, तद्भेदरूपं तु श्रुतं मतिसमनन्तरं भणितमिति गाथार्थः ॥

पं. २३. **मति-श्रुतज्ञानानन्तरमवधेरुपन्यासः कालादिचतुष्टयसाधर्म्यात्**, नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च मति-श्रुताभ्यां सहावधेः समानस्थितिकालत्वात् **कालसाधर्म्यम्** । पं. २४. **प्रवाहापेक्षये**ति, सर्वजीवानाश्रित्य सर्वाद्धां एकजीवा-पेक्षया सागरषट्षष्टिः साधिका स्थितिकालः । पं. २५. यथा च मिथ्यात्वोदये मति-श्रुतज्ञाने अज्ञानरूपं विपर्ययं प्रतिपद्येते तथाऽवधिरपीति **विपर्ययसाधर्म्यम्** । पं. २६. य एव मति-श्रुतयोः स्वामी स एवावधेरपीति **स्वामिसाधर्म्यम्** ।

पं. २७. लाभोऽपि कदाचित् कस्यचिदमीषां त्रयाणामपि ज्ञानानां युगपदेव भवतीति **लाभसाधर्म्यम्** ।

पं. २८. **अवध्यनन्तरं मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासः छद्मस्थादिकारणचतुष्टयात्**, तत्र **विषयसाधर्म्ये** उभयोरपि पुद्गलमात्रविषयतासाधर्म्ये यद्यपि सामान्येन तथाप्यस्य मनोवर्गणाविशेषतो विषयः । पं. ३२. सर्वज्ञानानामुपरि **केवलस्यो-पन्यासः तस्योत्तमत्वात्**, सर्वोत्तमं हि केवलज्ञानम्, अतीता-ऽनागत-वर्तमाननिःशेषज्ञेयस्वरूपावभासित्वात् । सर्वज्ञानानां लाभेऽवसान एवास्य लाभाद्वा अन्ते निर्देशः । विपर्ययाभावश्च साधर्म्यम् ।

[पृष्ठ २०]

पं. ९. **अश्नुते**—केवलाद्युत्पत्तौ ज्ञानात्मना **सर्वार्थान् व्याप्नोती**ति उणादिनिपातनाद् अक्षः—जीवः । यद्वा **अश्नाति** समस्तत्रिभुवनान्तर्वर्तिनो देवलोकसमृद्ध्यादीनर्थान् पालयति भुङ्क्ते चेति निपातनाद् अक्षः—जीवः, अश्नातेर्भोजनार्थत्वात्, भुजेश्च पालना-ऽभ्यवहारार्थत्वादिति भावः, तमक्षं—जीवं प्रति साक्षाद् गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यद् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।

पं. १०. अत एवोक्तम्—**अपरनिमित्त**मिति, न परम्—इन्द्रियादि निमित्तं यस्योत्पत्तौ अक्षं—जीवं विमुच्य तदपरनिमित्तम्, अत एवातीन्द्रियमेतत्, अवध्यादित्रयस्यैव साक्षादर्थपरिच्छेदकत्वेन जीवं प्रति साक्षाद् वर्तमानत्वात् प्रत्यक्षव्यपदेशः ।

पं. ११. **विचित्रतां चास्ये**ति, अवध्यादिप्रत्यक्षस्य परेभ्योऽक्षस्य—जीवस्य यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् परोक्षम्, यस्माद् द्रव्ये-न्द्रियाणि द्रव्यमनश्चाक्षस्य—जीवस्य पराणि वर्तन्ते, भिन्नानीत्यर्थः । कुतः परत्वम्? द्रव्येन्द्रिय-मनसोः पुद्गलमयत्वादिति । इदमुक्तं भवति— अपौद्गलिकत्वादमूर्तो जीवः, पौद्गलिकत्वान्मूर्तानि द्रव्येन्द्रिय-मनांसि, अमूर्ताच्च मूर्तं पृथग्भूतम्, ततस्तेभ्यः पौद्गलिकेन्द्रिय-मनोभ्यः यन्मति-श्रुतलक्षणं ज्ञानमुपजायते तद् धूमादेरग्न्यादिज्ञानवत् परनिमित्तत्वात् परोक्षमुच्यते । यद्वा परैः—इन्द्रियादिभिः उक्षा—सम्बन्धनं लिङ्गानुमेये ग्राह्य-ग्राहकलक्षणं अस्य ज्ञानस्य तत् परोक्षम् । पं २४. **द्रव्येन्द्रिय**मित्यादि,

अंतो-बहिनिव्वत्ती, तस्सत्तिसरूवगं च उवगरणं । दव्विंदियमियरं पुण लद्धुवओगेहिं नायव्वं ॥१॥ [ ]

कर्णपर्पटिकादि बाह्यसंस्थानं बहिर्निर्वृत्तिः, कदम्बपुष्पगोलकाद्याकृतिश्चान्तर्निर्वृत्तिः, तच्छक्तिविशेषश्चोपकरणम् । यथा खड्गे खड्गः तद्धारा तच्छेदनशक्तिश्चेति त्रयं व्याप्रियते, एवं द्रव्येन्द्रियगोचर निर्वृत्तिद्वयं तच्छक्तिश्चेति त्रितयं ज्ञानं प्रति व्याप्रियते ।

पं. २७. **नोइन्द्रियप्रत्यक्ष**मिति, यत्रेन्द्रियं सर्वथैव न प्रवर्तते किन्तु जीव एव साक्षादर्थं पश्यति तद् नोइन्द्रियप्रत्यक्ष-मवध्यादि ।

[पृष्ठ २१]

पं. ४. **उपचारतः प्रत्यक्ष**मिति, इहेन्द्रियं श्रोत्रादि, तदेव निमित्तं सहकारिकारणं यस्योत्पित्सोस्तदा(?द)लैङ्गिकं शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शविषयज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम् । इदं चेन्द्रियलक्षणं जीवात् परं—व्यतिरिक्तं निमित्तमाश्रित्योत्पद्यते इति धूमादग्निज्ञानमिव वस्तुतोऽर्थसाक्षात्कारित्वाभावात् परोक्षमेव, केवलं लोकेऽस्य प्रत्यक्षतया रूढत्वात् सन्व्यवहारतोऽत्रापि प्रत्यक्षत्वमुच्यते, न परमार्थतः, परमार्थतोऽवध्यादिकमेव प्रत्यक्षम्, इन्द्रियाद्यनपेक्षत्वात् । **कथं ज्ञायत** इत्यादि, मुख्यतोऽपीन्द्रियप्रत्यक्षं किमिति न स्यादिति वितर्कार्थः । पं. ६. **न चे**त्यादि, मति-श्रुते विमुच्येन्द्रियजज्ञानमपर न किञ्चिदस्ति यत् प्रगुणन्यायेन मुख्यत प्रत्यक्षं भवेत् । इन्द्रियजज्ञानस्य मति-श्रुताभ्यां पार्थक्ये षष्ठज्ञानप्रसङ्गः, तस्मादिन्द्रियजज्ञानस्य मति-श्रुतयोरेवान्तर्भावः । मति श्रुते च परोक्षे अभिहिते, तत्परोक्षत्वे इन्द्रियजज्ञानस्यापि परोक्षत्वमेव पारमार्थिकम् । पं. ८. **आहे**त्यादि, धूमादग्निज्ञानवत, न त्वक्षजमिति भावः । **इह यदि**त्यादि, हन्त ! इहापीन्द्रिय-मनोभिर्गृहीते बाह्ये धूमादौ लिङ्गेऽग्न्यादिविषयं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेकान्तेन परोक्षम्, इन्द्रिय-मनसामात्मनश्च तद्ग्राह्यार्थस्य एकान्तेन परोक्षत्वादिति भावः । पं. १०. **यत् पुन**रित्यादि, लिङ्गमन्तरेणैव यदि-न्द्रिय-मनसां वस्तुसाक्षात्कारित्वेन ज्ञानमुपजायते तत् तेषां प्रत्यक्षत्वाल्लोकव्यवहारमात्रापेक्षया प्रत्यक्षमुच्यते, अलिङ्गत्वात्, अवध्यादिवत्, न त्वात्मनस्तत् प्रत्यक्षमिति शेषः । इन्द्रिय-मनोभवं ज्ञानमात्मनः परोक्षमेव, परनिमित्तत्वात्, धूमादग्निज्ञानवत् ।

पं. ११. यद्येवं यल्लिङ्गमन्तरेणैव साक्षादिन्द्रिय-मनोनिमित्तं ज्ञानमुत्पद्यते तत् परमार्थतः प्रत्यक्षमस्तु, किं तदपि परोक्षत्वे-नेष्यते ? नैवमित्याह—**इन्द्रियाणामपी**त्यादि, इन्द्रिय-मनांसि ज्ञानजनकत्वेनाऽऽत्मनो व्याप्रियन्ते इति ज्ञाननिमित्तत्वेन साक्षाद् व्याप्रियमाणत्वादुपचारतोऽक्षं—इन्द्रियं प्रति वर्तते इतीन्द्रियप्रत्यक्षमुच्यते, न तत्त्वतः; यतो यदिन्द्रिय-मनोनिमित्त ज्ञानमुत्पद्यते तदप्यात्मनः, न त्विन्द्रियाणाम्, तेषामचेतनत्वात् । एतेन ये **वैशेषिकाद**यो अक्षं—इन्द्रियं प्रति गत प्रत्यक्षमितीन्द्रियाणां साक्षाद् घटाद्यर्थोपलब्धेर्घटादिज्ञानं प्रत्यक्षमिच्छन्ति तन्न युज्यत इत्यावेदितम्, इन्द्रियाणामचेतनत्वेन ज्ञानायोगात् । तथाहि—यदचेतनं तन्न जानाति, यथा घटादि, अचेतनानि चेन्द्रियाणि, कुतस्तेषामुपलब्धि प्रत्यक्षं भवत् ? । एवं मूर्तिमत्त्वात् स्पर्शादिमत्त्वाच्च न जानन्ति । न च वाच्यम्—'इन्द्रियाणि न जानन्तीति प्रत्यक्षविरोधिनी प्रतिज्ञा, तेषां साक्षात्कारेणार्थोपलब्धेरनुभवप्रत्यक्षेण प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात्' [इति], यतश्चक्षुरादीन्द्रिये करणतया व्याप्रियमाणे वस्तूनामुपलब्धा आत्मैव, न त्विन्द्रियम्, चक्षुरादीन्द्रियोपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मर्तृत्वात् । **इह** यो येषूपरतेष्वपि तदुपलब्धानर्थाननुस्मरति स तत्रोपलब्धा दृष्टः, यथा गृहगवाक्षोपलब्धानामर्थानां तद्विगमेऽप्यर्थानुस्मर्ता देवदत्तादि, अनुस्मरति चेन्द्रियविगमेऽपि तदुपलब्धमर्थमात्मा, तस्मात् स एवोपलब्धा । यदि पुनरिन्द्रिया-ण्युपलम्भकानि स्युस्तदा तद्विगमे कस्यानुस्मरणं स्यात् ?, नह्यन्येनोपलब्धेऽर्थेऽन्यस्य स्मरणं युक्तम्, अस्ति चानुस्मरणम्, तस्मान्न जानन्तीन्द्रियाणि । ततश्चेन्द्रिय-मनोनिमित्तमात्मनो ज्ञान परनिमित्तत्वात् परोक्षमति-श्रुतान्तर्भावाच्चानुमानवत् परोक्षं तत्त्वतः, संव्यवहारतस्तु प्रत्यक्षम् । पं. १२. अत एवाह—**अत्र बहु वक्तव्य**मित्यादि, मनोनिमित्तस्यापि ज्ञानस्य परनिमित्तत्वाद-नुमानवत् परोक्षत्वं ज्ञेयम् । न च वक्तव्यम्—'आगमेऽस्य तत् परोक्षत्वं न क्वचिद् विशेषतोऽभिहितम्' [इति], यतो मति-श्रुतयोरागमे परोक्षत्वस्य विशेषतो भणनात्, मनोनिमित्तस्यापि च ज्ञानस्य तदन्तःपातित्वादिन्द्रियजज्ञानस्येव परोक्षत्व सिद्धमेवाऽऽह ।

पं. १६. अत एवाह—**इह मनोज्ञानमपी**त्यादि, योग-क्षेमौ आक्षेप-परिहारौ तुल्यावस्येन्द्रियज्ञानेन सहेति ।

पं. ३०. **कायन्ति** शब्दयन्ति योग्यतया तद्धेतुकर्मोपादानत इत्यर्थः ।

[पृष्ठ २२]

पं. ४. **उदय०** गाहा । व्याख्या–उदयः क्षयः क्षयोपशम उपशम इत्येते चत्वारः **कर्मणोऽवस्थाविशेषाः 'यद्'** यस्माद् **भणिता एते प्रवर्तन्ते इत्यर्थः । कथम्'** इत्याह–'द्रव्यं क्षेत्रं कालं भवं च भावं च सम्प्राप्य' इति द्रव्याद्यपेक्षाः सन्तः स्युः, न यतस्ततः **इत्यर्थः** । तत्र पीतमदिरस्य भक्षितहृत्पूरकस्य वा ज्ञानान्यथात्वं द्रव्याद् भवतीति प्रतीतम्, मण्डूक-ब्राह्मी-कङ्गुणीतैलादिपानादिना कचित् कदाचिदज्ञाननिवृत्तिश्च भवति । देवताराधन-मन्त्रादिस्मरणतश्च सा भवतीति भावापेक्षाऽप्यसौ । एवं स्रक्-चन्दनाऽङ्गना-ऽऽरोग्यत्वादिद्रव्य-भावापेक्षः सातायुदयो भवति । तथा निद्रादिपञ्चकोदयो भक्षितमाहिषदधि-वृन्ताकादिद्रव्यस्य जीवस्य तत्तद्द्रव्यमपेक्ष्य भवन् द्रव्यापेक्षः । सजलादिक्षेत्रं प्राप्य स एवातिशयेन भवतीति क्षेत्रापेक्षः । निद्रोदयस्यैव रजन्यादिकः कालः विशेषतो ग्रीष्मो वा इति कालापेक्षः । स एवैकेन्द्रियादिभवं प्राप्य पृथिव्यादिवनस्पतीनां विशेषतो निद्रोदय इति भवापेक्षः । स एव चित्तस्वास्थ्यादिभावमपेक्ष्य भवन् भावापेक्ष इति । एवं द्रव्यादयः परस्परं सव्यपेक्षाः सन्तः कर्मणामुदय-क्षय-क्षयोपशमोपशमरूपं कचित् कदाचिदवस्थाविशेषं जनयन्तीति क्षयोपशमजोऽप्यवधिर्देव-नारकयोर्भवप्रत्ययो भवति, अवश्यं तस्य तत्र भावात् । तिर्यग्मनुष्याणां भवे सत्यप्यसौ क्षयोपशमज एव, कचित् कदाचिदेव भावाद् इति प्रकृतोपयोगि । अन्यच्च तृणाद्याहारस्तज्जप्रभूतभारोद्वहनसामर्थ्यं च तिरश्चां भवप्रत्ययं भवति । नारकाणां तादृशमारणान्तिकवेदनाधिसहनसामर्थ्यं भवप्रत्ययं भवति, एवं वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमात् केचिन्महासामर्थ्योपेता मनुष्या अपि दृश्यन्ते, केचित् प्रबलवीर्यान्तरायोदयात् तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्था इति । एवं सर्वत्र द्रव्याद्यपेक्षया उदयादयः प्रवर्तन्ते इति गाथार्थः ॥

अवधानमवधिः–इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम् । अवधेरेव ज्ञानमवधिज्ञानम् । अथवा अवधिः–मर्यादा, तेनावधिना–रूपिद्रव्यमर्यादात्मकेन ज्ञानमवधिज्ञानम् । तद् भवप्रत्ययं नारक-देवानाम्, गुणप्रत्ययं मनुष्य-तिरश्चाम् ।

[पृष्ठ २३]

पं. १. तद् द्विविधं सत् षोढा आनुगामुकादिभेदात् । आ–अभिविधिना अनुगमनशीलमानुगामुकम्, यत्र उत्पन्नं ततो देशान्तरगतमपि ज्ञानिनं यदनुगच्छति लोचनवत् **तदानुगामुकम्** १ । यत्र क्षेत्रे उत्पन्नं तत्रस्थ एव पश्यति नान्यत्र गत इति, यत् तद्देशस्थितस्यैव भवति स्थानस्थदीपवत्, तत् तद्देशनिबन्धनक्षयोपशमजन्यत्वाद् देशान्तरगतस्य तु भ्रंशाद् **अनानुगामुकम्** २ । **वर्द्धमानकं** यदङ्गुलासंख्येयभागादिविषयमुत्पद्य पुनः वृद्धि–विषयविस्तरणात्मिकां याति यावदलोके लोकप्रमाणान्यसंख्येयानि खण्डादीनि ३ । **हीयमानकं** यद् जघन्येनाङ्गुलासंख्येयभागविषयम् उत्कर्षेण सर्वलोकविषयमुत्पद्य पुनः सङ्क्लेशवशात् क्रमेण हानिं–विषयसङ्कोचात्मिकां याति यावदङ्गुलासंख्येयभागस्ततोऽपि प्रतिपतति, येन त्वलोकस्य प्रदेशोऽपि दृष्टस्तस्य न हीयते ४ । **प्रतिपाति** कियन्तमपि कालं स्थित्वा ततो ध्वंसनस्वभावं यदित्यर्थः ५ । **अप्रतिपाति** आमरणान्तभावि यदित्यर्थः ६ । अत्र चाप्रतिपाति ज्ञानमनुगाम्येव भवति, आनुगामुकं त्वप्रतिपाति प्रतिपाति च भवतीत्युभयोर्विशेषः । तथा प्रतिपाति प्रतिपतत्येव, पतितमपि च देशान्तरे गतस्य कदाचिज्जायते, न चेत्थमनानुगामुकम्, यत इदं यत्र देशे निष्ठत समुत्पन्नं तत्रैव तिष्ठतश्चयवते न वा, च्युतमपि देशान्तरे पुनरप्युत्पत्तिप्रदेशे समायातस्य भवतीति प्रतिपात्यनानुगामुकयोर्भेदः । पं. १५. **तच्च फड्डकावधित्वादिति**, अपवरकादिजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्थानानीवाऽवधिज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यान्यवधिज्ञाननिर्गमस्थानानीह **फड्डकान्युच्यन्ते**, तानि चैकजीवस्य संख्येयान्यसंख्येयानि च भवन्ति, तैर्यदवधिज्ञानं जीवस्य तत् फड्डकावधीत्युच्यते । तत्र सकलजीवोपयोगे सत्यपि साक्षादेकदेशेनैव दर्शनादात्मप्रदेशान्तर्गतमुच्यते १ । सर्वात्मप्रदेशक्षयोपशमभावे सत्यप्यौदारिकशरीरैकदेशेनैव दर्शनादौदारिकशरीरान्तर्गतमुच्यते २ । एकदिगुपलम्भाद् ज्ञानोद्योतितक्षेत्रान्तर्वृत्तेरवधिमत एकदिगुद्योतितक्षेत्रान्तर्गतमुच्यते ३ ।

पं. १९. आत्ममध्यगतादिभेदेन मध्यगतमपि त्रिधा–तत्र सर्वात्मोपयोगे सत्यपि मध्य एव सर्वफड्डकविशुद्धिसद्भावात्

साक्षान्मध्यभागेनोपलब्धेरात्ममध्यगतमभिधीयते १। सर्वात्मनः क्षयोपशमयोगाद्विशेषेऽप्यौदारिकशरीरमध्यभागेनैवोपलब्धेरौदारिकशरीरमध्यगतमुच्यते २। सर्वदिगुपलम्भादवधिज्ञानप्रकाशितक्षेत्रमध्य एव ज्ञानिनः सद्भावात् क्षेत्रमध्यगतमभिधीयते ३।

पं. २४. अन्तगत भूयोऽपि पुरतोऽन्तगतादिभेदात् त्रिधा–**पुरतः** अग्रेतनभागेऽन्तस्थितं प्रागुक्तात्मदेशादीनाम्। **मार्गतः** पृष्ठतः। **पासउ** त्ति पार्श्वतः। प. २९. **उल्का दीपिका,** 'हेजुलेति' या प्रसिद्धा। **मणिं व** त्ति प्रदीपशिखा मणिविशेषः, आदिग्रहणादन्योऽप्येवंजातीयो ग्राह्यः। **प्रदीपः** कलिकारूपः। **मेरयन् मेरयन्** आकर्षन् आकर्षन्।

[पृष्ठ २४]

पं. २. **नान्यत्रेति,** पृष्ठि-पार्श्वयोः। पं. ५. मार्गतोऽन्तगतसूत्रे–उल्कादिकं **अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे** त्ति अनुकर्षन् अनुकर्षन् गच्छेत्। पं. ८. पार्श्वतोऽन्तगतसूत्रे–उल्कादिकं प्रदीपान्तं ज्योतिर्वस्तु पार्श्वतः कृत्वा **परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे** त्ति परिकर्षन् परिकर्षन् गच्छेत्। पं. १३. मध्यगतसूत्रे–मस्तकस्थेन ज्योतिर्वस्तुना यथा कश्चिद् गच्छेत् सर्वत्र तत्प्रकाशितमर्थं पश्येत्, एवं मध्यगतावधिज्ञान्यपि योज्यम्। पं. २४. **विशुद्धफड्डकै**रिति, विशुद्धक्षयोपशमजन्यफड्डकानि विशुद्धफड्डकान्युच्यन्ते, तैरित्यर्थः।

[पृष्ठ २६]

पं. ७. **द्रव्यलेश्योपरञ्जित**मिति, तत्र—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥१॥ [ ]

साचिव्यं–सान्निध्यम्। पं. ११. **जावइया॰** गाहा–त्रिसमयमाहारक इति वाक्यम्। यद्वा आहारयतीत्याहारकः, त्रीन् समयानाहारकस्त्रिसमयाहारक इति व्युत्पत्तिः। पं. १९-२४. **योजने**त्याद्यार्यापट्कम्–यो मत्स्यो योजनसहस्रायामः स्वदेहस्यैवैकदेशे उत्पद्यमानः स प्रथमे समये आयामं सङ्क्षिपति। तं च सङ्क्षिपन् प्रतरं करोति, कथम्भूतम्? इत्याह–'सङ्ख्यातीताख्याङ्गुलविभागबाहल्यमानं' बाहल्येनाङ्गुलासङ्ख्येयभागसूक्ष्ममित्यर्थः। पुनरपि कथम्भूतम्? इत्याह–**स्वकेन**, मत्स्यदेहविस्तीर्णम्, शरीरान्तःसम्बद्धत्वादूर्ध्वाधस्तिर्यक् च यावान् मत्स्यदेहस्य विस्तरस्तावांस्तज्जीवप्रदेशप्रतरस्यापीत्यर्थः। एवं चाऽऽयामतो विष्कम्भतश्च मत्स्यशरीरपृथुत्वतुल्योऽङ्गुलासङ्ख्येयभागबाहल्यश्चायं प्रतरो भवतीत्येष प्रथमसमयव्यापारः, प्रतरमेतावन्मात्रं करोति। दैर्घ्येणापि, कुतः? जीवसामर्थ्यात्, ततो द्वितीयसमये 'तं' प्रतरमायामतो विष्कम्भतश्च संक्षिप्याऽङ्गुलासङ्ख्येयभागबाहल्यां मत्स्यशरीरपृथुत्वायामां सूचिं करोति। ततस्तृतीयसमये या निजतनुपृथुत्वेन दीर्घा सूचिः तामपि सूचिं सङ्क्षिप्याङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रावगाहनो भूत्वा निर्जीर्णमत्स्यभवायु[रुदीर्णपरभवायु]श्चाविग्रहगत्या मत्स्यशरीरस्यैवैकदेशे 'पनकः' सूक्ष्मवनस्पतिजीवविशेषो भवति। अस्मादुत्पादसमयात् तृतीयसमये यद् देहमानमङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रं एतस्य पनकस्य, तद् जघन्यमवधेर्विषयभूतं 'क्षेत्रं' तज्ज्ञेयद्रव्याधारम्। एतेन तज्ज्ञेयद्रव्याधारत्वेनैव क्षेत्रमवधेर्विषय उच्यते, न तु साक्षात्, तस्यामूर्तत्वात्, अवधेस्तु मूर्तविषयत्वादिति। पं. २६. **स एव चे**त्यादि, यो हि योजनसहस्रायामो महाकायो मत्स्यस्त्रिभिश्च समयैरात्मानं सङ्क्षिपति स किल प्रयत्नविशेषादतिसूक्ष्मामवगाहनां कुरुते, नान्यः, अनेन **'किमिति मत्स्योऽतिमहान् गृह्यते? तृतीयसमयसंक्षिप्तश्च'** इत्येतस्य द्वयस्योत्तरमदायि। दूरं च गत्वाऽन्यत्र यद्युत्पद्यते विग्रहेण च गच्छति तदा जीवप्रदेशाः किञ्चिद् विस्तरं यान्तीत्यवगाहना स्थूलतरा स्यादित्यविग्रहगत्या स्वशरीरदेश एवोत्पादित इत्येतत् स्वयमेव द्रष्टव्यमिति। पं. २७. किं त्रिसमयाहारको गृह्यते? अत्रोत्तरमाह–**प्रथमे**त्यादि। पं. २८. त्रिसमयाहारकत्वविषये **केचनाऽऽचार्या** व्याचक्षते, यदुत–द्वौ तावन्मत्स्यस्य सम्बन्धिनौ आद्यसमयौ गृह्येते–आयामसंहरणेन प्रतरकरणमित्येकः, तत्संहरणेन सूचिं यत्र करोति स द्वितीय इत्यायाम-

१ कड्डेति जे॰ ॥ २ मत्स्यशरीरपृथुत्वमायामो यस्याः जेटि॰ ॥

विष्कम्भयोः संहरणसमयद्वयम्, तृतीयसमयस्तु सूचिसंहरण-पनकत्वेनोत्पादश्चेति त्रयम्, ततश्च त्रयः समया यस्यासौ त्रिसमयः, अविग्रहेणोत्पत्तेराहारकश्च; एवं च सति प्रत्युताऽतिसूक्ष्मपनकश्चायं सिद्धो भवति, तथा च सति "तिसमयाहारगस्स पणगजीवस्से"ति सूत्रकारवचनमाराधितं भवति, किञ्चेह यथा सूक्ष्मः सूक्ष्मतरोऽसौ भवति तथा कर्तव्यम्, एतच्चास्मिन् व्याख्याने सविशेषं सिध्यति, उत्पादसमय एव यतो यस्मादसौ पनकजीवोऽतिजघन्यावगाहनो भवति, न शेषसमयेषु, द्वितीयादिष्वीषन्महत्त्वात्, जघन्यावगाहनश्च सूत्रे प्रोक्तः, ततोऽतिसूक्ष्मत्वसिद्धेस्तस्य पनकदेहस्य समानमेव किलावधेर्विषयभूतं जघन्यं क्षेत्रं भवतीति । न युक्तमिदं केषाञ्चिद् व्याख्यानम्, त्रिसमयाहारकत्वस्य पनकविशेषणत्वेनोक्तत्वात्, मत्स्यसमयद्वयस्य च पनकसमयत्वायोगात्; योऽपीत्थमपि जघन्यावगाहनालाभलक्षणो गुण उद्भाव्यते सोऽपि न युक्तः, यस्मान्नेहातिसूक्ष्मेणातिमहता वा किञ्चित् प्रयोजनम्, किं तर्हि ? योग्येन, योग्यश्च स एव तद्वेत्तृभिर्दृष्टो यः प्रथमं जघन्यावगाहनः संस्तस्मिन्नेव भवे समयत्रयमाहारं गृह्णाति ।

[पृष्ठ २७]

पं. ४. **सर्वबह्वग्निजीवाः** 'निरन्तरं' सततं नैरन्तर्येणेत्यर्थः 'यावदिति' यत्प्रमाणं 'क्षेत्रम्' आकाशं वक्ष्यमाणविशिष्टसूचीरचनया रचिताः सन्तः 'भृतवन्तः' व्याप्तवन्तः । पं. ५. **भूतकालनिर्देशश्चाजितस्वामि**काल एव वक्ष्यमाणयुक्त्या प्रायः सर्वबहवोऽनलजीवा भवन्त्यस्यामवसर्पिण्यामित्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थः । अनलजीवोत्पत्तेर्महावृष्ट्यादिव्याघाताभावे समस्तभरतैरावतविदेहलक्षणपञ्चदशसु कर्मभूमिषु सर्वबहवो बादराग्निजीवा भवन्तीति । किमविशेषेण सर्वदैव एतावन्तो भवन्ति ? नैवम्, किन्त्वजितजिनेन्द्रकाले, **अजितजिनेन्द्र**स्याप्युपलक्षणत्वादवसर्पिण्यां द्वितीयतीर्थकरकाले अग्निजीवा बहवो भवन्ति ।

पं. १२. कुतः ? **तदारम्भकपुरुषबाहुल्या**दिति, तेषां—बादराग्निजीवानां आरम्भकाः—उत्पादकाः सन्धुक्षण-ज्वालनाद्यारम्भकरणात् तदारम्भका ये पुरुषास्तेषां बाहुल्यात् । कोऽर्थः ? सर्वेभ्योऽप्यतीता-ऽनागतेभ्यो बहवः प्रचुरा गर्भजमनुष्यास्तदा भवन्ति स्वभावादेवेति । आह—किमेतैरेव बादराग्निजीवैः सर्वबह्वग्निजीवपरिमाणं पूर्यते ? आहोश्वित् सूक्ष्माग्निभिः सह ?, यदि तैस्सह तदा तेऽविशिष्टा अपि गृह्यन्ते ? आहोश्वित् केचिदेव विशिष्टाः ? इति, उच्यते—स्वभावाद् यदा सूक्ष्माग्निजीवा अप्युत्कृष्टपदिनः स्युः । इदमत्र हृदयम्—अनन्तानन्तास्ववसर्पिणीषु मध्ये स एव कश्चिद् द्वितीयतीर्थकरकालो गृह्यते यत्र सूक्ष्माग्निजीवा उत्कृष्टपदिनः प्राप्यन्ते, ततश्च तैर्बादरैः सूक्ष्मश्चाग्निजीवैरुत्कृष्टपदिभिर्मीलितैः सर्वबह्वग्निजीवानां परिमाणं ग्राह्यम् । अत एवाह—**सूक्ष्माश्चे**ति । **तत्रैवे**ति तेष्वेव मध्ये गृह्यन्ते । पं. १३. तेषां चावस्थानं बहुतरक्षेत्रपूरकं बुद्ध्या षोढा यद्यपि सम्भवति तथापि 'पञ्चाऽनादेशाः षष्ठस्त्वादेशः' इति वक्तुमाह—**तेषां चे**ति, अयमर्थः—तैः सर्वैरप्यग्निजीवैः समचतुरस्रो घनो द्विभेदः स्थाप्यते, कथम् ? इति, उच्यते—एकैकाकाशप्रदेशे एकैकाग्निजीवरचनया स्वावगाहे चाऽसङ्ख्येयाकाशप्रदेशलक्षणे एकैकाग्निजीवरचनयेति । अत्र स्थापना ⁝⁝⁝ । एतेषां नवानामग्निजीवानां प्रत्येकमेकैकाकाशप्रदेशे व्यवस्थापितानामधस्तादुपरिष्टाच्चान्येऽपि नव नव जीवा इत्थमेव व्यवस्थाप्यन्ते, एष कल्पनया सप्तविंशत्या सद्भावतस्त्वसङ्ख्येयैरग्निजीवैरेकैकाकाशप्रदेशव्यवस्थापितैर्घनो मन्तव्यः । द्वितीयोऽपि घन इत्थमेव द्रष्टव्यः, केवलमिहासंख्येयाकाशप्रदेशेष्वेकैकजीवो व्यवस्थाप्यते । एवमेकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनया असङ्ख्येयप्रदेशात्मकस्वावगाहस्थापनया च प्रतरोऽपि द्विभेदः, सूचिरपि द्विभेदः । तत्र घन-प्रतरपक्षश्चतुर्भेदः पञ्चमश्चैकैकाकाशप्रदेशस्थापितैकैकजीवलक्षणसूचिपक्षोऽपि न ग्राह्यः, दोषद्वयानुषङ्गात् । तथाहि—पञ्चविधयाऽप्यनया स्थापनया स्थापिता अग्निजीवाः षट्स्वपि दिक्ष्ववधिज्ञानिनोऽसत्कल्पनया भ्राम्यमाणाः स्तोकमेव क्षेत्रं स्पृशन्तीत्येको दोषः, एकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनायामागमविरोधश्च द्वितीयो दोषः, असङ्ख्येयाकाशप्रदेशानन्तरेणाऽऽगमे जीवावगाहनिषेधात् । पं. १५. असत्कल्पनया प्रतिप्रदेशावगाहोऽप्यस्त्विति चेत्, नैवम्, कल्पनाऽपि सति सम्भवेऽविरोधिन्येव कर्तव्या, किं विरोधिन्या ? इत्यालोच्याऽऽह—**षष्ठः श्रुतादेश** इति, असङ्ख्येयाकाशप्रदेशलक्षणे स्वावगाहे पङ्क्त्या एकैकजीवस्थापनेन यः सूचिलक्षणः षष्ठः पक्षोऽयं श्रुते आदिष्टत्वाद् ग्राह्यः,

शेषास्तु पञ्च 'अनादेशाः' सम्भवोपदर्शनमात्रेणोक्तत्वात् परिहार्या । इयं हि यथोक्ता सूचिरेकैकजीवस्यासङ्ख्येयाकाशप्रदेशावगाहे व्यवस्थापितत्वाद् बहुतरं क्षेत्रं स्पृशतीत्येको गुणः, अवगाहविरोधाभावस्तु द्वितीयः । ततश्चैषाऽग्निजीवसूचिरवधिज्ञानिनः षट्स्वपि दिक्ष्वसत्कल्पनया भ्रामिता सती अलोके लोकप्रमाणान्यसङ्ख्येयखण्डानि स्पृशति, अत एतावदुत्कृष्टक्षेत्रमवधेर्विषय इत्युक्तं भवति । आह—ननु 'रूपिद्रव्याण्येवावधिः पश्यति' इति गीयते, क्षेत्रं त्वमूर्तत्वात् कथं तद्विषय ? इत्याशङ्क्योक्तं **भाष्यकृता**—

सामत्थमेत्तमेयं, जइ दट्ठव्वं हवेज पेच्छेज्जा ।
न य तं तत्थऽत्थि जओ, सो रूविनिबंधणो भणिओ ॥१॥ [विशेषावश्यके गा. ६०५]

यदवधेरेतावत् क्षेत्रं विषय उच्यते तदेतत् तस्य सामर्थ्यमात्रमेव कीर्त्यते । कोऽर्थः ? इत्याह—यद्येतावति क्षेत्रे द्रष्टव्यं किमपि भवेत् तदा पश्येदवधिज्ञानी, न च तद् द्रष्टव्यं तत्रालोके समस्ति, यतोऽयमवधिस्तीर्थकर-गणधरै रूपिद्रव्यनिबन्धनो भणितः, तच्च रूपिद्रव्यमलोके नास्त्येवेति । आह—यद्येव लोकप्रमाणोऽवधिर्भूत्वा यस्य पुनो विशुद्धिवशतो लोकाद् बहिरप्यसौ वर्द्धते तस्य तद्वृद्धेः किं फलम् ? लोकाद् बहिर्द्रष्टव्याभावात्, अत्रोच्यते—लोकस्थमेव सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतमं द्रव्यं पश्यति यावदन्ते ऐश्चयिकपरमाणुमपीति तद्वृद्धेस्तात्त्विकं फलम् ॥ पं. २१. **अंगुलमावलियाणं**० गाहा । पं. २३. **उक्तं चे**त्यादि, असङ्ख्येयानां समयानां समुदयः—समुदाय, स च तेषां विप्रकलितानामपि तथाविधदेवदत्तादीनामिव स्यादत उच्यते—समुदायस्य समिति — नैरन्तर्येण मीलना, सा च नैरन्तर्यावस्थापितानाय शिलाकानामिव परस्परनिरपेक्षाणामपि स्यादत उच्यते—तस्याः समुदयसमितेर्यः समागमः—परस्परसम्बद्धतया विशिष्टैकपरिणामो भूत भवद्-भविष्यत्समयप्रवाहेण समागमः, तेनैवम्भूतसमयराशिना एका आवलिका भवति, जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकप्रतिसमयमान आवलिकाकालो भवतीति तात्पर्यम् । "**अंगुलमावलियाण**" मित्यादिगाथात्रयस्य [सूत्रगा. ४७–४९] तात्पर्यमिदम्—उपचारेण सर्वत्र द्रव्यमेव पश्यतीति विज्ञेयम् । ततश्च 'अङ्गुलासङ्ख्येयभागादिकं क्षेत्रं पश्यति' इति कोऽर्थः ? तत्रैवैतावति क्षेत्रे यानि प्रस्तुतावधिदर्शनयोग्यानि पुद्गलद्रव्याणि तान्येवासौ पश्यति । 'आवलिकासङ्ख्येयभागादिकं कालं पश्यति' इत्यत्रापि च कोऽर्थः ? तेषामेव पुद्गलद्रव्याणां ये प्रस्तुतावधिदर्शनयोग्याः पर्यायास्तान् भूतेऽनागते चैतावति कालेऽसौ वीक्षते इति । एवं सर्वत्र क्षेत्रे काले चावधेर्विषयत्वेनोक्तयथासङ्ख्यक्षेत्रगतानि योग्यरूपिद्रव्याणि कालगतांस्तु योग्यांस्तत्पर्यायानायोजयेत्, क्षेत्र-कालौ तु 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादिन्यायेनोपचारत एवोच्येते इति भावः । एष तावत् परिस्थूरन्यायमङ्गीकृत्य क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिरनियता, यतो यथा क्षेत्रं वर्द्धते न तथा कालो वर्द्धते, भरतक्षेत्रापेक्षया जम्बूद्वीपो महान्, कालस्तु न तथेति । कालवृद्धौ तु क्षेत्रवृद्धिर्भवत्येवेति प्रतिपादितम् । पं. १६. साम्प्रत द्रव्य क्षेत्र-काल-भावापेक्षया यद्वृद्धौ यस्य वृद्धिर्भवति यस्य वा न भवत्यमुमर्थं प्रतिपादयन्नाह—

काले चउण्ह वुड्ढी, कालो भइयव्वो खेत्तवुड्ढीए ।
वुड्ढीए दव्व-पज्जव भइयव्वा खेत्त-काला उ ॥ [सूत्रगा. ५१]

'काले' अवधिगोचरे वर्द्धमाने सतीति गम्यते, "चउण्ह वुड्ढि" त्ति नियमात् क्षेत्रादीनां चतुर्णामपि वृद्धिर्भवति, कालात् सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतमत्वात् क्षेत्र-द्रव्य-पर्यायाणाम् । तथाहि—कालस्य समयेऽपि वर्द्धमाने क्षेत्रस्य प्रभूतप्रदेशा वर्द्धन्ते, तद्वृद्धौ चाऽवश्यम्भाविनी द्रव्यवृद्धिः, प्रत्याकाशप्रदेशं द्रव्यप्राचुर्यात् । द्रव्यवृद्धौ च पर्यायवृद्धिर्भवत्येव, प्रतिद्रव्यं पर्यायबाहुल्यादिति । यद्येवं 'काले वर्द्धमाने शेषस्य क्षेत्रादित्रयस्य वृद्धिर्भवति' इति "काले तिगस्स वुड्ढी" इत्येव वक्तुमुचितम्, कथं चतुर्णामित्युक्तम् ?, सत्यम्, किन्तु सामान्यवचनमेतत् । तथाहि—यथा देवदत्ते भुञ्जाने सर्वमपि कुटुम्बं भुङ्क्त इत्यादि, अन्यथा ह्यत्रापि देवदत्ताच्छेषमपि कुटुम्बं भुङ्क्त इति वक्तव्यं स्यात्; यथा वा एकस्मिन् रसनेन्द्रिये जिते पञ्चापि जितानि भवन्ति; तथा अन्धे भोक्तुमाकारिते जनद्वयमागच्छतीत्यादिवचनप्रवृत्तिदर्शनादित्यदोषः । "कालो भइयव्वो खेत्तवुड्ढीए" त्ति क्षेत्रस्य—अवधिगोचरस्य वृद्धौ—आधिक्ये सति कालः 'भक्तव्य' विकल्पनीयः, वर्द्धते वा न वा, प्रभूते क्षेत्रे वृद्धिं गते वर्द्धते कालः, न स्वल्पे इति भावः ।

अन्यथा हि यदि क्षेत्रस्य प्रदेशादिवृद्धौ कालस्य नियमेन समयादिवृद्धिः स्यात् तदाऽङ्गुलमात्रादिकेऽपि वर्धिते क्षेत्रे कालस्यासङ्ख्येया उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यो वर्द्धेरन् । तथा च वक्ष्यति--"अंगुलसेढीमेत्ते ओसप्पिणिओ असंखेज्ज" त्ति अङ्गुलश्रेणिमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिः स प्रतिसमयं प्रदेशापहारेणापह्रियमाणोऽसङ्ख्येयावसर्प्पिणीभिरपह्रियते इति भावः, ततश्च "आवलिया अंगुलपुहुत्त"मित्यादि सर्वं विरुध्येत, तस्मात् क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिर्भजनीयैव, स्थूलत्वात् कालः स्याद् वर्द्धते स्यान्नेति । द्रव्य-पर्यायास्तु क्षेत्रवृद्धौ नियमाद् वर्द्धन्त एवेति स्वयमेव दृश्यम् । "वुड्ढीए दव्व-पज्जवे"त्यादि, द्रव्य-पर्याययोर्वृद्धौ सत्यां क्षेत्र-कालौ 'भक्तव्यौ' विकल्पनीयौ, वर्द्धेते वा न वा । तथाहि--अवस्थितयोरपि क्षेत्र-कालयोस्तथाविधशुभाध्यवसायतः क्षयोपशमवृद्धौ द्रव्यं वर्द्धत एव, तद्वृद्धौ च पर्यायवृद्धिरवश्यम्भाविन्येव, प्रतिद्रव्यं पर्यायानन्त्यात्, जघन्यतोऽपि चैकैकद्रव्यादप्यवधे पर्यायचतुष्टयलाभादिति । पर्यायवृद्धौ च द्रव्यवृद्धिर्भाज्या, भवति वा नवेति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । अवस्थितेऽपि हि द्रव्ये तथाविधक्षयोपशमवृद्धौ पर्याया वर्द्धन्त एवेति गाथार्थः ॥ पं. १८. **वृत्तौ--सप्तम्यन्तता चास्येति**, खेत्तवुड्ढीए इत्यस्य पदस्येत्यर्थः ।

पं. १९. सप्तम्या यथैकारस्तथाऽऽह--**ए होइ अयारंते०** इत्यादिगाथा । व्याख्या--द्वितीयाबहुवचनान्तेऽकारान्तपदे पुलिङ्गेऽभिधेये यत् तस्यैकारो भवति, यथा--"नमिऊण जिणवरिंदे" [उपदेशमाला गा. १] इत्यादि । तथा तृतीयादिषु आदिशब्दात् चतुर्थीपरिग्रहः, ततश्च "एगम्मि" त्ति एकत्वे वर्तमानानां तृतीया-चतुर्थी-षष्ठी-सप्तमीनां स्थाने 'महिलत्थे' त्ति स्त्रीलिङ्गेऽभिधेये एकारो भवति, तत्र तृतीयायां यथा "मुंदरबुद्धीए कय" इत्यादि, चतुर्थ्यां यथा--"गावीए पुण दिन्नं तण पि खीरत्तणमुवेति ।" इत्यादि, षष्ठ्याः स्थाने यथा--"तीए पुण विसुद्धीए कारणं होंति पडिमाओ ।" इत्यादि, सप्तम्याः स्थाने यथाऽत्रैव । ननु 'तृतीयादिषु'-इत्यत्राऽऽदिशब्दात् किमिति न पञ्चमीपरिग्रहः ? नैवम्, तत्स्थाने ओकारस्य दर्शनात्, तद्यथा--"इत्थीओ आवि सकमणं" इत्यादि, अत एव चात्र "तइयाइसु छट्ठी-सत्तमीए" इति व्यस्तनिर्देशः, अन्यथा ह्यादिशब्देन चतुर्थ्यादीना सर्वासामपि विभक्तीनामनुरोधः स्यादेवेति गाथार्थः ॥

पं. २५. ननु वस्तूनां नव-पुराणादयः पर्यायाः कालक्रमेणैव भवन्ति, अतस्ते चेदुत्तरोत्तरकालक्रमवृद्धिभाजो वर्द्धन्ते तदा तद्वृद्धौ सिद्धैव कालवृद्धिः, अतः 'पर्यायवृद्धौ कालो भजनीयः' इति यदुक्तं तदसङ्गतमित्याशङ्क्याऽऽह--**अक्रमवर्तिनामपि च वृद्धिसम्भवादिति**, इदमुक्तं भवति--यद्युत्तरोत्तरकालक्रमवृद्धिभाजो नव-पुराणादय एव वस्तूनां पर्यायाः स्युस्तदा युज्येत भवद्वचः, तच्च नास्ति, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शतारतम्यादिपर्यायाणां मन्दक्षयोपशमावस्थाऽनुपलब्धानां विशिष्टक्षयोपशमे सति कालक्रमवृद्ध्यभावेऽपि बहूनां युगपदेव वृद्धिसम्भवादिति भावनीयम् । पं. २५. **अत्रे**त्यादि, क्षेत्र-कालयोः सम्बन्धिनां प्रदेशानां समयानां च सङ्ख्यामाश्रित्य यन्मानं तत् परस्परं किं तुल्यं हीनमधिकं वा भवेत् ? इति प्रश्नार्थः । पं. २७. **सर्वत्रे**त्यादिना प्रतिविधत्ते ।

[पृष्ठ ३०]

पं. १५. **"तेया-भासे"**त्यादि, "गुरुलहुय अगुरुयलहुयं तं पि य तेणेव निट्ठाइ" त्ति उत्तरार्द्धम् ।

व्याख्या---तैजसं च भाषा च तैजस-भाषे, तयोर्द्रव्याणि तेषां तैजस-भाषाद्रव्याणाम् 'अन्तराद्' अपान्तराले "एत्थ" त्ति अत्रान्यदेव तदयोग्यं द्रव्यं 'लभते' पश्यति 'प्रस्थापकः' अवधिज्ञानप्रारम्भकः, अवधिप्रतिपत्तेति यावत् । किंविशिष्टं तत् ? इत्याह--'गुरुलघु अगुरुलघु चे'ति गुरुलघुपर्यायोपेतं गुरुलघु, अगुरुलघुपर्यायोपेतं त्वगुरुलघु । तत्र तैजसद्रव्यासन्नं गुरुलघु, भाषाद्रव्यासन्नं त्वगुरुलघु । तदपि चावधिज्ञानं तदावरणोदयात् प्रतिपतत् 'तेनैव' उक्तस्वरूपद्रव्येणोपलब्धेन सता निष्ठां याति, प्रतिपततीत्यर्थः । अपिशब्देन चैतद् ज्ञापयति-- प्रतिपातिन्यवधिज्ञाने अयं न्यायः--आरम्भे यद् दृष्टं तद् दृष्ट्वा प्रतिपततीति । न चैतदवश्यं प्रतिपात्येवेति भावः ॥

भावार्थः प्राक् प्रतिपादित एवेति । क्षेत्र-कालदर्शनमुपचारेणोच्यते, "मञ्चाः क्रोशन्ति" इति न्यायेन, यतो मूर्त्तद्रव्या-

लम्बनत्वादवधेरित्ययं भावार्थः । पं. २९-३०. **"ओही०"** गाहा [सू. २९ गा. ५३] **"वज्झिओ एसो"** त्ति पाठः, **पाठान्तरे "वज्झिओ दुविहो"** त्ति पाठः ।

[पृष्ठ ३१]

पं. ५. **नेरइय०** गाहा [सू० २९ गा. ५४]। यस्य नैरन्तर्येण सर्वतोभाविनोऽवधेस्तद्वान् जीवोऽभ्यन्तरे वर्तते सोऽभ्यन्तरावधिः । तथा च **[आवश्यक]चूर्णिः**—'अब्भंतरावही नाम' जत्थ से ठियस्स ओहिनाणं समुप्पन्न तओ ठाणाओ आरब्भ सो ओहीनाणी निरंतरसंबद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं वा खेत्तं ओहिणा जाणइ पासइ एस अब्भंतरावही" [विभाग १ पत्र ६३] अवधिमतः 'बहिः' बाह्योऽवधिः । अयमर्थः— "जत्थ से ठियस्स ओहिनाणं समुप्पन्नं तम्मि ठाणे सो ओहिनाणी न किंचि पासइ, तं पुण ठाणं जाहे अंतरियं होइ अंगुल-विहत्थिमाईहिं संखेज्जेहिं असंखेज्जेहि वा जोयणेहिं ताहे पासइ, एस बाहिरावही" [आवश्यकचूर्णि विभाग १ पत्र ६२–६३]। एवं चावधिद्वैविध्ये नारका देवास्तीर्थकराश्चावधिज्ञानस्याबाह्या भवन्ति, अवध्युपलब्धस्य क्षेत्रस्यान्तर्वर्तन्ते, अभ्यन्तरवर्तिन एव भवन्ति, अत एवाबाह्यावधय एवैते प्रतिपाद्यन्ते, अभ्यन्तरावधय इत्यर्थः, अवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य प्रदीपा इव निजनिजप्रभापटलस्य नैते बहिर्भवन्तीति भावः । तथाऽवधिना 'पश्यन्ति' अवलोकयन्ति, खलु-शब्दस्यावधारणार्थत्वात् 'सर्वत एव' सर्वास्वेव दिक्षु विदिक्षु च, न तु देशत इत्यर्थः । 'शेषाः' तिर्यग्मनुष्याः 'देशेन' एक-देशेन पश्यन्ति, तत्र वाक्यावधारणविधेरिष्टत प्रवृत्ते शेषा एव देशतः पश्यन्ति, न तु शेषा देशत एवेति द्रष्टव्यम्, शेषास्तिर्यग्-मनुष्याः सर्वतो देशतश्च पश्यन्तीति भावः । ननु 'अवधेरबाह्या भवन्ति' इत्यवध्युपलब्धक्षेत्रस्याभ्यन्तरे नारकादयो वर्तन्ते इत्युक्ते सति 'पश्यन्ति सर्वतः' इति किमर्थं भण्यते ? ये ह्यवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य मध्ये वर्तन्ते ते सर्वतः पश्यन्त्येवेति गतार्थत्वादतिरिच्यते ? अत्रोच्यते—यो ह्यसम्बद्धवलयाकारक्षेत्रप्रकाशकावधिर्भवति तद्वान् सान्तरादिग्वध्युपलब्धक्षेत्रस्यान्तः स्थितोऽपि न सर्वतः पश्यति, अन्तरालादर्शनात, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं कर्तव्यं 'पश्यन्ति सर्वतः' इति ॥

अथवा पूर्वार्द्धमन्यथा व्याख्यायते—तत्र के नियतावधयः ? के वाऽनियतावधयः ? इति प्रश्ने नारक-देव-तीर्थकरा अवधेर-बाह्या भवन्तीति। कोऽर्थः—अवधिज्ञानवन्त एवामी भवन्ति, अवधिज्ञानं नियमेनैषां भवतीत्यर्थः । तत्रापि किममी तेनावधिना सर्वतः पश्यन्ति ? देशतो वा ? इति संशये सत्याह—"पासंति" इत्याद्युत्तरार्द्धम्, अस्य व्याख्या तथैवेति । तत्रैतत् स्यात्—"भवप्रत्ययो नारक-देवानाम्" [तत्त्वार्थ. अ. १ सू. २२] इत्यादिवचनात् तथा—"तिहिं नाणेहि समग्गा तित्थयरा जाव होंति गिहवासे ।" [आव० भाष्य गा. ११० पत्र १८७] इत्यादिवचनात पारभविकावधिसमन्वागमात् सिद्धमेव नारक-देव तीर्थकरगणां नियतावधित्वं तत् किमनेन ? 'पश्यन्ति सर्वत एव' इत्येतदस्तु, नैवम्, भवप्रत्ययादिवचसा सिद्धेऽमीषां नियतावधित्वे "ओहिस्सऽबाहिरा होंति" त्ति कालस्य नियमोऽयं विधीयते। इदमुक्तं भवति—भवप्रत्ययादिवचनात सिध्यति नियमेन नारकादीनामवधिमत्त्वम्, परं न ज्ञायते 'किमाभवक्षयममीषामवधिर्भवति ? आहोस्वित् कियन्तमपि कालं भूत्वाऽसौ प्रतिपतति ? इति, ततश्च "ओहिस्सऽबाहिरा होंति" इत्यनेन कालनियमः क्रियते, 'सर्वदा' सर्वकालममीषामवधिर्भवति, न त्वन्तरालेऽपि प्रतिपततीति । आह—यद्येवं तीर्थकृतां सर्वकाला-वस्थायित्वमवधेर्विरुध्यते, केवलोत्पत्तौ तदभावात्, न, तेषां केवलोत्पत्तावपि वस्तुतस्तत्परिच्छेदस्याप्यनष्टत्वात् सुतरां केवलज्ञानेन सम्पूर्णानन्तधर्मात्मकवस्तुपरिच्छित्तेः छद्मस्थकालस्य चाविवक्षितत्वाददोषः ॥ **इत्यवधिज्ञानं समाप्तम्** ॥

[पृष्ठ ३३]

अथ मनःपर्यवज्ञाने किञ्चिदुच्यते— पं. ७. **उत्पत्तिस्वामी**त्यादि. उत्पत्तेः स्वामी तस्य मार्गणा—अन्वेषणा 'कीदृक्षस्येदमुपजायते ?' इत्येवंरूपा तस्या द्वारं तेनेति विग्रहः । पं. १३. **उक्तं चे**त्यादि, अयमत्र सम्बन्धः—राज्ञोपनीतं

१-२ **अब्भंतरलद्धी** इति पाठः आव० चूर्णौ ॥ ३ **बाहिरलंभो** आव० चूर्णौ ॥

यत् सिंहासनं तत्रोपविष्टो भगवत्पादपीठे वोपविष्टो ज्येष्ठोऽन्यो वा गणधरो द्वितीयपौरुष्यां सङ्ख्ययाऽतीता भवाः—असङ्ख्येयास्तानपि कथयति, असङ्ख्येयभवेषु यदभवद् यद् भविष्यति तत् सर्वं कथयति। 'यद् वा' यद् वस्तुजातं परः पृच्छेद् अभिलाप्यपदार्थगोचरं तत् सर्वं कथयति। किं बहुना ? 'न च' नैव "णं"मिति वाक्यालङ्कारे "अणाइसेसि" त्ति अनतिशयी अवध्याद्यतिशयरहित इत्यर्थः विजानाति 'यथैष गणधरश्छद्मस्थः' इति, अशेषप्रश्नोत्तरप्रदानसमर्थत्वात् तस्येति भाव इति गाथार्थः ॥ पं. १६. अत्रार्थे उत्तरत्रयमदायि । पं. २६. **त्रीणि योजनशतानी**त्यादि, हिमवांश्च शिखरी च हिमवच्छिखरिणौ तयोः पादा इव पादाः—अग्रभागास्तेषु प्रतिष्ठिताः—व्यवस्थिता एकोरुकादयोऽन्तरद्वीपाः । **क्षेत्रसमासा**दिग्रन्थादेतत्स्वरूपं विज्ञेयम् । पं. २९. **एकेषां मते पुद्गलद्रव्योपचयाद्** यकाऽऽहारादिविषया शक्तिरुत्पद्यते सा पर्याप्तिरुच्यते । पं. ३०. सम्प्रति च—'**तत्रे**त्यादिना **इत्येके**' पर्यन्तेनापरमतेन पर्याप्तिस्वरूपमुक्तम् ।

[पृष्ठ ३४]

पं. ५. **आसां युगपदि**ति ।

वेउव्वा-ऽऽहाराणं सरीर अन्तो उ (? अंतमुहु), पण इगिगसमया । पिहु पण अन्तमुहुत्ता, उरले आहार सामइया ॥१॥

पं. ११. ये मिथ्यात्वात् सम्यक्त्वस्य प्रतिपत्त्यभिमुखाः, न तु सम्यक्त्वस्य परित्यागाभिमुखाः, ते जीवाः **सम्यग्मिथ्यादृष्टयो**ऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं भवन्ति । पं. १२. किमित्येवं तल्लक्षणं व्याख्यायते ? इत्याह—**यत उक्त**मिति ।

मिच्छत्ता संकंती अविरुद्धा होइ सम्म-मीसेसु । मीसाओ वा दोसु सम्मा मिच्छं न उण मीसं ॥ १ ॥

इति गाथा परिपूर्णा । यतः सम्यक्त्वपुञ्जाद् मिश्रपुञ्जगमनं निषिद्धमनयेति भावः । संयतस्य सर्वप्रमादरहितस्य विविधर्द्धिमत इदमुत्पद्यते, शेषश्च सम्यग्दृष्टिपर्याप्तकादिविशेषणकलापः सामर्थ्यलब्धोऽप्युच्यते प्रपञ्चितज्ञशिष्यावबोधार्थम् । पं. २६. **अस्यां व्युत्पत्ता**विति, ऋज्वी चासौ मतिश्चेति कर्मधारयरूपायाम्, यद्वा ऋज्वी—साक्षात्कृतेषु मनोद्रव्येषु अनुमितेषु चार्थेष्वल्पतरविशेषविषयतया मुग्धा मतिः—विषयपरिच्छित्तिर्यस्य प्रमातुः स ऋजुमतिः । विपुलमतिरपि प्रमातैव ।

[पृष्ठ ३५]

पं. १२. **द्रव्यत** इत्यादि । अनन्तप्रादेशिकान् मनस्त्वपरिणतानन्तस्कन्धसमूहमयमनोद्रव्यरूपान् स्कन्धान् जानाति । **क्षेत्रत**स्तु ऋजुमतेरर्द्धतृतीयाङ्गुलहीनो मनुष्यलोको विषयः । स एव विपुलमतेः सम्पूर्णो निर्मलतरः । **कालत**स्त्वेतावति क्षेत्रे भूतभाविनोः पल्योपमासंख्येयभागयोरतीता-ऽनागतानि संज्ञिमनोरूपाणि मूर्त्तद्रव्याणि विषयः । **भावत**स्तु तत्पर्याया रूपादयश्चिन्तनानुगुणा परिणतिरूपा ऋजुमतेर्विषयः । चिन्तनीयं तु मूर्त्तममूर्त्तं वा त्रिकालगोचरमपि बाह्यमर्थमनुमानादेवेति, 'यत एतत्परिणतीन्येतानि मनोद्रव्याणीति एतदन्यथानुपपत्तेः अमुकोऽनेनार्थश्चिन्तितः' इति लेखाक्षरदर्शनात् तदुक्तार्थमिवाप्रत्यक्षं मनोद्रव्यदर्शनाच्चिन्त्यमर्थमनुमिमीते । विपुलमतेश्चायं विषयः स्फुटतरः बहुतरविशेषाध्यासितत्वेन विमलतरोऽवसेयः । तेन मनोगतद्रव्यस्कन्धान् तद्गतचिन्तानुगुणान् सर्वपर्यायराश्यनन्तभागरूपाननन्तान् रूपादीन् पर्यायान् चिन्तनीयबाह्यघटादिवस्तुगतांश्च जानाति सविशेषान्, पल्योपमासङ्ख्येयभागरूपे काले ये तेषां मनस्त्वपरिणमितमनोद्रव्याणां भूता अनागताश्च चिन्तनानुगुणाः पर्यायास्तान् सविशेषान्

---

१ वैक्रिया-ऽऽहारकयोस्तु शरीरपर्याप्तिः अन्तर्मुहूर्त्तम्, पञ्च पर्याप्तयः एकैकसामयिक्यः । औदारिके पञ्च पर्याप्तयः पृथग् आन्तर्मौहूर्त्तिक्यः, आहारपर्याप्तिः एकसामयिकी ॥ इति भावार्थगर्भा छाया । अत्रार्थे एषाऽपि ग्रन्थान्तर्गता गाथाऽवधेया—वेउव्विय पज्जत्ती सरीर अंतमुहु, सेस इगसमया । आहारे इगसमया सेसा, अंतमुहु ओराले ॥ १ ॥ इति । **विचारसप्ततिकायां** तु मतभेदेन पर्याप्तिस्वरूपं दृश्यते—"उरल-विउव्वा-ऽऽहारे छण्ह वि पज्जत्ति जुगवमारंभो । तिण्ह वि पढमिगसमए, बीआ पुण अंतमोहुत्ती ॥ ४४ ॥ पिहु पिहु असंखसमइयअंतमुहुत्ता उराल चउरो वि । पिहु पिहु समया चउरो वि हुंति वेउव्विया-ऽऽहारे ॥ ४५ ॥ छण्ह वि सममारंभे पढमा समए, बि अंतमोहुत्ती । ति तुरिअ समए समए सुरेसु, पण-छट्ठ इगसमए ॥ ४६ ॥" इति ॥ २ इयं गाथा **कल्पलघुभाष्य** ११४ गाथासमा ॥

जानाति । पं. १५. "बज्झे" त्ति बाह्यान् चिन्तनीयघटादीन् प्रागुपदर्शितानुमानाज्जानाति, न तु साक्षादित्यर्थः । अनुमानादेव चिन्तनीयममूर्त्तमप्याकाशादिकं वस्तु अवगच्छति, छद्मस्थश्चामूर्त्तं साक्षान्न पश्यति किलेति भावः । पं. १८. अथ मनःपर्यायदर्शनं भिन्नं नोक्तं कथं 'पश्यति' इत्युच्यते ? सत्यम्, अचक्षुर्दर्शनाख्यं मनोरूपनोइन्द्रियं दर्शनविषयमस्य द्रष्टव्यम्, तेनास्य दर्शनसम्भवः । अयमर्थः—यस्य घटादिकमर्थं चिन्तयतः साक्षादेव मनःपर्यायज्ञानी मनोद्रव्याणि तावज्जानाति, तान्येव च मानसेनाचक्षुर्दर्शनेन विकल्पयति, अतो मानसाचक्षुर्दर्शनापेक्षया पश्यतीत्युच्यते । ततश्चैकस्यैव मनःपर्यायज्ञानिनः प्रमातुर्मनःपर्यायज्ञानादनन्तरमेव मानस[म]चक्षुर्दर्शनमुत्पद्यते इत्यसावेक एव प्रमाता मनःपर्यायज्ञानेन मनोद्रव्याणि जानाति, तान्येव चाचक्षुर्दर्शनेन मानसेन पश्यतीत्यभिधीयते । पं. १९. एतदेवाऽऽह—**एकसमयमात्रपेक्षये**ति, ज्ञानानन्तरभावित्वाच्च मानसाचक्षुर्दर्शनस्येति कृत्वा सूत्रे पश्यतीत्युपन्यस्तम् । **ओघतो** वेति, विशेषोपयोगापेक्षया जानाति, सामान्यार्थोपयोगापेक्षया पश्यतीत्युक्तम् ।

पं. २१. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदात् त्रिधा मनःपर्यायज्ञानिनः क्षेत्रविषयो द्रष्टव्यः । तत्र ऋजुमतेरधोविषयोऽमुष्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरिमाधस्त्यान् क्षुल्लकप्रतरान् यावन्मनोगतान् भावान् जानाति, ऊर्ध्वं यावज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितलम्, तिर्यक् च मनुष्यलोकान्तम् । सोऽपि ऋजुमतेरर्द्धतृतीयाङ्गुलहीनः, इतरस्य सम्पूर्णः । शेषद्रव्यादित्रयं कथितं सुगमं चेति समुदायार्थः । वैशाखस्थानस्थं प्रसारितपादं कटिस्थकरयुग्मं पुरुषमिव लोकं व्यवस्थाप्य सर्वमिदं भावनीयमिति । पं. २३. प्राकृतचूर्ण्यक्षराणि च व्याख्येयानि एतदनुसारतः । रुचकाभिधानात् तिर्यग्लोकमध्याद् अधो यावन्नव योजनशतानि रुचकादेव चोर्ध्वं नव योजनशतानि यावद् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलस्तावदेष समुदितोऽष्टादशशतयोजनमानस्तिर्यग्लोक इति । पं. २८. **संवट्टो कायस्सो** त्ति संवर्त्तः—सङ्कोचनम् ।

[पृष्ठ ३६]

पं. ३. **तिरियलोयमज्झाउ** त्ति **रुचका**भिधानात् तिर्यग्लोकमध्याद् अधो यावन्नव योजनशतानि तावदमुष्या रत्नप्रभाया उपरिमाः क्षुल्लकप्रतराः, क्षुल्लकत्वं च तेषामधोलोकप्रतरापेक्षया । तेभ्योऽपि येऽधस्तादधोलोकग्रामान् यावत् तेऽधस्तनाः क्षुल्लकप्रतराः । पं. ५. **अहव** त्ति रयणप्पहपुढवीए इति न योज्यम् । पं. ६. अत्र पक्षे **अण्णे** इत्यादि । पं. ७. **सव्वतिरियलोगवत्तिणो** त्ति अष्टादशशतयोजनवर्तिनः । पं. ८. **ताण चेव** त्ति नवयोजनशतमध्यवर्त्तिनाम् । **इमं च** त्ति अधोलौकिकग्रामेषु मनःपर्यवज्ञानबाधात्वतः, यतस्तिर्यग्लोकस्थो मनःपर्यायज्ञानी पश्यतीत्यत्र मते आपन्नम् । अन्यच्च—

अहलोइयगामेसुं तित्थयरा केवली य विज्जंति । जाण विजयाण मज्झे मेरुस्स य पच्छिमदिसाए ॥ १ ॥

पं. १३. अपान्तरालगतावप्युत्पत्तिस्थानमप्राप्नुवन्तोऽपि सञ्ज्ञिनोऽभिधीयन्ते, **तदायुष्के**ति आगामिभवायुष्कोदयवशात् ।

पं. १४. **तेऽपि चे**ति इन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तत्वभावात् पञ्चेन्द्रियव्यपदेशं लभन्ते, परं मनःपर्याप्त्या पर्याप्ता एव पञ्चेन्द्रिया ग्राह्याः । पं. १६. **हेतुवादोपदेशेने**ति, हेतुः—निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्, तस्य वदनं—वादस्तद्विषय उपदेशः—प्ररूपणं हेतुवादोपदेशः, तेन विकलेन्द्रियाः—द्वीन्द्रियादयः सचेष्टाकाः सञ्ज्ञिनः, पृथिव्यादय एव निश्चेष्टा असञ्ज्ञिनः । **हेतुवादश्चायम्**—सञ्ज्ञिनो द्वीन्द्रियादयः, हेयोपादेयेषु निवृत्ति-प्रवृत्तेः, देवदत्तादिवत्, तथा च तापादिसन्तप्ताश्छायासमाश्रयणादि कुर्वन्तो दृश्यन्ते।

पं. १८. विपुलमतिर्ऋजुमतेः सकाशात् जानाति पश्यति क्षेत्रमायाम-विष्कम्भावाश्रित्याभ्यधिकतरकम्, बाहल्यमाश्रित्य विपुलतरकम्, 'विशुद्धतरं' निर्मलतरं 'वितिमिरतरकं' तिमिरकल्पतदावरणस्य विशिष्टतरक्षयोपशमसद्भावात् ।

पं. २१. **विशुद्धतर**मित्यत्र दृष्टान्तपुरःसरं विशुद्धतरत्वं भावयति **यथा चन्द्रे**त्यादिना—कारणविशेषात् कार्यविशेषः किल भवन्नुपलभ्यते, यथा चन्द्रकान्तादिविमलप्रकाशकद्रव्यविशेषाद् विमलप्रकाशयुक्तो द्रष्टा विमलं पश्यति, स एव चन्द्रकान्तादि-

विमलतरप्रकाशकद्रव्यविशेषाद् विमलप्रकाशयुक्तद्रष्टुः सकाशाद् विमलतरं पश्यति, एवं प्रकृतेऽपि तपश्चरण-विनय-ध्यानादि यः कारणभेदः ततस्तद्वशाद् विष्कम्भितोदयं यन्मनःपर्यायज्ञानस्याऽऽवरणम्—आवारकं कर्म तस्य मन्द-मन्दतरविशेषभावो भवति। यस्य तपश्चरणाद्यल्पं तस्य मन्दस्तदावरणविष्कम्भितोदयविशेषः, यस्याल्पतरं तस्य सोऽपि मन्दतरः, यस्य तपश्चरणादिभेदः प्रकृष्टः तस्य विष्कम्भितोदयविशेषोऽपि विमलः, यस्य तपश्चरणादि प्रकृष्टतरं तस्य तदावरणविष्कम्भितोदयत्वमपि विशिष्टतर-मित्यक्षरगमनिका। पं. २३. **उपशान्तं** नाम विष्कम्भितोदयं यदावरणं तस्य विशेषादपि। **तदावरणेति**, तिमिरकल्पं यत् तदावरणं तस्य क्षयेण सह उपशमः—उदीर्णानां कर्मणां क्षयेण वेदनकृतः अनुदीर्णानां चोपशमेन विष्कम्भितोदयत्वेन क्षयोपशमस्तस्य विशेषाद् 'वितिमिरतरं' आवरणतिमिररहितम्। पं. २५. **अथवेति** प्राग्बद्धं यत् तदावरणं कर्म तस्य क्षयोपशमः प्रागुक्तस्तस्य प्राधान्याद् विशुद्धतरम्। बध्यमानावरणस्य विशेषस्तारतम्येन यत्र तद् वितिमिरतरम्। पं. २६. **अन्ये तु** 'तदावरणस्य बध्यमानाभावेन वितिमिरं तदुच्यते' इत्याहुः। पं. २७. अथ '**वितिमिरादिविशेषणं क्षेत्रं** जानाति पश्यति' इति कथमुच्यते? क्षेत्रं ह्याकाशम् तस्य चामूर्त्तत्वात् कथं तद्विषये छद्मस्थस्य पश्यत्तासम्भवः? इत्याशङ्क्याह— **तात्स्थ्यादिति**, क्षेत्रस्थं द्रव्यमपि क्षेत्रमुच्यते। **समर्थितं मनःपर्यायज्ञानम्**॥

[पृष्ठ ३७]

केवलज्ञानमधुना। तत्र— पं. १६. **कम्मे सिप्पे य०** गाहा। नाम-स्थापना-द्रव्यसिद्धव्युदासेन शेषाः कर्मसिद्धादयश्चतुर्दशामी सिद्धभेदाः। तत्र कर्मणि सिद्धः **कर्मसिद्धः**, कर्मणि निष्ठां गत इत्यर्थः। एवं शिल्पसिद्धादिष्वपि वाच्यम्। नवरं कर्म-शिल्पयोर्विशेषोऽयम्—आचार्योपदेशाद् यद् न जातं तदनाचार्योपदेशजं सातिशयमनन्यसाधारणं **कर्मो**च्यते, यदाचार्योपदेशजं ग्रन्थनिबन्धाद्वा उपजायते तत् सातिशयं कर्मापि **शिल्पमुच्यते**। अयं वाऽनयोर्विशेषः—यत् किल पीठफलक-मञ्चादिनिर्मापणं तस्मिन्नेव क्षणे प्रारब्धं तदैव निष्पाद्यतेऽकालहीनं तत् कादाचित्कं **शिल्पम्**, न पुनः प्रासादादिवन्नित्यं प्रतिदिनं यत् क्रियते, प्रासादादि-निर्मापणादिकं तु बहुदिनसाध्यत्वादाचार्योपदेशजत्वात् सातिशयं नित्यव्यापारत्वात् शिल्पमपि **कर्मो**च्यते। अत एव बुद्धिप्रस्तावे वक्ष्यति—"कादाचित्कं वा शिल्पम्, नित्यव्यापारः कर्म" [पत्र ४७ पंक्ति २६] इति। कर्मसिद्धादिदृष्टान्तास्त्**वावश्यकाद्** ज्ञेयाः। स्त्रीदेवताधिष्ठिता विद्या ससाधना च। पुरुषदेवताधिष्ठितो मन्त्रोऽसाधनश्च। योगोऽदृश्यीकरण-पादप्रलेपादिगोचरः। तत्र योगसिद्धः **पादलिप्ताचार्यवत्**, आगमसिद्धो **गौतमवत्**, अर्थसिद्धो **मम्मण**वणिग्वत्, यात्रासिद्धो **हनूमानवत्**, अभिप्रायः—बुद्धिः तत्सिद्धः **चाणक्या-ऽभयकुमारादिवत्**, तपःसिद्धो **दृढप्रहारिवत्**, कर्मक्षयसिद्धो **निरञ्जन-ऋषभादिवत्**।

पं. १९. **सितं बद्धमिति**, सेतनि—बध्नाति जीवमिति सितम् नाम्युपधत्वात् [कातन्त्र ४-२-५१] के सितम्, "षिञ् बन्धने वा" भावे क्ते सितमिति। पं. २८. **सह योगेनेति**—जीवव्यापारेण वर्त्तन्ते सयोगाः, योगा मनोवाक्काया एव, तेऽस्य सन्तीति **सयोगी**।

[पृष्ठ ३८]

पं. ५. **तत्प्रथमतयेति**, यो येन भावेन पूर्वं नासीद् इदानीं च जातः स तेन भावेन तत्प्रथम उच्यते, तस्याप्राप्तपूर्वत्वात्, प्राप्तस्य पुनर्ध्वंसाभावात्। पं. ६. **अन्यथा प्रतिपाद्यत** इति, द्वैविध्यमिति शेषः॥ पं. २७. **अनन्तरभवगतोपाधिभेदेनेति**, अनन्तरभवगतश्चासावुपाधिभेदश्च स तथा तेन। उपाधिः—विशेषणम्।

[पृष्ठ ३९]

पं. १. अचिन्त्यशक्तिसमन्वितं च तद् अविसंवादि च तद् उडुपकल्पं च—नौकल्पं तत् तथेति समासः।

पं. ४. **तीर्थान्तरसिद्धा** नाम ये **सुविधि**प्रभृतीनामष्टानां **शान्तिनाथा**न्तानां जिनानामन्तरेषु जातिस्मरणादिनाऽवाप्तज्ञानादिसन्मार्गाः सन्तः सिद्धाः । तीर्थान्तरकालस्य च मानमिदम्—

चउभाग चउब्भागो तिन्नि चउब्भाग पलियमेग च । चउभागं चउभागो चउत्थभागो चउब्भागो ॥ १ ॥

[प्रवचन० गा. ४३१] त्ति ।

पं. ७. स्वयं—बाह्यनिमित्तमन्तरेण जातिस्मरणादिना बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते **स्वयम्बुद्धसिद्धाः** । प्रत्येकम्—अन्यान्यं बाह्यं—वृषभादि कारणं दृष्ट्वा बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते **प्रत्येकबुद्धसिद्धाः** । पं. ११. **उपधिः** पुनः स्वयम्बुद्धानां चोलपट्ट-मात्रकवर्जः पात्रादिर्द्वादशविधः । प्रत्येकबुद्धानां पुनर्जघन्यो रजोहरण-मुखवस्त्रिकारूपो द्विविध उपधिः, उत्कृष्टतश्चोलपट्ट-मात्रक-कल्पत्रिकवर्जो नवविधः । पं. १२. स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं स्याद्वा न वा । प्रत्येकबुद्धानां पुनस्तन्नियमतो भवत्येव, जघन्यत एकादशाङ्गानि, उत्कृष्टतो भिन्नदशपूर्वाणि । **लिङ्गप्रतिपत्तिः** स्वयम्बुद्धानां यदि पूर्वाधीतं श्रुतं नास्ति ततो नियमाद् गुरुसमीपे भवति, अथ श्रुतं समस्ति ततो देवता लिङ्ग प्रयच्छति गुरुसमीपे वा प्रतिपद्यन्ते । यदि चैकाकिविहारयोग्यता इच्छा च समस्ति तत एकाकिन एव विचरन्ति, अन्यथा गच्छ एवाऽऽसते । प्रत्येकबुद्धानां पुनर्लिङ्गं देवतैव प्रयच्छति, लिङ्गवर्जिता वा भवन्ति । यदुक्तम्—"रूप्पं पत्तेयबुद्धा" [आव० नि० गा० ११५१] इति । अत्र सङ्ग्रहगाथा यथा—

सुरलिंगे पुव्वसुए अनियय-नियया सबुद्ध-पत्तेया । अनिमित्तेयरबोही, बारस नव उवहिणो हुंति ॥१॥ [ ]

पं. १६. तीर्थकरीसिद्धाः स्तोकाः १ तीर्थकरीतीर्थे 'नोतीर्थसिद्धाः' तीर्थान्तरे सिद्धा ये प्रत्येकबुद्धसिद्धा इत्यर्थः ते सङ्ख्यातगुणाः २ तीर्थकरीतीर्थे 'नोतीर्थकरीसिद्धाः' सामान्यकेवलिस्त्रियः ताः सङ्ख्येयगुणाः ३ तीर्थकरीतीर्थे 'नोतीर्थकरसिद्धाः' सामान्यकेवलिपुरुषास्ताभ्यः सङ्ख्येयगुणाः ४ । पं. १८. यथा तीर्थकराः स्त्रीलिंगे भवन्त्येवं नपुंसकलिंगेऽपि किं ते स्युः ? इत्याशंक्याऽऽह—**न तु नपुंसकलिङ्गाः** इति, तीर्थकृतः स्युरिति वाक्यशेषः । प्रत्येकबुद्धा अपि स्त्री-नपुंसकलिङ्गे न भवन्ति, किन्तु पुंस्येव । तीर्थकर-प्रत्येकबुद्धवर्जाः केचन नपुंसकलिङ्गसिद्धा भवन्ति । रजोहरणादिलिङ्गधारिणो ये सिद्धास्ते स्वलिङ्गसिद्धाः । परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धा अन्यलिङ्गसिद्धाः । नवरं यदाऽन्यलिङ्गिनामपि भावतः सम्यक्त्वादिप्रतिपन्नानां केवलज्ञानमुत्पद्यते तदैव च कालं कुर्वन्ति तदेदम् । अन्यथा यदि दीर्घमायुरात्मनः पश्यन्ति तदा साधुलिङ्गमेव प्रतिपद्यन्ते । एवं **गृहलिङ्गसिद्धा** अपि **मरुदेवी**प्रभृतयः इत्थमेव वक्तव्याः । सिद्धकेवलिनोऽपि गुणाष्टकं भवति । यदुक्तम्—

सम्मत्त १ नाण २ दंसण ३ वीरिया ४ ऽबाहा ५ तहा य अवगाहो ६ ।
अगुरुलहू ७ सुहुमत्तं ८ अट्ठ गुणा हुंति सिद्धस्स ॥ १ ॥ [ ]

पं. २२. **बत्तीसा**० गाहा । एतद्विवरणम्—यदा एकसमयेन एकादय उत्कर्षेण द्वात्रिंशत् सिध्यन्ति तदा द्वितीयेऽपि समये द्वात्रिंशत्, एवं नैरन्तर्येण अष्टौ समयान् यावद् द्वात्रिंशत् सिध्यन्ति, तत ऊर्ध्वमवश्यमेवान्तरं भवतीति । यदा पुनस्त्रयस्त्रिंशत आरभ्य अष्टचत्वारिंशदन्ता एकसमयेन सिध्यन्ति तदा निरन्तरं सप्त समयान् सिध्यन्ति, ततोऽवश्यमेवान्तरं भवति । एवं यदा एकोनपञ्चाशतमादिं कृत्वा यावत् षष्टिरेकसमयेन सिध्यन्ति तदा निरन्तरं षट् समयान् सिध्यन्ति, तदुपरि अन्तरं समयादि भवति । एवमन्यत्रापि योज्यम् । यावद् अष्टशतमेकसमयेन यदा सिध्यति तदाऽवश्यमेव समयाद्यन्तरं भवतीति । **अन्ये तु** व्याचक्षते—अष्टौ समयान् यदा नैरन्तर्येण सिद्धिस्तदा प्रथमसमये जघन्येनैकः सिध्यति उत्कृष्टतो द्वात्रिंशदिति, द्वितीयसमये जघन्येनैक उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत्, तदेवं सर्वत्र जघन्येनैकः समयः उत्कृष्टतो गाथार्थोऽयं भावनीय इति ॥

[पृष्ठ ४०]

पं. १३. **क्रमोपयोगादा**विति, आदिशब्देन एकोपयोगमतस्य परिग्रहः ।

पं. २९. इहराऽऽई० गाहा । व्याख्या–ननु यद्येकस्मिन् समये केवलज्ञानोपयोगोऽन्यस्मिंस्तु समये केवलदर्शनोपयोग इष्यते तर्ह्येवं क्रमोपयोगत्वे केवलज्ञान-दर्शनयोः 'सनिधनत्वं' प्रतिसमयं सान्तत्वं प्राप्नोति, तथा च सति तयोः समयोक्तमपर्यवसितत्वं हीयते। अथवा यः कष्टशतानि कृत्वा ज्ञानावरणादिक्षयो विहितः सः 'मिथ्या' निरर्थकः 'जिनस्य' भगवतः प्राप्नोति, समयात् समयादूर्ध्वं केवलज्ञान-दर्शनोपयोगयोः पुनरप्यभावात्; न ह्यपनीतावरणौ द्वौ प्रदीपौ क्रमेण प्रकाश्यं प्रकाशयतः किन्तु युगपदेव। अथवा केवलज्ञान-दर्शनयोः 'इतरेतरावरणता' परस्परमावारकत्वं प्राप्नोति, कर्मरूपावरणाभावेऽपि अन्यतरसद्भावेऽन्यतराभावादिति। अथ इतरेतरावरणता नेष्यते तर्ह्यन्यतरोपयोगकालेऽन्यस्य निष्कारणमेवाऽऽवरणं स्यात्, तथा च सति "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा" [प्रमाणवार्त्तिक ३-३४] इत्यादि प्रसज्यत इति ॥ ४ ॥

[पृष्ठ ४१]

पं. ९. तथा एकतरस्मिन्–ज्ञाने दर्शने वा अनुपयुक्त एकतरानुपयुक्तः, तस्मिन् एकतरानुपयुक्ते केवलिनीष्यमाणे ज्ञानानुपयोगकाले तस्य केवलिनोऽसर्वज्ञत्वं प्राप्नोति, दर्शनानुपयोगकाले त्वसर्वदर्शित्वं प्रसजति, तच्चासर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वं च नेष्टं जैनानाम्, सर्वदैव केवलिनि सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्वाभ्युपगमादिति। सूरिराह–ननु छद्मस्थस्यापि दर्शन-ज्ञानयोरेकान्तरे उपयोगे सर्वमिदं दोषजालं समानमेव। अत्रापि हि शक्यते एवं वक्तुम्–ज्ञानानुपयोगे तस्याज्ञानित्वम्, दर्शनानुपयोगे पुनरदर्शनित्वम्, तथा मिथ्याऽऽवरणक्षयः इतरेतरावरणता वा निष्कारणावरणत्वं वेत्यादि 'बहुविधीकाः' बहुविधा दोषा इत्यर्थः ॥ ५ ॥
पं. १३. भण्णई'त्यादिगाथा विवृता ग्रन्थकृता किञ्चित्, सुगमा च ॥

[पृष्ठ ४२]

पं. ४. तदित्थं बुभुक्षिता जरद्गवीव बुशगृहं प्रविशन्ती निबिडयुक्तिलगुडादिघातैर्निवार्यमाणाऽपि परस्य दुराग्रहबुद्धिर्न निवर्तते, ततश्चक्षुषी निमील्य धृष्टतया पुनरप्याह—तुल्ले उभयावरणे० गाहा। द्विविधोपयोगभावे इष्यमाणे जिनस्य प्रथमतरं उद्भव –उत्पादः कस्य? ज्ञानस्य? दर्शनस्य वा? इति, आवरणक्षयस्य युगपद्भावात्, ततो जिनस्य द्विविधोपयोगाभावः प्राप्नोति इति प्रश्नः, युगपद्भावानिष्टौ एकोऽपि न प्राप्नोति ॥ १३ ॥

पं. १४. अथैवं सूरिः परं दुरभिनिवेशममुञ्चन्तमवलोक्य युगपदुपयोगद्वयपक्षं मूलत एवोन्मूलयितुं क्रमोपयोगसाधकं व्यक्तमेव सिद्धान्तोक्तमादर्शयन्नाह–

भणियं पि य पन्नत्ती-पन्नवणाईसु, जह जिणो समयं।
जं जाणइ न वि पासइ तं अणु-रयणप्पभाईणि ॥ १६ ॥

ननु 'प्रज्ञप्त्यां' भगवत्यां प्रज्ञापनायां च स्फुटं 'भणितमेव' उक्तमेव, यथा–'जिनः' केवली परमाणु-रत्नप्रभादीनि वस्तूनि "समयं जं जाणइ" त्ति यस्मिन् समये जानाति "न वि पासइ तं" ति तस्मिन् समये नैव पश्यति, किन्त्वन्यस्मिन् समये जानाति अन्यस्मिंस्तु पश्यति। इयमत्र भावना–इह भगवत्यां तावदष्टादशशतस्याष्टमोद्देशके स्फुटमेवोक्तम्, तद्यथा–"छउमत्थे णं भंते! मणुस्से परमाणुपोग्गलं किं जाणइ न पासइ? उदाहु न जाणइ न पासइ? गो०! अत्थेगइए जाणइ न पासइ, अत्थेगइए न जाणइ न पासइ, एवं जाव असंखेज्जपएसिए खंधे।" इह छद्मस्थो निरतिशयो गृह्यते। तत्र श्रुतज्ञानी उपयुक्तः श्रुतज्ञानेन परमाणुं जानाति न तु पश्यति, श्रुते दर्शनाभावात्। अपरस्तु न जानाति न पश्यति। "एवं आहोहिए वि" आधोवधिकः–न्यूनावधिकः। "परमाहोहिए णं भंते! मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ? जं समयं पासइ तं समयं

१ दर्शनसमये जेटि० ॥ २ ज्ञानसमये जेटि० ॥

जाणइ ? नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गो० ! सागारे से नाणे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चईत्यादि । केवली णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ ? जं समयं पासइ तं समयं जाणइ ? णो इणट्ठे० । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गो० ! सागारे से नाणे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ, से एएणऽट्ठेणं एवं वुच्चई" त्यादि [पत्र ७५५] । एवं प्रज्ञापनोक्तमपि द्रष्टव्यम् । तदेवं सिद्धान्ते स्फुटाक्षरैर्युगपदुपयोगे निषिद्धेऽपि किमिति सर्वानर्थमूलं तदभिमानमुत्सृज्य क्रमोपयोगो नेष्यते ? इति ॥ १६ ॥

[पृष्ठ ४३]

पं. १५. सूत्रक्रमोद्देशत इति, नन्द्यादिसूत्रे इत्थमेव तस्य निर्देशात् । शुद्धित इति, केवलस्य हि सर्वावरणक्षयसम्भवत्वेन सर्वोत्कृष्टत्वात् सर्वोपरिवर्तिनी विशुद्धिः । लाभत इति, लाभोऽपि केवलस्य शेषज्ञानानन्तरं पश्चादेव भवतीति मनःपर्यायज्ञानादनन्तरं केवलज्ञानमुपन्यस्तम्, अतस्तदर्थसूचकोऽयमथशब्दः । 'अथ' अनन्तरं केवलज्ञानमुच्यते । कथम्भूतम् ? इत्याह– सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि–जीवादीनि, तेषां परिणमनानि परिणामाः–प्रयोग-विस्रसोभयजन्या उत्पादादयः सर्वद्रव्यपरिणामाः, तेषां भावः–सत्ता स्वलक्षणं वा तस्य विविधं विशेषेण वा ज्ञपनं–प्रबोधनं विज्ञप्तिः, अथवा विविधं विशेषेण वा ज्ञानम्–अवबोधः परिच्छित्तिर्विज्ञप्तिः, तस्याः केवलज्ञानादभेदेऽपि विवक्षितभेदयोः कारणं–हेतुर्विज्ञप्तिकारणम्, सर्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावास्तित्वपरिच्छेदकमित्यर्थः । तच्चानन्तज्ञेयविषयत्वेनानन्तपर्यायत्वादनन्तम् । शश्वद्भावात् शाश्वतम्, सततोपयोगमित्यर्थः । तथा 'अप्रतिपाति' अव्ययम्, सदाऽवस्थायीत्यर्थः । समस्तावरणक्षयसम्भूतत्वाद 'एकविधं' भेदविमुक्तम् । 'केवलं' परिपूर्णम्, समस्तज्ञेयावगमात्, मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वाद् असहायं वा केवलम्, तच्च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानमिति गाथार्थः ॥

पं. ३०. केवलनाणे० गाहा । इह समुत्पन्नकेवलज्ञानस्तीर्थकरादिः 'अर्थान्' धर्मास्तिकायादीन् मूर्त्ता-ऽमूर्त्ता-ऽभिलप्या-ऽनभिलप्यान् केवलज्ञानेनैव 'ज्ञात्वा' अवबुध्य, न तु श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकत्वात् केवलिनश्चावरणस्य सर्वथा क्षीणत्वेन तत्क्षयोपशमाभावात्; नहि सर्वविशुद्धे पटे देशविशुद्धिः सम्भवति, तद्वदिहापीति भावः । तत्र किम् ? इत्याह–'तत्र' तेषामर्थानां मध्ये ये प्रज्ञापनायाः–प्ररूपणाया योग्याः 'तान्' अभिलप्यान् भाषते, नेतराननभिलप्यान् । प्रज्ञापनीयानपि न सर्वानेव भाषते, तेषामनन्तत्वात्, आयुषस्तु परिमितत्वात्, किं तर्हि ? योग्यानेव भाषते ग्रहीतृशक्त्यपेक्षया, यो हि यावतां योग्य इति, यत्र वाऽभिहिते शेषमनुक्तमपि विनेयोऽभ्यूहति । तदपि योग्यं भाषते, यथा ऋषभसेनादीनामुत्पादादिपदत्रयोपन्यासेनैव शेषगतिः । तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिर्भाष्यमाणस्तस्य भगवतः "वइजोग" त्ति वाग्योग एव भवति, न तु श्रुतम्, नामकर्मोदयजन्यत्वात् । तत्र नामकर्मेह भाषापर्याप्तिसामर्थ्यं शरीरनाम वा, तस्योदयजन्यत्वाद वाक्परिस्पन्दस्य, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात् । ज्ञानमप्यस्य केवलिनः क्षायिकत्वात् केवलमेव, न भावश्रुतम् । आह–ननु वाग्योगो वाक्परिस्पन्दो वाग्वीर्यमित्यनर्थान्तरम्, अयं च भवतु नामकर्मोदयजन्यः, भाष्यमाणस्तु पुद्गलात्मकः शब्दः किं भवतु ? इति चेत्, उच्यते–सोऽपि श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वाद् द्रव्यश्रुतमात्रं भवति, न तु भावश्रुतम् । तर्हि किं तद् भावश्रुतम् ? इत्याह–"सुयं हवइ सेसं" ति ज्ञानं यत् छद्मस्थानां गणधरादीनां श्रुतग्रन्थानुसारि ज्ञानं तदेव केवलिगतज्ञानापेक्षया 'शेषम्' अन्यद् भावश्रुतं भवति, क्षायोपशमिकोपयोगात्, न तु केवलिगतं ज्ञानम्, तस्य क्षायिकत्वादिति । अथवा "सुयं हवइ सेसं" इत्यन्यथा व्याख्यायते–तद् भण्यमानं शब्दमात्रं तत्काल एव श्रुतं न भवति, किं तर्हि ? शेषं कालमिति वाक्यशेषः । इदमुक्तं भवति–तत् केवलिनः शब्दमात्रम्, श्रोतॄणां श्रवणानन्तरलक्षणे शेषकाले श्रोतृगतज्ञानकारणत्वेनोपचारात् 'श्रुतं' द्रव्यश्रुतं भवति, न तु भणनक्रियाकाल इति । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते– स केवलिनः सम्बन्धी वाग्योगः श्रुतं भवति । कथम्भूतम् ? 'शेषं' गुणभूतमप्रधानम्, औपचारिकत्वादिति । अन्ये तु पठन्ति– "वइजोग सुयं हवइ तेसिं" ति, तत्र 'तेषां' भाषमाणानां सम्बन्धी वाग्योगः श्रोतृगतश्रुतकारणत्वात् श्रुतं भवति, द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । अथवाऽन्योऽर्थः–'तेषामिति' श्रोतॄणां तानाश्रित्येत्यर्थः, भाषकगतं वाग्योग एव श्रुतं वाग्योगश्रुतं भवति, भावश्रुतका-

रणत्वाद् द्रव्यश्रुतमेवेत्यर्थः । अथवा तानर्थान् भाषते केवली, वाग्योगश्चायं शब्दराशिरस्य भाषमाणस्य भवति, तेषां श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् श्रुतमसौ भवति । पदघटनाकृत एव विशेषः, अर्थः स एवेति गाथार्थः ॥

[पृष्ठ ४४]

पं. १४. **अनयोश्चे**त्यादि, 'मतिपूर्वकत्वात् श्रुतस्य विशिष्टमत्यंशरूपत्वाद्वा श्रुतात् प्रथमतो मतिज्ञानमेवोच्यते' इत्यादिकं प्रयोजनमुक्तम् [पत्र १९ पं. १८]। पं. २६. स्वामित्वादिभिर्विशेषाभावाद् मति-श्रुतयोरेकत्वैव प्राप्ता, न भेदः स्यात्, तथा च सति न परोक्षद्वैविध्यसिद्धिः ज्ञानपञ्चकसिद्धिर्वा, धर्मभेदे हि वस्तूनां भेदः स्यात्, धर्माभेदे तु घट-तत्स्वरूपयोरिवाभेद एव श्रेयानिति पराशयः। अत्राऽऽचार्यः प्रत्युत्तरयति **लक्षणभेदादि**त्यादिना, यद्यपि स्वामि-कालादिभिर्मति-श्रुतयोरेकत्वं तथापि लक्षण-कार्य-कारणभावादिभिर्नानात्वमस्त्येव, घटा-ऽऽकाश-धर्मा-ऽधर्मादीनामपि हि सत्त्व-प्रमेयत्वा-ऽर्थक्रियाकारित्वादिभिः साम्येऽपि लक्षणादिभेदाद् भेद एव । यदि पुनर्बहुभिर्धर्मैर्भेदे सत्यपि कियद्धर्मसाम्यमात्रादेवार्थानामेकत्वं प्रेर्येत तदा सर्वं विश्वमेकं स्यात् । किं हि नाम तद् वस्त्वस्ति यस्य वस्त्वन्तरैः सह कैश्चिद् धर्मैर्न साम्यमस्ति, तस्मात् स्वाम्यादिभिस्तुल्यत्वेऽपि लक्षणादिभिर्मति-श्रुतयोर्भेदः । ते च मति-श्रुतभेदनिबन्धना लक्षणादयः सम्पिण्ड्यैकगाथयोच्यन्ते । सा चेयम्—

लक्खणभेया हेउ-फलभावओ भेय-इंदियविभागा । वाग-ऽक्खर-मूएयरभेया भेओ मइ-सुयाणं ॥१॥ [विशेषा० गा० ९७]

'लक्षणभेदाद्' भिन्नलक्षणत्वान्मति-श्रुतयोर्भेदः । तथा मतिज्ञानं हेतुः श्रुतं तु तत्फलं—तत्कार्यमिति हेतु-फलभावात् तयोर्भेदः । तथा "भेय" त्ति विभागशब्दो अत्रापि युज्यते, ततश्च भेदानां विभागः—विशेषो भिन्नत्वं भेदविभागस्तस्मादपि मति-श्रुतयोर्भेदः। अवग्रहादिभेदादष्टाविंशत्यादिभेदं हि मतिज्ञानं वक्ष्यते, "अक्खर सण्णी सम्म"मित्यादिवक्ष्यमाणवचनाच्चतुर्दशादिभेदं च श्रुतज्ञानमिति भेदविभागात् तयोर्भेद इति भावः । "इंदियविभाग" त्ति तत्त्वतः श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, शेषेन्द्रियविषयमपि मतिज्ञानमित्येवं वक्ष्यमाणादिन्द्रियविभागाच्च तयोर्भेदः । "वागे"त्यादि, वल्कश्च अक्षरं च मूकं च वल्कादिप्रतिपक्षभूतानीतराणि च वल्का-ऽक्षर-मूकेतराणि तैर्योऽसौ भेदस्तस्मादपि मति-श्रुतयोर्भेद इत्यर्थः । तथाहि—

"अन्ने मन्नंति मई वागसमा, सुंबसरिसयं सुत्तं ।" [विशेषा० गा० १५४] इत्यादिना ग्रन्थेन कारणत्वाद् वल्कसदृशं मतिज्ञानम्, शुम्बसदृशं तु श्रुतज्ञानम्, कार्यत्वादित्यभिहितम् । तत्र वल्कः—पलाशादित्वग्रूपः, शुम्बं तु इतरशब्देनेहोपात्तम्, तज्जनिता दवरिकोच्यते । ततश्चायमभिप्रायः—यथा वलनादिसंस्कृतो विशिष्टावस्थाप्राप्तः सन् वल्को दवरिकेत्युच्यते, तथा परोपदेशार्हद्वचनसंस्कृतविशिष्टावस्थाप्राप्तं सद् मतिज्ञानं श्रुतमभिधीयत इत्येवं वल्केतरभेदान्मति-श्रुतयोर्भेदः । तथा—

"अन्ने अणक्खर-ऽक्खरविसेसओ मइ-सुयाइं भिंदन्ति ।
जं मइनाणमणक्खरमक्खरमियरं च सुयनाणं ॥१॥" [विशेषा० गा० १६२]

इत्यक्षरेतरभेदात् तयोर्भेदः । तथा—

"स-परप्पच्चायणओ भेओ मूएयराण वाऽभिहिओ ।
जं मूयं मइनाणं स-परप्पच्चायगं सुत्तं ॥१॥" [विशेषा० गा० १७१]

इति वचनान्मूकेतरभेदाद् मति-श्रुतयोर्भेद इति गाथार्थः ॥

[पृष्ठ ४५]

पं. १. तत्रानयोर्लक्षणभेदाद् भेदं तावत् सूत्रकारः प्राह **'अभिनिबुध्यते'** इत्यादिना—यद् ज्ञानं कर्तृ वस्तु कर्मतापन्नमभिनिबुध्यते—अवगच्छति तद् ज्ञानमाभिनिबोधिकम्, मतिज्ञानं तदित्यर्थः, यज्जीवः शृणोति तत् श्रुतम् इत्येवं सूत्रोक्तलक्षणभेदादनयोर्भेदः । यदि 'यदात्मा शृणोति तत् श्रुत'मिति श्रुतस्य लक्षणमुच्यते तर्हि शब्दमेव जीवः शृणोतीति सकल-

जगत्प्रतीतमेवेति स एव श्रुततां प्राप्नोति, नाऽऽत्मनः परिणामविशेषः, अत्रोच्यते, तत्त्वतो जीवः श्रुतम्, ज्ञान-ज्ञानिनोरभेदाद् जीवः शृणोतीति कृत्वा श्रुतकारणत्वात् श्रुतशब्दः स्यादुपचारतः। पं. २. प्रकारान्तरेणापि मति-श्रुतयोर्लक्षणभेदमाह **एतदुक्त**मित्यादिना—इन्द्रियाणि च मनश्च तानि निमित्तं यस्य तत् तथा, इन्द्रिय-मनोद्वारेण यद् विज्ञानमुपजायते तत् श्रुतम्, श्रुतज्ञानमित्यर्थः। इन्द्रिय-मनोनिमित्तं च मतिज्ञानमपि भवत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह—**श्रुतग्रन्थानुसारिणे**ति, श्रूयते इति श्रुतं—शब्द उच्यते, स च सङ्केतगोचरपरोपदेशरूपः श्रुतग्रन्थात्मकश्चेह गृह्यते, तदनुसारेण यदुपजायते तत् श्रुतज्ञानम्, नान्यत्। एतदुक्तं भवति—सङ्केतकालप्रवृत्तं श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनं वा घटादिशब्दमनुसृत्य वाच्य-वाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्तर्जल्पाकारमन्तःशब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादिनिमित्तं यद् ज्ञानमुदेति तत् श्रुतज्ञानमित्यर्थः। शेषमिन्द्रिय-मनोनिमित्तमश्रुतानुसारेण यदवग्रहादि ज्ञानं तन्मतिज्ञानमित्यर्थः। तदुक्तम्—

इंदिय-मणोनिमित्तं जं विन्नाणं सुयाणुसारेण। निययत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं, मई सेस ॥१॥ [विशेषा०गा० १००]

सुगमा। नवरमिन्द्रियादिनिमित्तं यद् ज्ञानमुदेति तत् श्रुतज्ञानम्। तच्च कथम्भूतम्? निजकार्थोक्तिसमर्थम्, अभिलाप्यवस्तुविषयमित्यर्थः, स्वरूपविशेषणमेतत्, शब्दानुसारिणो ज्ञानस्य निजकार्थोक्तिसामर्थ्याव्यभिचारात्। अत्राऽऽह कश्चित्—ननु यदि शब्दोल्लेखसहितं श्रुतज्ञानमिष्यते, शेषं तु मतिज्ञानम्, तदा वक्ष्यमाणस्वरूपोऽवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात्, न पुनरीहा-ऽपायादयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात्, मतिज्ञानभेदत्वेन चैते प्रसिद्धाः, मतिज्ञानभेदानां चेहा ऽपायादीनां साभिलापत्वेन श्रुतज्ञानप्राप्तेश्च स्यादित्युभयलक्षणसङ्कीर्णता, अत्रोच्यते—यद्यपीहादयः साभिलापास्तथापि न तेषां श्रुतरूपता, श्रुतानुसारिण एव साभिलापज्ञानस्य श्रुतत्वात्। अथावग्रहादयः श्रुतनिश्रिता एव सिद्धान्ते प्रोक्ताः, तत्र, पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेरेव ते समुपजायन्त इति श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते, न पुनर्व्यवहारकाले श्रुतानुसारित्वमेतेष्वस्ति, तदा हि अभ्यासपाटववशात् परोपदेशसङ्केतितशब्दानुसरणमन्तरेणैवाक्षरादिप्रवाचने ईहादिप्रवृत्त्यनुपलक्षणात् कथं श्रुतानुसारित्वं तत्र सङ्गच्छते? अमुकस्मिन् ग्रन्थे एतदित्थमभिहितमित्येवं श्रुतग्रन्थानुसरणं विनाऽपि पटुत्वभ्यासवशादनवरतं विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनाच्च। यत्र तु श्रुतानुसारित्व तत्रेहादिषु श्रुतरूपताऽस्माभिरपि न निषिध्यते, तस्मात् श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतत्वाभावादीहा-ऽपाय-धारणानां मतिज्ञानत्वमेव, न श्रुतज्ञानत्वम्। किञ्च—नेह मति-श्रुतयोः परमाणु-करिणोरिवाऽऽत्यन्तिको भेदः समन्वेषणीयः, यत प्रागिहैवोक्तम्—विशिष्टः कश्चिन्मतिविशेष एव श्रुतमिति वल्कसदृशं मतिज्ञानं तज्जनितदवरिकारूपं श्रुतज्ञानम्। न च वल्क-शुम्बयोः परमाणु-कुञ्जरवदात्यन्तिको भेदः, किन्तु कारण-कार्यभावकृत एव, स चेहाप्यस्ति, मतेः कारणत्वेन श्रुतस्य तु कार्यत्वेनाभिधास्यमानत्वात्। न च कारण-कार्ययोरैकान्तिको भेदः, कनक-कुण्डलादिषु मृत्पिण्ड-कुण्डादिषु च तथाऽदर्शनात्। तस्मादवग्रहापेक्षयाऽनभिलापत्वाद् ईहाद्यपेक्षया तु साभिलापत्वात् साभिलापा-ऽनभिलापं मतिज्ञानं अश्रुतानुसारि च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽननुसरणात्। श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव श्रुतानुसार्येव च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्यमनुसरणादिति स्थितम् ॥ पं. ५. इत्थं लक्षणभेदाद् भेदोऽभिहितः। सम्प्रति हेतु-फलभावादनयोर्भेदं दर्शयति **"मइपुव्वं सुयं, न मई सुयपुव्विया"** इत्यनेन—यदि ह्येकत्वं मति-श्रुतयोर्भवेत् तदा एवम्भूतो नियमेन पूर्व-पश्चाद्भावो घट-तत्स्वरूपयोरिव न स्यात्, अस्ति चायम्, ततो भेद इति भावः। पृ धातुः पालन-पूरणयोरर्थयोः पठ्यते, तस्य च पिपर्तीति पूर्वमिति निपात्यते। पूर्वशब्दश्चायमिह कारणपर्यायो द्रष्टव्यः, कार्यात पूर्वमेव कारणस्य भावात्, सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरित्यादौ तथादर्शनात्। ततश्च मतिपूर्वं श्रुतमिति कोऽर्थः? श्रुतज्ञानं कार्यं मतिस्तु तत्कारणम्, कार्य-कारणयोश्च मृत्पिण्ड-घटयोरिव कथञ्चिद् भेदः प्रतीत एव। पं. ६. किमिति पुनर्मतिः पूर्वं कारणमस्य श्रुतस्य? इत्याह—**तथा चेद**मित्यादि, अनुप्रेक्षादिकालेऽभ्यूह्याभ्यूह्य श्रुतपर्यायवर्धनेन मत्यैव श्रुतज्ञानं पूर्यते—पोष्यते, पुष्टिं नीयत इत्यर्थः, तथा मत्यैवान्यतस्तत् प्राप्यते—गृह्यतेऽन्यस्मै दीयते वा, न मतिमन्तरेणेत्यर्थः, तया गृहीतं सदेतत् परावर्तन-चिन्तनद्वारेण मत्यैव पाल्यते—स्थिरीक्रियते,

अन्यथा मत्यभावे तद् गृहीतमपि प्रणश्येदेवेत्यर्थः । श्रुतज्ञानस्यैते पूरण-प्रापण-पालनादयोऽर्था विशिष्टाभ्यूह-धारणादीनन्तरेण कर्तुं न शक्यन्ते, अभ्यूहादयश्च मतिज्ञानमेवेति सर्वथा श्रुतस्य मतिरेव कारणं श्रुतं तु कार्यं इति कारण-कार्यरूपत्वाद् मति-श्रुतयोर्भेदः । पं. १३. **भावश्रुतान्मतिर्नास्तीति**, भावश्रुतपूर्विका मतिर्न भवतीत्यर्थः, द्रव्यश्रुतप्रभवा तु भवतु, को दोषः ? ।

पं. १४. **यद्वेति**, भावश्रुतान्मतिर्नास्ति, कार्यतयैव निषिध्यते, न पुनः क्रमेणेति । क्रमशस्तु मतिर्नास्तीत्येवं न, किन्तु क्रमशो मतिरस्त्येव, क्रमेण जायमानां मतिं को निवारयति ? । तथाहि–मत्या श्रुतोपयोगो जन्यते, तदुपरमे तु निजकारणात् प्रवृत्ता पुनरपि मतिरवतिष्ठते, पुनस्तथैव श्रुतं तथैव च मतिरित्येवं क्रमेण भवन्ती मतिरिष्यत एव, यस्मात् श्रुतोपयोगात् श्रुतस्य मताववस्थितिर्भवति, श्रुतोपयोगोपरमे क्रमायातं मत्यवस्थानं न निवार्यते, अन्यथा आमरणान्तं केवलश्रुतमात्रोपयोगप्रसङ्गात् ।

पं. १६. अथ श्रुतस्य परो मतिपूर्वतां विघटयन्नाह—

नाणाऽण्णाणाणि य समकालाइं जओ मइ-सुयाइं ।
तो न सुयं मइपुव्वं मइनाणे वा सुयन्नाणं ॥ १ ॥

इह मति-श्रुते वक्ष्यमाणयुक्त्या द्विविधे–सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानस्वरूपे, मिथ्यादृष्टेस्त्वज्ञानस्वभावे । तत्र ज्ञाने अज्ञाने वैते प्रत्येकं समकालमेव भवतः, तत्क्षयोपशमलाभस्याऽऽगमे युगपदेव निर्देशात् । यतश्चैते ज्ञाने अज्ञाने च मति-श्रुते पृथक् पृथक् समकाले भवतः ततो न श्रुतं मतिपूर्वं युज्यते, नहि सममेवोत्पन्नयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव पूर्व-पश्चाद्भावः सङ्गच्छते । अथोत्सूत्रोऽप्यसदाग्रहवशात् स पूर्व-पश्चाद्भावो न त्यज्यते इत्याह "मइनाणे वा" इत्यादि । इदमुक्तं भवति–मतिज्ञाने समुत्पन्ने तत्समकालं च श्रुतज्ञानेऽनभ्युपगम्यमाने श्रुताज्ञानं जीवस्य प्रसज्यते, श्रुतज्ञानानुत्पादेऽपि तदनिवृत्तेः, न च ज्ञाना-ऽज्ञानयोः समकालमवस्थितिरागमे क्वचिदप्यनुमन्यते, विरोधात्, ज्ञानस्य सम्यग्दृष्टिसम्भवित्वात्, अज्ञानस्य तु मिथ्यादृष्टिभावित्वादिति गाथार्थः ॥ १ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह—

पं. १७. **इह लद्धिमइ-सुयाइं समकालाइं, न तूवओगो सिं ।**
मइपुव्वं सुयमिह पुण सुओवओगो मइप्पभवो ॥ २ ॥

ननु ध्यान्ध्यविजृम्भितमिदं परस्य, अभिप्रायापरिज्ञानात् । तथाहि–द्विविधे मति-श्रुते–तदावरणक्षयोपशमरूपलब्धितः उपयोगतश्च । तत्रेह लब्धितो ये मति-श्रुते ते एव समकालं भवतः, यस्त्वनयोरुपयोगः स युगपन्न भवत्येव, किन्तु केवलज्ञान-दर्शनयोरिव तथास्वाभाव्यात् क्रमेणैव प्रवर्त्तते । अत्र तर्हि लब्धिमङ्गीकृत्य मतिपूर्वता श्रुतस्योक्ता भविष्यतीति चेत्, नैवमित्याह–मतिपूर्वं श्रुतम्, इह तु श्रुतोपयोग एव मतिप्रभवोऽङ्गीक्रियते, न लब्धिरिति भावः । श्रुतोपयोगो हि विशिष्टमन्तर्जल्पाकारं श्रुतानुसारि ज्ञानमभिधीयते, तच्चावग्रहेहादीनन्तरेणाऽऽकस्मिकं न भवति, अवग्रहादयश्च मतिरेवेति तत्पूर्वता श्रुतस्य न विरुध्यत इति गाथार्थः ॥ २ ॥

तदेवं मतिपूर्वं श्रुतमिति समर्थितम् । परस्तु मतेरपि श्रुतपूर्वताऽऽपादनेनाविशेषमुद्भावयन्नाह—

सोऊण जा मई भे सा सुयपुव्व त्ति तेण न विसेसो ।
सा दव्वसुयप्पभवा भावसुयाओ मई नत्थि ॥ ३ ॥

परस्मात् शब्दं श्रुत्वा तद्विषया 'भे' भवतामपि या मतिरुत्पद्यते सा 'श्रुतपूर्वा' श्रुतकारणैव, शब्दस्य श्रुतत्वेन प्रागुक्तत्वात्, तस्याश्च मतेः शब्दप्रभवत्वेन भवतामपि सिद्धत्वात् । ततश्च "न विसेसो" त्ति अन्योन्यं पूर्वभावितायां मति-श्रुतयोर्न विशेष इत्यर्थः, तथा च सति "न मई सुयपुव्विय" त्ति यदुक्तं प्राक् तदयुक्तं प्राप्नोतीति भावः । अत्रोत्तरमाह–परस्माच्छब्दमाकर्ण्य या मति-

१ श्रुताज्ञान जेटि० ॥ २ श्रुत पूर्व यस्याः जेटि० ॥

रुत्पद्यते सा हन्त ! शब्दस्य द्रव्यश्रुतमात्रत्वाद् द्रव्यश्रुतप्रभवा, न भावश्रुतकारणा, एतत्तु न केनापि वार्यते, किन्त्वेतदेव वयं ब्रूमः, यदुत–भावश्रुतान्मतिर्नास्ति, भावश्रुतपूर्विका मतिर्न भवतीत्यर्थः, द्रव्यश्रुतप्रभवा तु भवतु, को दोषः ? इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

ननु भावश्रुतादूर्ध्वं मतिः किं सर्वथा न भवति ? इत्याह —

पं. १९. **कज्जतया, न उ कमसो, कमेण वा को मइं निवारेइ ? ।**
जं तत्थावत्थाणं चुतस्स सुत्तोवओगाओ ॥ ४ ॥

भावश्रुतान्मतिः कार्यतयैव नास्तीत्यनन्तरोक्तगाथावयवेन सम्बन्धः । "न उ कमसो" त्ति क्रमशस्तु मतिर्नास्तीत्येवं न, किं तर्हि ?, क्रमशः साऽस्तीत्येतत् सर्वोऽपि मन्यते, अन्यथा आमरणावधि श्रुतमात्रोपयोगप्रसङ्गात् । यदि क्रमशः साऽस्ति तर्हि क्रमेण भवन्त्यास्तस्या भवन्तः किं कुर्वन्ति ? इत्याह —क्रमेणेत्यादि, वाशब्दः पातनार्थः, सा च कृतैव, क्रमेण भवन्तीं मतिं को निवारयति ? । मत्या श्रुतोपयोगो जन्यते, तदुपरमे तु निजकारणकलापात् सदैव प्रवृत्ता पुनरपि मतिरवतिष्ठते, पुनस्तथैव श्रुतम् तथैव च मतिरित्येवं क्रमेण भवन्त्या मतेर्निषेधका वयं न भवाम इत्यर्थः । किम् ? इत्याह–'यद्' यस्मात् कारणात् 'तत्र' तस्यां मतौ 'अवस्थानं' स्थितिर्भवति श्रुतोपयोगात् च्युतस्य, ततः क्रमेण मतिं न निषेधयामः । इदमुक्तं भवति—यथा सामान्यभूतेन सुवर्णेन स्वविशेषरूपाः कङ्कणा-ऽङ्गुलीयकादयो जन्यन्ते अतस्ते तत्कार्यव्यपदेशं लभन्त एव, सुवर्णं त्वतज्जन्यत्वात् तत्कार्यतया न व्यवह्रियते, तस्य कारणान्तरेभ्यः काञ्चनोपलादिभ्यः सिद्धत्वात् । कङ्कणादिविशेषोपरमे तु सुवर्णावस्थानं क्रमेण न निवार्यते, एवं मत्याऽपि सामान्यभूतया स्वविशेषरूपः श्रुतोपयोगो जन्यतेऽतस्तत्कार्यं स उच्यते, मतिस्त्वतज्जन्यत्वात् तत्कार्यतया न व्यपदिश्यते, तस्या हेत्वन्तरात् तदावरणक्षयोपशमात् सदा सिद्धत्वात् स्वविशेषभूतश्रुतोपयोगोपरमे तु क्रमायातं मत्यवस्थानं न निवार्यते, आमरणान्तं केवलश्रुतोपयोगप्रसङ्गादिति गाथार्थः ॥ ४ ॥

पं. २१. लक्षणभेदाद् हेतु-फलभावाच्च भेदोऽनयोरभिहितः । सम्प्रति भेदविभागात् तमाह–इतश्चेत्यादि,

पंचहिं वि इंदिएहिं मणसा अत्थोग्गहो मुणेयव्वो । चक्खिदिय-मणरहियं वंजणमीहाइयं छद्धा ॥१॥ [जीवस०गा० ६२]

इत्यष्टाविंशतिविधत्वम् ।

पं. २३. **सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं, सेसयं तु मइनाणं ।**
मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ १ ॥

इन्द्रः–जीवः, तस्येदमिन्द्रियम् । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्, तच्च तदिन्द्रियं चेति श्रोत्रेन्द्रियम्, उपलम्भनमुपलब्धिः– ज्ञानम्, श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति तृतीयासमासः, श्रोत्रेन्द्रियस्य वा उपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति षष्ठीसमासः, श्रोत्रेन्द्रियद्वारकं ज्ञानमित्यर्थः, श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्येति बहुव्रीहिणाऽन्यपदार्थे शब्दोऽप्यधिक्रियते, ततश्चाऽऽद्यसमासद्वये श्रोत्रेन्द्रियद्वारकमभिलापप्लावितोपलब्धिलक्षणं भावश्रुतमुक्तं द्रष्टव्यम्, बहुव्रीहिणा तु तस्यां भावश्रुतोपलब्धावनुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतम्, तदुपयुक्तस्य तु वदत उभयश्रुतमभिहितं वेदितव्यम् । इह च व्यवच्छेदफलत्वात् सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति, इष्टतश्चावधारणविधिः प्रवर्तते, ततः 'चैत्रो धनुर्द्धर एव' इत्यादिवदिहायोगव्यवच्छेदेनावधारणं द्रष्टव्यम्, तद्यथा—श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव, न तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेति । श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिस्तु श्रुतं मतिर्वा भवति, यथा धनुर्द्धरश्चैत्रोऽन्यो वेति, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेरवग्रहेहादिरूपाया मतित्वात् श्रुतानुसारिण्यास्तु श्रुतत्वादिति । यदि पुनः 'श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेव' इत्यवधार्येत तदा तदुपलब्धेर्मतित्वं सर्वथैव न स्यात्, इष्यते च कस्याश्चित् तदपीति भावः । यदि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतं तर्हि शेषं किं भवतु ? इत्याह—"सेसयं तु" इत्यादि, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिं विहाय 'शेषकं' यच्चक्षुरादीन्द्रियचतुष्टयोपलब्धिरूपं तद् मतिज्ञानं भवतीति वर्तते । तुशब्दः समुच्चये, स चैवं समुच्चिनोति, न केवलं शेषेन्द्रियोपलब्धिर्मतिज्ञानं किन्तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च काचिदवग्रहेहादिमात्ररूपा

मतिज्ञानं भवति, तथा च सत्यनन्तरमवधारणव्याख्यानमुपपन्नं भवति । "सेसयं तु मइनाण"मिति सामान्येनैवोक्ते शेषस्य सर्वस्याप्युत्सर्गेण मतित्वे प्राप्ते सत्यपवादमाह—"मोत्तूणं दव्वसुयं" ति पुस्तकादिलिखितं यद् द्रव्यश्रुतं तद् 'मुक्त्वा' परित्यज्यैव शेषं मतिज्ञानं द्रष्टव्यम्, पुस्तकादिन्यस्तं हि भावश्रुतकारणत्वाच्छब्दवद् द्रव्यश्रुतमेवेति कथं मतिज्ञानं स्यात् ? इति भावः । न केवलं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतम्, किन्तु यश्च शेषेषु चतुर्षु चक्षुरादीन्द्रियेषु श्रुतानुसारिसाभिलापविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः सोऽपि श्रुतम्, न त्वक्षरलाभमात्रम्, तस्येहा-ऽपायाद्यात्मके मतिज्ञानेऽपि सद्भावादिति । आह–यदि चक्षुरादीन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुतं तर्हि यदाद्यगाथावयवे 'श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम्' इत्यवधारणं कृतं तन्नोपपद्यते, अश्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेरपीदानीं श्रुतत्वेन समर्थितत्वात्, नैतदेवम्, शेषेन्द्रियाक्षरलाभस्यापि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरूपत्वात्, स हि श्रुतानुसारिसाभिलापज्ञानरूपोऽत्राधिक्रियते, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि चैवम्भूतैव श्रुतमुक्ता, ततश्च साभिलापविज्ञानं शेषेन्द्रियद्वारेणाप्युत्पन्नम्, योग्यतया श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव मन्तव्यम्, अभिलापस्य सर्वस्यापि श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्यत्वादिति । अत्राह–ननु "सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं" तथा "अक्खरलंभो य सेसेसु" इत्युभयवचनात् श्रुतज्ञानस्य सर्वेन्द्रियनिमित्तता सिद्धा, तथा "सेसयं तु मइनाण"मिति वचनात् तुशब्दस्य समुच्चयाच्च मतिज्ञानस्यापि सर्वेन्द्रियकारणता प्रतिष्ठिता, भवद्भिस्त्विन्द्रियविभागान्मति-श्रुतयोर्भेदः प्रतिपादयितुमारब्धः स चैवं न सिध्यति, द्वयोरपि सर्वेन्द्रियनिमित्ततायास्तुल्यत्वप्रतिपादनादिति, अत्रोच्यते, साधूक्तं भवता, किन्तु यद्यपि शेषेन्द्रियद्वारायातत्वात् तदक्षरलाभः शेषेन्द्रियोपलब्धिरुच्यते, तथाप्यभिलापात्मकत्वादसौ श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्य एव, ततश्च तत्त्वतः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेवायम् । तथा च सति परमार्थतः सर्वं श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, मतिज्ञानं तु तद्विषयं शेषेन्द्रियविषयं च सिद्धं भवति, अत इत्थमिन्द्रियविभागाद् मति-श्रुतयोर्भेदो न विहन्यत इत्यलं विस्तरेणेति **पूर्वगत**गाथासङ्क्षेपार्थः ॥

पं. २६. **आवरणभेदाच्चे**ति, मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणलक्षणावरणभेदात् तदावार्यस्यापि भेदः ।

[पृष्ठ ४६]

पं. ७. ननु यथा मति-श्रुताभ्यां सम्यग्दृष्टिर्घटादिकं जानीते व्यवहरति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि, तत् किमिति तस्य सत्कं सर्वमप्यज्ञानमुच्यते ? इत्याशङ्क्याऽऽह—

सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जदिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं ॥ १ ॥

सच्च असच्च सदसती, तयोः अविशेषणं–अविशेषः तस्माद्धेतोः, मिथ्यादृष्टेः सम्बन्धि व्यवहारमात्रेण ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञानमुच्यते, सतो ह्यसत्त्वेनासद् विशिष्यते, असतोऽपि च सत्त्वेन सद् भिद्यते । मिथ्यादृष्टिश्च घटे सत्त्व-प्रमेयत्व-मूर्त्तत्वादीन् स्तम्भ-रम्भाऽम्भोरुहादिव्यावृत्तादींश्च पटादिधर्मान् सतोऽप्यसत्त्वेन प्रतिपद्यते, 'सर्वप्रकारैर्घट एवायम्' इत्यवधारणात् । अनेन ह्यवधारणेन सन्तोऽपि सत्त्व-प्रमेयत्वादयः पटादिधर्माः 'न सन्ति' इति प्रतिपद्यते, अन्यथा सत्त्व-प्रमेयत्वादिसामान्यधर्मद्वारेण घटे पटादीनामपि सद्भावात् 'सर्वथा घट एवायम्' इत्यवधारणानुपपत्तेः । 'कथञ्चिद् घट एवायम्' इत्यवधारणे त्वनेकान्तवादाभ्युपगमेन सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्गात्, तथा पट-पुट-नट-शकटादिरूपं घटेऽसदपि सत्त्वेनायमभ्युपगच्छति, 'सर्वैः प्रकारैः घटोऽस्त्येव' इत्यवधारणात् । 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यवधारणे तु स्याद्वादाश्रयणात् सम्यग्दृष्टित्वप्राप्तेः[1] । तस्मात् सदसतोर्विशेषाभावादुन्मत्तकस्येव मिथ्यादृष्टेर्बोधोऽज्ञानम् । तथा विपर्यस्तत्वादेव भवहेतुत्वात् तद्बोधोऽज्ञानम् । तथा पशुवध-तिलादिदहन-जलावगाहनादिषु संसारहेतुषु मोक्षहेतुत्वबुद्धेर्दया-प्रशम-ब्रह्मचर्या-ऽऽकिञ्चन्यादिषु तु मोक्षकारणेषु भवहेतुत्वाध्यवसायतो यदृच्छोपलम्भात् तस्याज्ञानम् । तथा विरत्यभावेन ज्ञानफलाभावाद् मिथ्यादृष्टेरज्ञानमिति गाथार्थः ॥

१ श्रोत्र जेटि० ॥

पुव्विं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं ।

तन्निस्सियमियरं पुण अणिस्सियं मइचउक्कं तं ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० १६९]

तत्रापि प्रायो वैनयिकीवर्जं द्रष्टव्यम्, तस्यां श्रुतनिश्रितत्वस्यापि भावात् । पं. १३. **मतिज्ञानमेवाधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाहेति** वदन् [४६] सूत्रे **से किं तं आभिणिबोहियनाणं** इति पाठोऽशुद्ध इत्याचष्टे, किन्तु **"से किं तं मइनाणं** इत्ययं भवति । पं. १९. **आह—इदमपी**त्यादि, कथं पुनरत्रौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेऽवग्रहादयः सम्भवन्ति ? तत्र यथा ते भवन्ति तथा दर्श्यते—

किह पडिकुक्कुडहीणो जुज्झे ? बिंबेणऽवग्गहो, ईहा ।

किं सुसिलिट्ठमवाओ दप्पणसंकंतबिंबं ति ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ३०४]

इह किलाऽऽगमे—

भरहसिल १ मिंढ २ कुक्कुड ३ तिल ४ वालुय ५ हत्थि ६ अगड ७ वणसंडे ८ ।

पायस ९ अइया १० पत्ते ११ खाडहिला १२ पंच पियरो य १३ ॥ [आव० नि० गा० ९४१]

इत्यादिना औत्पत्तिक्यादिबुद्धीनां बहून्युदाहरणान्युक्तानि तन्मध्याच्छेषोपलक्षणार्थं कुक्कुटोदाहरणमाश्रित्यौत्पत्तिक्यां बुद्धावग्रहादयो भाव्यन्ते—राज्ञा नटकुमारकस्य **भरत**स्य किल बुद्धिपरीक्षणार्थमादिष्टम्, यदुत—अयं मदीयः कुक्कुटो द्वितीयकुक्कुटमन्तरेणैकक एव योधनीयः, ततस्तेन जिज्ञासितं मनसि—कथमयं 'प्रतिकुक्कुटहीनः' प्रतिपक्षभूतद्वितीयकुक्कुटवर्जितो युध्येत ? एतच्च जिज्ञासमानस्य तस्य झगित्येव स्फुरितं चेतसि । किम् ? इत्याह—'बिम्बेने'ति आत्मीयेन प्रतिबिम्बेन पुरो वीक्षितेन दर्पाध्मातत्वादयं युध्यत इत्यवगृहीतमित्यर्थः । एतच्च किम् ? इत्याह—'अवग्रहः' सामान्येनैव बिम्बमात्रावग्रहणादवग्रहः, मतिप्रथमभेद इत्यर्थः । ईहा तर्हि का ? इत्याह—"ईहा किं सुसिलिट्ठं" इति किं पुनस्तत् प्रतिबिम्बमस्य योधनाय 'सुश्लिष्टं' सुष्ठु युज्यमानकं भवेत् ? किं तडागपयःपूरादिगतम् ? आहोश्विद् दर्पणगतम् ? इत्यादिबिम्बविशेषान्वेषणमीहेत्यर्थः । अपायमुपदर्शयति—"अवाओ दप्पणसंकंतबिंबं" ति कल्लोलादिभिः प्रतिक्षणमपनीयमानत्वादस्पष्टत्वाच्च जलादिगतबिम्बमिह न युक्तम्, ततः स्थिरत्वेन स्पष्टादित्वेन च चरणाघातादिविषयत्वाद् दर्पणसङ्क्रान्तमेव तदत्र युज्यत इत्येवं बिम्बविशेषनिश्चयोऽपाय इत्यर्थः । एवमन्येष्वपि बुद्ध्युदाहरणेषु अवग्रहादयो भावनीयाः । तस्माद् बुद्धिचतुष्टयेऽप्येषां सद्भावात् श्रुतनिश्रितमिदमपीति पराशयः, अत्रापि श्रुतनिश्रितानामवग्रहादीनां प्रदर्शितरीत्या सम्भवादिति ॥

पं. २५. **औत्पत्तिकी** नाम प्रातिभमिति हृदयम् ।

[पृष्ठ ४७]

पं. ४. वैनयिक्यां **"भरनित्थरणे"**ति अतिगुरुकार्यस्य निस्तरणे—पारप्रापणे या समर्था । **"उभओलोगफलवती"** इति तत्रेहलोके सत्कार-द्रव्यादिलाभः, परलोके स्वर्ग-मोक्षादिप्राप्तिरिति ॥

[पृष्ठ ४८]

पं. १०. **"भरहसिले"**त्यादिद्वारगाथा । अस्याः सप्तदशोदाहरणानि, तद्यथा—**"भरहसिल"** त्ति, भरतशिला १ **"पणिय"** त्ति पणितं २ वृक्षः ३ **"खड्डुग"** त्ति मुद्रारत्नं ४ **"पड सरड काय उच्चारे"** इति पटः ५ सरडः ६ काकाः ७ उच्चारः ८ **"गय घयण गोल खंभे"** इति गजः ९ **"घयण"** त्ति भण्डः १० गोलः ११ स्तम्भः १२ **"खुड्डग मग्गित्थि पइ पुत्ते"** इति क्षुल्लकः १३ मार्गः १४ स्त्री १५ द्वौ पती १६ पुत्रः १७ इति । एतानि सप्तदशापि पदानि तत्तज्ज्ञातसूचामात्रफलान्येवेति न सूक्ष्मेक्षिका कार्या ॥ तत्राऽऽद्यज्ञातस्य सङ्ग्रहगाथा— पं. २९. **भरहसिले**त्यादि । भरतः— नटस्तद्वृत्तान्तगता शिला

भरतशिला १ 'मेण्ढः' मेषः २ 'कुक्कुटः' ताम्रचूडः ३ "तिल" त्ति तिलाः ४ "वालुग" त्ति वालुकायाः सम्बन्धिनी वरत्रा ५ हस्ती ६ "अगडे" त्ति 'अवटः' कूपः ७ वनखण्डः ८ पायसं ९ "अइय" त्ति अजिकायाः—छगलिकायाः पुरीषगोलिकाः १० "पत्ते" इति पिप्पलपत्रम् ११ "खाडहिल" त्ति तिछहडिका १२ 'पञ्च पितरश्च' तव राजन्! पञ्च जनकाः १३॥ तथा—**महुसित्थे**त्यादि। "महुसित्थ" त्ति 'मधुसित्थकं' मदनं १ मुद्रिका २ अङ्कश्च ३ 'णाणकं' व्यवहारार्हरूपकलक्षणम् ४ "भिक्खु चेडगनिहाणे" इति भिक्षुः ५ चेटकनिधानं ६ शिक्षा च ७ अर्थः ८ शस्त्रं ९ "इच्छा य महं" ति इच्छा च मम १० शतसहस्रः ११। एवं चाऽऽद्यसङ्ग्रहगाथायाः सम्बन्धीनि सप्तदश एतानि चैकादश मीलितान्यष्टाविंशतिर्मूलज्ञातान्यौत्पत्तिक्यां बुद्धाविति॥

भरहसिल पणित॰ गाधाए ताव— **उज्जेणी** नगरी। जणवए तत्थ णडाणं गामो। तत्थ एगस्स नडस्स भज्जा मया। तस्स य पुत्तो डहरगो। नडेण अण्णा आणीया। सा तस्स दारगस्स ण वट्टति विणय-भोयणाइए। तेण दारएण भणितं— ममं ण लट्ठं वट्टसि जइ, तहा ते करेमि जहा मम पादेसु पडसि त्ति। तेण रत्तिं पिता सहसा भणितो—एस गोहो त्ति गोहो त्ति। तेण णातं 'महिला विणट्ठ' त्ति सिढिलरागो जातो। सा भगति—मा पुत्त! एवं। तेण भणितं—ण लट्ठं वट्टसि। सा भणति—वट्टीहामि। अहं पि लट्ठं करीहामि। सा वट्टितुमारद्धा। अण्णदा छाहीए चेव 'एस गोहो गोहो' त्ति भणिते 'कहिं?' ति पुट्ठो नियदेहछाहिं दरिसेति। ततो पिता से लज्जितो। 'सो वि एवंविधो' त्ति तीसे घणरागो जातो। सो वि विसभीतो पिताए समं जेमेति। अण्णया पिताए समं **उज्जेणिं** गतो, दिट्ठा नगरी। निग्गता पिता-पुत्ता। पिता पुणो वि अइगतो 'किं पि ठवियगं विस्सरितं' ति। सो **सिप्पाए** नदीए पुलिणे नगरिं सव्वं आलिहति। तेण णगरी सचच्चरा लिहिता। ततो राया एति। तेण राया वारितो, भणितो—मा राउलमज्झेणं एहि त्ति। रण्णा कोउहल्लेणं पुच्छितो। सचच्चरा सव्वा कहिया। रण्णा भणितो—कहिं वससि? त्ति। तेण भणितं— अमुगगामे। पिता से आगतो। ते गता। रायणो य एगूणगाणि पंच मंतिसयाणि, एगं मग्गति 'जो य सव्वप्पहाणो होज्ज' त्ति चिंतियं—एस होज्ज त्ति। तस्स परिक्खणणिमित्तं इमाणि पेसेति—

भरहसिल १ मेंढ २ कुक्कुड ३ तिल ४ वालुय ५ हत्थि ६ अगड ७ वणसंडे ८।
परमण्ण ९ पत्त १० खिंडग ११ खाडहला १२ पंच पियरो य १३॥

लेहं विसज्जेति, जहा—तुब्भं गामस्स बाहिं महल्ली **सिला** तीए मंडवं करेह। ते अदण्णा। सो दारओ **रोहओ** छुहाइओ, पिता से गामेण समं अच्छति, उस्सूरं आगतो। सो रोयइ—अम्हे छुहाइया अच्छामो। सो भणति—तुमं सुहिओ सि। किह?। तेण से कहियं। भणति—वीसत्था अच्छह, हेट्ठा खंभे ठवेत्ता थोवथोवं खणह भूमीं। खता, उवलेवणकतोवयारे मंडवे रन्नो निवेदितं। केण कयं?। **रोहगदारएणं** १। ततो **मेंढओ** पेसितो—एस पक्खेण अणूणाहियं एत्तिओ चेव पच्चप्पिणेयव्वो। तेहिं **भरहो** पुच्छितो। तेण वि विरूवेण समं बंधावितो, जवस दिण्णं, तं चरंतस्स ण हायति बलं, विरूगं पेच्छंतस्स भएण ण वड्ढति त्ति २। एवं **कुक्कुडो** अदाएण समं जुज्झावितो ३। 'तिलसमं तेल्लं दायव्वं' ति **तिला** अदाएण मिया ४। **वालुयाए**—वरहपडिछंदं देह ५। **हत्थिम्मि**—जुण्णहत्थी गामे छूढो, हत्थी 'अप्पाउओ मरिहिति' त्ति अप्पितो, 'मतो' त्ति ण णिवेदियव्वं। हत्थी मतो। तेहिं निवेदितं—जहा ण चरति ण ऊससति न नीससति। रण्णा भणितं—मतो?। तेहिं भणितं—तुब्भे भणह त्ति ६। **अगडे**— आरण्णओ ण तीरइ एक्कल्लतो आणेतुं, णागरं अगडं देह ७। **वणसंडे**—पुव्वपासे गतो गामो ८। **परमण्णं**—करिसउम्हाए पलालुम्हाए त्ति ९। एवं परिक्खिऊण समादिट्ठं—**रोहगेणं** आगंतव्वं, तं पुण ण सुक्कपक्खे ण कण्हपक्खे, ण राइं न दिवा, न

१ अत्र यद्यपि **टिप्पनककृता** "अर्थः ८ शस्त्रम् ९" इति पृथग् व्याख्याय "अष्टाविंशतिर्मूलज्ञातान्यौत्पत्तिक्या बुद्धौ" इति निर्दिष्टमस्ति तथाऽप्युदाहरणनिरूपणावसरे पूर्वाचार्यव्याख्यापरम्परानुसारि 'अर्थशास्त्रम्' इत्येकमेवोदाहरणमुपन्यस्तं वर्तते। तत् किमित्यत्र टिप्पनककृता "अर्थः ८ शस्त्रम्" इति व्याख्याय उदाहरणसङ्ख्यां चाष्टाविंशतिं निर्दिश्यापि उदाहरणोल्लिखनावसरे अर्थशास्त्रविषयमेकमेवोदाहरणं निष्टङ्कितम्? इति विद्वद्भिर्विचारणीयमिति॥

छायाए न उव्वट्टेणं, न छत्तेणं न आगासेणं, न पादेहिं न जाणेणं, न पंथेणं न उप्पहेणं, ण ण्हाएणं ण मलिणेणं ति । पच्छा अंगोहली काऊण चक्कमज्झभूमीए एडिक्कगे एगं पादं काऊण चालणीणिहिउत्तमंगो संज्झासमयम्मि अमावासाए आगतो । रण्णा पुत्तितो "गंधव्वमुरवसद्दो" इत्यादीमां गाथां स पपाठ । आसण्णे य सोवितो । जामविउद्देण रण्णा सदाइतो–सुत्तो ? जग्गसि ? । भणति–सामि ! जग्गामि । सो सुत्तो विबुद्धो उट्ठितो । रण्णा भणितो–जग्गसि ? त्ति । जहा आणवेह । किं तुण्हिक्को अच्छसि ? । तेण भणितं–चिंतेमि । किं चिंतेसि ? । भणति–अस्सत्थपत्ताणं किं बिंटो महल्लो ? उदाहु छिधा ? । किह ते चिंतितं ? । भणति–दो वि समाणि १० । बितिए जामे छालियालिंडियाओ वातेणं ११ । तइए खाडइला जत्तिया पंडरगा तेत्तिया कालगा, जत्तियं च पुंछं तत्तियं सरीरं पि आयामेणं १२ । चउत्थे जामे सद्दावितो वायं ण देति, तेण कंबियाए छित्तो उट्ठितो । भणति–किं जग्गसि ? सुवसि ? । भणति–जग्गामि । किं करेसि ? । चिंतेमि । किं चिंतेसि ? । चिंतेमि–कतिहिं सि तुमं जातो ? त्ति । कतिहिं ? । तेण भणितं–पंचहिं । केण केण ? । रण्णा वेसमणेणं चंडालेणं रयएणं विंछिएणं । तेण माया पुच्छिया, निब्बंधे कहियं जहा–रायबीयपसूयत्तणओ रण्णा, उदरत्थे वेसमणजक्खपडिमासव्वंगालिंगणाभिप्पायसंपायणाओ वेसमणेणं, उउण्हाणसमणंतरमेव चंडाल-रयगदंसणे तदभिलासभावाओ तज्जायत्तणमवि, तहा विंछियभक्खणदोहले जाए कणिक्कामयस्स तस्स भक्खणेण तस्संपायणाओ विंछिएण वि । सो पुच्छितो–किह ते णायं ? ति । सो भणति–येन यथा न्यायेन रज्जं पालेसि तेण णज्जसि रायपुत्तो त्ति, वेसमणो दाणेणं, रोसेणं चंडालो, सव्वस्सहरणेणं रयओ, पुण जेण मम कंबियाए घट्टिहसि तेण विंछितो त्ति १३ । तुट्ठो राया, सव्वेसिं उवरिं ठवितो, भोगो य से दिण्णो १ ।

पणियए–दोहिं पणितगं बद्धं । एगो भणति–जो एताओ लोमसियातो खाति तस्स तुमं किं देसि ? । इतरो भणति–जो जिप्पति तेण जो नगरदारे मोदओ ण णीति सो दायव्वो । एगो जिओ । इतरो मग्गति । सो से रूवगं देति । इतरो णेच्छति । ताहे दोण्णि, जाहे सतेहिं वि ण तूसति ताहे तेण जूयकारा ओलग्गिता । बुद्धी दिण्णा । ताहे पूवितावणाओ एगं मोदगं गहाय इंदखीले ठवेति, भणितो–णीहिं मोदगा ! । ण णीति । जितो २ ॥

रुक्खे–फलाणि मक्कडा ण देंति । पाहाणेहिं हता । तेहिं फला खित्ता ३ ॥

खड्डुए–पसेणती राया । पुत्तो से सेणिओ रायलक्खणसंपण्णो, तस्स किंचि ण देति 'मा मारिज्जिहि' त्ति । सो अद्धितीए निग्गतो बेण्णायडं आगतो एगस्स सिट्ठिस्स आवणे ठितो । तस्स लाभो तप्पभावेणं । सो भत्तं देति । धूताए संपक्को । दिण्णा । रायाए लेहो विसज्जितो । सो आपुच्छति । सा पतिभणति–तुब्भे कहिं ? । सो भणति–अम्हे पंडरकुड्डगा रायगिहे गोवाला पसिद्धा । गतो । आवण्णसत्ताए दोहलो देवलोगचुतस्स : अभयं सुणेज्जामि । सेट्ठी दव्वं गहाय उवट्ठितो रण्णो । रण्णा गहितं, उग्घोसियं । पुत्तो जातो, अभओ त्ति णामं कतं । पुच्छति–मम पिता कहिं ? ति । ताए कहियं । भणति–वच्चामो त्ति । सत्थेण समं वच्चंति । रायगिहस्स बहिया ठियाणि । गवेसंतो गतो । राया मंतिं मग्गति । सुक्खकूवे खड्डुगं पाडितं–जो गेण्हति हत्थेणं तडे ठितो तस्स राया वित्तिं देति । अभएण दिट्ठं, छाणेण आहतं, सुक्के पाणितं मुक्कं, तडे संतएण गहितं । रण्णो समीवं णीतो । पुच्छति–को तुमं ? । भणति–तुब्भं पुत्तो त्ति । किह वा ? किं वा ? । सव्वं परिकहितं । तुट्ठो, उच्छंगे कतो । माता पवेसिज्जन्ती मंडेति । तेण वारिया । अमच्चो जातो ४ ॥

पडे–दो जणा ण्हायन्ति, एगस्स दढो पडो, एगस्स जुण्णो । जुण्णइत्तो दढं गहाय पट्ठितो । इतरो मग्गति । सो ण देति । ववहारो । महिलातो कन्तावितातो । दिण्णो जस्स सो । अण्णे भणंति–सीसाणि ओलिहिताणि, एगस्स उण्णापडतो, एगस्स सोत्तिओ ५ ॥

---

१ होडा खेटि० ॥

सरडे–सण्णं वोसिरंतस्स सरडा भंडंता । एगो तस्स अहिट्ठाणस्स हेट्ठा बिलं पविट्ठो पुंछेग छिक्को । घरं गतो अद्धितीए दुब्बलो जातो । वेज्जो पुच्छितो भणति–जति सतं देह । दिण्णं । तेग घडए सरडो छुढो लक्खाए विलिंपित्ता विरेयणं दिण्णं । वोसिरियं, सरडो कप्परे दिट्ठो, लट्ठीहूतो ॥ **बितितो सरडो**–भिक्खुणा खुड्डतो पुच्छितो–एस सरडो किं सीसं चालेति ? । तेण भणितं–तुमं जोएति, किं भिक्खू ? भिक्खुणि ? त्ति ६ ॥

कागो–तच्चण्णिएण खुड्डतो पुच्छितो–अरहन्ताः सर्वज्ञाः ? । बाढं । तो केत्तिया इहं कागा ? ।

सट्ठिं कागसहस्सा इहइं **बेण्णातडे** परिवसंति । जदि ऊणगा पवसिता, अब्भहिता तत्थ पाहुणगा ॥ १ ॥

बितितो–निहिम्मि दिट्ठे महिलं परिक्खति–रहस्सं धरेति ? न व ? त्ति । सो भणति–ममं पंडरओ कागो अहिट्ठाणं पविट्ठो । ताए सहिज्जिताणं कहितं, जाव रण्णा सुतं । पुच्छितो । कहियं । रण्णा से मुक्कं, मंती य निउत्तो ॥

ततिओ–विट्ठविक्खरणे **भागवतो** खुड्डगं पुच्छति । खुड्डगो भणति–एस चिंतेति 'एत्थ विट्ठू अत्थि ? णत्थि ?' त्ति ७॥

उच्चारे–धेज्जातियस्स भज्जा तरुणी गामंतरं निज्जमाणी धुत्तेण समं लग्गा । गामे ववहारो । विभत्ताणि पुच्छिताणि आहारं । विरेयणं दिण्णं, तिलमोदगा । इतरो धाडितो ८ ॥

गतो–हत्थी महतिमहालओ । जो तोलेति तस्स सयसहस्सं देमि । णावाए तोलेति । लंछिता णावा । उत्तारेऊण पाहाणाणं भरिया जाव सा रेहा । पाहाणा तोलिया । एत्तियं तुलति । जितो ९ ॥

घतणो–भंडो सव्वरहस्सितो । राया देवीए गुणे कहेति–णिरामयं ति । सो भणति–न भवति । किह ? । जता पुप्फाणि केसराणि वा ते ढोएति तद त्ति । विण्णासितं । णाए हसितं । निब्बंधे कहियं । निव्विसतो आगत्तो । उवाहणाणं भारेण उवट्ठितो । उड्डाहभीयाए रुद्धो १० ॥

गोलतो णक्कं पविट्ठो जतुमतो । सलागाए तावेत्ता कड्ढितो ११ ॥

खंभो तलागमज्झे । जो तडे सठितो बंधति तस्स एत्तियं दिज्जति । तडे खीलगं बंधिऊण परियंचिऊण बद्धो । जितो १२ ॥

खुड्डए–परिव्वाइया भणति–जो जं करेति तं मए कायव्वं कुसलकम्मं । खुड्डतो गतो भिक्खस्स । पडहतो वारितो । गतो राउलं । दिट्ठा । सा भणति–कतो गिलामि ? । तेग सागारियं दाइतं जिता, काइएण य पउमं लिहियं । सा ण तरति । जिता १३ ॥

मग्ग त्ति–एगो भज्जं गहाय पवहणेण गामंतरं वच्चति । सा सरीरचिंताए ओतिण्णा । तीसे रूवेण वाणमंतरी विलग्गा । इतरी रडति । ववहारो । दूरं हत्थो पसारितो । णातं १४ ॥

इत्थि त्ति–**मूलदेवो** अप्पबितिज्जओ वच्चति । इतो य एगो पुरिसो समहिलो आगच्छतो दिट्ठो । तीए रूवे मुच्छितो एगन्ते उव्वत्तिऊण अच्छइ । तेण वितियएण भण्णति महिलइत्तो–मम महिला वितातुकामा, एयं विसज्जेहि त्ति । तेण विसज्जिता । सो तेण समं अच्छति । इतरी वि **मूलदेवेण** समं रमिऊण आगया ।

निग्गंतूण य तत्तो पडयं घेत्तूण **कंडरीयस्स** । धुत्ती भणति हसंती पियं खु णे दारओ जातो ॥ १ ॥ १५ ॥

पति त्ति–दोण्हं भाउगाणं एगा भज्जा । लोगे कोड्डं–दोण्ह वि समा । रण्णा सुतं, परं विस्मयं गतो । अमच्चो भणति–कतो एवं होहि ? त्ति, अवस्स विसेसो अत्थि । तेण लेहो दिण्णो, जहा–गामं गंतव्वं । एगो पुव्वेण, एगो अवरेणं भज्जाए अल्लीवितो । तीए जो पितो सो अवरं पेसियो, जो वेसो सो पुव्वं पेसितो । वेसस्स आगच्छंतस्स वच्चंतस्स वि निडाले सूरो । अस-

इहंतेसु पुणो वि पट्ठविऊण समगं पुरिसा पेसिता । ते णं भणंति–ते दढं अपडुगा । 'एसो मंदसंघयणो' त्ति भणितुं तं चेव पवण्णा । एवं नातं १६ ॥

पुत्ते जाते एगो वाणियतो भज्जाहिं समं अन्नं रज्जं गतो । तत्थ मतो । तातो दो वि भणंति 'पुत्तो' त्ति पुत्तनिमित्त-ववहारो न छिज्जति । अमच्चो भणति–दव्वं विरिंचितुं दारगं दो भागे करेह करकचएणं । एगा भणति–एवं होतु । माता भणति–एतीसेव पुत्तो, मा मारज्जउ । तीसेव दिण्णो १७ ॥

मधुसित्थे–काइ कोलिगिणी उब्भामइलिया । तेणेव विहाणेण दरिसितं । णाता उब्भामइल त्ति १८ ॥

मुद्दियाए–पुरोहितो निक्खेवए घेत्तूणं अण्णेसिं न देति । अण्णदा दमगेण ठवियं । पडियागतस्स ण देति । सो पिसाओ जातो । अमच्चो वीधीए जाति । भणति–देहि भो पुरोहित ! मम तं सहस्स । तस्स किवा जाता, रण्णो कहितं । रण्णा भणितं–देहि । 'ण गेण्हामि' त्ति भणति । अण्णदा रायाए समं जूयं रमति, नाममुद्दागहणं । रायाए सलक्खगं गहाय मणूसस्स हत्थे दिण्णा । [भज्जा से मग्गिया–] अमुगं कालं साहस्सो णउलओ दमएण ठवितो तं देहि, इमं अभिण्णाणं । दिण्णो, आणितो । अण्णाणं णउलाणं मज्झे कतो । सो सद्दावितो । पच्चभिण्णातो । पुरोहितस्स जिब्भा छिण्णा १९ ॥

अंके–तहेव एगेण निक्खित्तं लंछेऊणं । इतरेण हेट्ठा गहित्ता उस्सिव्वित्ता कूडरूवगाणं भरितो, पच्छा तहेव सीवियं । आगतस्स अल्लितो । सा मुद्दा उग्घाडिया जाव कूडरूवगा । ववहारो । केत्तिया रूवगा ? । सहस्स । गणणे ऊणगं जातं । तहा तडियओ ण तीरति सिव्वेउं, एवं णातं २० ॥

णाणए– तहेव निक्खेवतो । पणा छूढा । आगतस्स दिण्णो णउलतो । पणे पुच्छा । राउले ववहारो । कालो को आसि ? । अमुगो । अहुणत्तणगा एए पणा । सो चिराणओ कालो । डंडिओ २१ ॥

भिक्खू–तहेव निक्खेवगं न देइ । जूतकारा ओलग्गिता । तेहिं पुच्छितेणं सब्भावो कहितो । ते रत्तवडगवेसेणं गता सुवण्णगस्स खोड्डिताओ गहाय । अम्हे वच्चामो, चेइय वंदामो, इमं अच्छउ । सो य पुव्वभणितो एतम्मि अंतरे आगओ । तेण मग्गितं । ताहे लोभिल्लताए दिण्णं । 'अण्णे वि भिक्खू एंतगा, तो एगाए मंजूसाए चेव कज्जिहिति' त्ति निग्गता २२ ॥

चेडगनिहाणे त्ति–दो मित्ता । तेहिं निहाणगं दिट्ठं । कल्ले सुनक्खत्ते णेहामो त्ति । एगेण रत्तिं उक्खणिऊण इंगाला छूढा । बितियदिवसे गता इंगाले पेच्छंति । सो धुत्तो भणति–अहो ! अम्हं मंदपुण्णता, इंगाला जाता । तेण णातं–हरियं, न दरिसेति । तस्स पडिमं करेति, दो मक्कडए गेण्हति, तस्स उवरिं भत्तं देति, ते लुहाइया तं पडिमं चडंति । अण्णदा भोयणगं सज्जितं । दारगा तस्सच्चया आणिता संगोविता, ण देति, भणति–मक्कडगा जाता । आगतो एत्थ लेप्पगठाणे उवेसावितो । मक्कडगा मुक्का, किलिकिलेंता तस्स उवरिं विलग्गा । णायं । दिण्णो भागो २३ ॥

सिक्खा अत्थे धणुव्वेए–एगो रायपुत्तो जधा **सेणितो** तहा हिंडंतो एगत्थ ईसरपुत्तए सिक्खावेति । दव्वं विढत्तं । तेसिं पितिमीसगा चिंतेंति–बहुतं दव्वं एतस्स दिण्णं, जइया जाहिति तइया मारिज्जिहिति । तेण णातं, सचारितं णायगाणं, जहा–हं रत्तिं छाणपिंडए णदीए छुभीहामि ते लएज्जाह । तेण गोलगा वलिता–एसा अम्हं विहि त्ति । तिहिपव्वगीसु दारएहिं समं णदीये छुभति । एवं निव्वाहेऊण नट्ठो २४ ॥

अत्थसत्थे–एगेण पुत्तेण दो सवत्तीओ । ववहारो ण छिज्जति । इतो य देवी गुव्विणी उज्जाणियं गता । ताओ उवट्ठि-ताओ । सा भणति–मम पुत्तो जो होहिति सो **अत्थसत्थं** सिक्खिहिति, एतस्स असोगस्स हेट्ठा णिविट्ठो ववहारं छिंदिहिति, ताव दो वि अविसेसेणं खाह पियह त्ति । जीसे ण पुत्तो सा चिंतेति–एत्तियो ताव कालो लद्धो त्ति पडिस्सुतं । णाता–ण एसा २५ ॥

इच्छा–एगाए भत्तारो मतो । वड्डियपउत्तं न उग्गमति । मित्तो भणितो–उग्गमेहि । तेण भणितं–मज्झ वि भागं देहि । ताए भणितं–जं तुमं इच्छसि तं ममं देज्जसि । तेण उग्गमितं, सतं दिण्णं । सा णेच्छति । ववहारो । आणावितं । दो पुंजका कता । कतरं तुमं इच्छसि ? । भणति–वड्डं । ताहे भणितो–एतं चेव इमं देहि–त्ति दवावितो २६ ॥

सतसहस्सं ति–एगो परिभट्ठओ । तस्स सयसाहस्सं खोरं । सो भणति–जो ममं अपुव्वं सुणावेति तस्स एतं देमि । अण्णदा एगं नगरं गतो, तत्थ उग्घोसेति । सिद्धपुत्तेण सुतं, भणति–

मज्झ पितुं तुज्झ पिता धारेति अणूणगं सयसहस्सं । जति सुयपुव्वं तो देहि, अह न सुयं सुयसु तो खोरं ॥ १ ॥

जितो २७ ॥ **उप्पत्तिया गया ।**

पं. २०, २२. **वैनयिक्यामुदाहरणदर्शनाय "निमित्ते"** इत्यादिगाथाद्वयम्–निमित्तं १ अर्थशास्त्रं च २ **"लेहे"** इति लेखनं ३ गणितं च ४ कूपः ५ अश्वश्च ६ गर्दभः ७ लक्षणं ८ ग्रन्थिः ९ अगदं १० गणिका च रथिकश्चेति ११ शीता शाटी दीर्घं च तृणं अपसव्यकं च क्रोञ्चस्य इत्येकमेव १२ । नवरम्–अतीमितायामपि शीता शाटीत्याहुः, शीतं ते कार्यम्, दीर्घं तृणं द्वाराभिमुखं कुर्वतां 'गच्छ, दीर्घं मार्गं प्रतिपद्यस्व' क्रोञ्चाप्रादक्षिण्येनोत्तारणं 'प्रतिकूलं सम्प्रति ते राजकुलम्' इत्युपाध्यायेनावगम्यते बुद्धया । नीव्रोदकं च १३ गोणः घोटकः पतनं च वृक्षादित्येकमेव १४ । एवं वैनयिक्यां सर्वाग्रेण चतुर्दश ज्ञातानि ।

निमित्ते–एगस्स सिद्धपुत्तस्स दो सीसगा निमित्तं सिक्खंति । अण्णदा तण-कट्ठस्स वचंति । तेहिं हत्थिपदा दिट्ठा, एगो भणति–हत्थिणियाए पदा, कहं ? काइएण[1] । सा य हत्थिणी काणा, कहं ? एगपासेण तणाइं खादिताइं । तहा काइएणेव णातं–जहा इत्थी पुरिसो य विलग्गाणि । सो वि णातो ['जुवाणो' त्ति] । सा य 'गुव्विणि' त्ति णाता, हत्थाणि थंभित्ता उट्ठिता । दारतो से भविस्सति, जेण दक्खिणपादो गुरू । पोत्ता रत्ता, दसिता रुक्खे लग्गा । णदीतीरे एगाए थेरीए पुत्तो पवसियओ तस्स आगमणं पुच्छिता । तत्थ य घडतो भिण्णो, तत्थ य एगो भणति–

तज्जातेण य तज्जायं, तन्निभेण य तन्निभं । तारूवेण य तारूवं, सरिसं सरिसेण निद्दिसे ॥ १ ॥ [गणिविज्जा. ७५]

'मतओ' त्ति परिणामेति । बितिओ भणति–जाहि वुड्ढे ! सो घरं आगतेल्लओ । सा गता, दिट्ठो पुव्वाताओ । सा जुवलयं रूवए य गहाय आगता, सक्कारितो । बितियओ भणति–मम सब्भावं गुरू न कहिंति । तेणं पुच्छिता । तेहिं जहाभूतं कहितं । एगो भणति–'विवत्ती' मरणं । एगो भणति–'भूमिजो भूमिं चेव मिलितो' एवं सो वि दारतो । भणितं च– "तज्जाएण त तज्जातं०" सिलोगो १ ॥

अत्थसत्थे–कप्पओ दधिकुंडग उच्छुकलावग एवमादि २ ॥

लेहे जहा–अट्ठारसलिविजाणतो ॥ एवं **गणिए** वि ॥ **अण्णे** भणंति–वट्टेहिं रमंतेणं अक्खराणि सिक्खाविता गणियं च । अयं भावार्थः–खटिकामया गोलकास्तथोपाध्यायेन भूमौ पातिताः कुमाराणामक्षरशिक्षणाय यथा भूमावक्षराण्युत्पद्यन्ते ३ । ४ ॥

कूवे–खायजाणएणं पमाणं भणितं–जहा एद्दूरे पाणितं ति । तेहिं खायं । तो वोलीणं तस्स कहितं । 'पासे आहणह' त्ति भणिता । थासगसद्देण जलमुद्धाइतं ५ ॥

आसे–आसवाणियगा **बारवइं** गता । सव्वे कुमारा थुल्ले वड्डे य गिण्हंति । **वासुदेवेण** जो दुब्बलो लक्खणजुत्तो सो गहितो ६ ॥

गद्दभे–राया तरुणपितो[2] । अण्णत्थ उद्धाइतो **सिणपल्लिए** जारिसे । तिसाए पीडितो । थेरं पुच्छति । घोसावितं । एगेण

[1] पूर्वायातः ॥ [2] तरुणप्रियः ॥

पितिप्पियेतेण आणितओ । तेण कहियं । थेरो भणति–सुयह गद्दभे, जत्थ गद्दभा उस्सिंघंति लेहंति य तत्थ पाणितं । खइतं, पीता य । अण्णे भणंति–उस्सिंघणाए चेव जलासतगमणं ७ ॥

लक्खणे–पारसविसए आसरक्खओ । धीताए तस्स समं सपत्ती । ताए भणितो–वीसत्थाणं घोलचम्मं पाहणाणं भरेऊणं रुक्खाओ मुयाहि, तत्थ जो ण उत्तसति तं लएहि; पडहयं च तालेहि, बुज्झावेहि य सक्खरेणं, जो ण उत्तसति तं लएहि । सो वेतणगकाले भणति–मम दो देहि अमुगं च अमुगं च । तेण भणितं–सव्वे गेण्हाहि, किं ते एतेहि ? । णेच्छति । भज्जाए कहणं–धीता से दिज्जउ । सा नेच्छति । सो तीसे **वड्ढतिदारगं** कहेति–लक्खणजुत्तेणं कुडुंबं परिवड्ढति त्ति–एगस्स मातुलएणं धूता दिण्णा । कम्मं न करेइ । भज्जाए चोतितो दिवे दिवे अडवीओ रित्तओ एति, छट्ठे मासे लद्धं । कुलवो सतसहस्सेणं सेट्ठिणा लइओ 'अक्खयणिहि' त्ति ८ ॥

गंथिमं–पाडलिपुत्ते नयरे **पालित्तग**आयरिया अच्छंति । इतो य जाणएहि इमाणि विसज्जिताणि **पाडलिपुत्तं**–सुत्तं मोहियगं १ लट्ठी समा २ समुग्गओ ३ त्ति । केणइ ण णाताणि । **पालित्तय**आयरिया सद्दाविता–तुब्भे जाणह भगवं ! ? ति । बाढं जाणामि । सुत्तं उण्होदये छूढं, मयणं विरायं, दिट्ठाणि अग्गयाणि । दंडओ पाणिते छूढो, मूलं गरुयं । समुग्गतो जउणा घोलितो उण्होदए कढितो, उग्घाडितो य । तेण वि य लाउगं राइलेऊण रयणाणि छूढाणि, तेणगसिव्वणीए सिव्वेऊण विसज्जितं । अभिंदंता फेडह । ण सक्कितं ९ ॥

अगदे–'परबलं णगरं रोहेउं एति' त्ति रायाए 'पाणिताणि विणासियव्वाणि' [त्ति] विसकरो पाडितो । पुंजा कया । वेज्जो भणति–सयसहस्सवेही । कहं ? । खीणाऊ हत्थी आणितो, पुंछवालो उप्पाडितो, तेणं चेव वालग्गेणं तत्थ विस दिण्ण, विवण्णं करेंतं चरंतं दीसति । एस सव्वो विस, जो वि खाति एतं सो वि विस, एवं सतसहस्सवेही । अत्थि निवारणविधी ? । बाढं । तत्थेव अगदो दिण्णो, पसमंतो जाति १० ॥

रहियगणियाए एग चेव–**पाडलिपुत्ते** दो गणियातो–**कोसा उवकोसा** य । **कोसाए** समं **थूलभद्दसामी** अच्छितओ आसी । पच्छा पव्वइतो । ताहे वरिसारत्तो तत्थेव कतो । साविगा जाता, अबंभस्स पच्चक्खाति णण्णत्थ रायाभियोगेणं । रहिएण राया आराहितो । सा दिण्णा । सा **थूलभद्दसामिस्स** अभिक्खणं अभिक्खणं गुण गेण्हति, न ण तहा उवचरति । सो ताए अप्पणो विण्णाणं दरिसेउकामो । **असोगवणिय**भूमिं गतेण अंबपिंडी छोडिता कंडपुंखं अण्णोण्ण लाएंतेण अच्चभास आणेत्ता अद्धचंदेण छिण्णा गहिता य । तहि वि ण तूसति, भणति–किं सिक्खितस्स दुक्करं ? । भणति–'पच्छ ममं' ति सिद्धत्थगरासिम्मि णच्चिया सूयीण अग्गयम्मि य कणियारपुप्फपोइयासु । सो आउट्टो । सा भणति–

ण दुक्करं तोडिय अंबपिंडी, ण दुक्करं णच्चिउ सिक्खियाए ।
तं दुक्करं तं च महाणुभागं, जं सो मुणी पमयवणम्मि वुत्थो ११ ॥

"सीता साडी दीहं च तणं अवसव्वगं च कोंचस्स" एग चेव–रायपुत्ता आयरिएणं सिक्खाविता । दव्वलोभी य सो राया तं मारेउं इच्छति । तो दारगा चिंतेति–एतेणं अम्ह विज्जा दिण्णा, उवाएण नित्थारेमो । जाहे सो जेमतो एति ताहे ण्हाणसाडियं मग्गति । ते सुक्खयं भणति–अहो ! सीता साडी । बारमुहं तणं देंति, भणन्ति–अहो ! दीहं तणं । पुव्वं कोंचएणं पदाहिणीकरेंति, तद्दिवस अपयाहिणीकतो । परिगतं जहा–विरत्ताणि, पथो दीहो-सैताणं, तं ममं काउ मग्गंति–त्ति णट्ठो १२ ॥

णेव्वोदये–वणियभज्जा चिरपउत्थे पतिम्मि दासीए सब्भावं कहेति–पाहुणगं आणेहि–त्ति भणिता । तीए पाहुणतो आणीतो, आयुस च से कारियं । रत्तिं पवेसितो तिसाइओ । नेव्वोदगं दिण्णं । मतो । देउलियाए उज्झितो । 'अहुणकय-

१ पितृप्रियेण जेटि० ॥ २ स्मशानम् ॥ ३ क्षुरकर्म जेटि० ॥

कम्मो' त्ति ण्हाविता पुच्छिता—केण आउसं कारितं ? । तेग(एगेग) भणितं—दासीए । सा पहता । ताए कहितं । वाणिगिणी पुच्छिता । साहति सब्भावं । तयाविसो गोणसो त्ति दिट्ठो १३ ॥

गोण घोडग रुक्खपडणं च—एगो अकतपुण्णो जं जं करेति तं तं से विवज्जति । मित्तस्स जाइएहिं बइल्लेहिं हलं वाहेति । विगाले आणित्ता वाडे छूढा । सो य मित्तो से जेमेति, सो लज्जाए ण ढुक्को । तेग वि दिट्ठा । ते णिप्फिडिता वाडाओ, हरिता । गहितो 'देहि' त्ति । राउलं णिज्जति । पडिपहेणं घोडएणं पुरिसो एति । सो तेण पाडितो आसेणं । सो पालतेण भणितो—आहण त्ति । तेण मम्मे आहतो मतो । तेण वि लइओ । विगाले नगरस्स बाहिरियाए वुत्था । तत्थ लोमंथिया सुत्ता, इमे वि तहि चेव । सो चिंतेति—जावज्जीवबंदणो कीरिस्सामि, वरं मे अप्पा ओबद्धो । तेसु सुत्तेसु सो डंडिक्खंडेण तम्मि वडरुक्खे अप्पाणं उक्कलंबेति । तं दुब्बलं तुट्टं । तेग लोमंथितमहत्तरतो मारितो । तेहिं वि गहितो । पभाए करणं णीते तिहिं वि कहितं जहावत्तं । सो पुच्छितो भणति—आमं ति । कुमारामच्चो भणति—तुमं बलद्दे देहि, एतस्स अच्छीणि उक्खम्मंतु । बितितो भणितो—एतस्स आसं देउ, तुज्झ जीहा उक्खम्मउ । इतरे भणिता—एस हेट्ठा होउ, तुब्भ एगो उव्बंधितुं निप्पडउ त्ति काउं मंतिणा मुक्को १४ ॥ **वेणतिया गता** ॥

पं. २८. **कर्मजबुद्धयुदाहरणेष्वियं** गाहा—"हेरन्निए" इत्यादि । '**हैरण्यिकः**' सौवर्णिकः १ '**कर्षकः**' कृषीबलः २ "कोलिय" त्ति कोलिकः-तन्तुवायः ३ "डोवे य" त्ति दर्वी—चट्टकश्च, परिवेषक इत्यर्थः ४ "मुत्ति" त्ति मौक्तिकप्रोता ५ "घय" त्ति घृतप्रक्षेपक ६ प्लवक ७ "तुन्नाय" इति 'तुन्नवायः' तुन्न—त्रुटितं वयति—सीव्यति यः स तथा ८ वर्द्धकिः ९ "पूइए य" इति 'पूपिकः' कान्दविकः १० "घड-चित्तकारे य" इति घटकारः—कुम्भकारः ११ चित्रकारः—चित्रकर्मविधाता १२ । एवं द्वादश दृष्टान्ताः कर्मजायां मतौ ॥

हेरण्णिते अभिक्खजोगेण अंधकारे वि रूवगं जाणेति हत्थपरामोसेणं १ ॥

करिसतो अभिक्खजोगे जाणति फलनिप्फत्तिं । तत्थ उदाहरणं—एगेणं चोरेणं खत्तं पउमागारेणं छिन्नं । सो जणवत्तं निसामेति । करिसतो भणति—किं सिक्खितस्स दुक्करं ? । चोरेणं सुतं । पच्छतो गंतूण छुरियं अंछिऊण भणति—मारेमि ते । तेण पडयं पत्थरेत्ता वीधियाण मुट्ठी भरितो, भणति—किं परम्मुहा पडंतु ? ओरुम्मुहा ? पासल्लिया ? । तहेव कतं । तुट्ठो २ ॥

कोलितो मुट्ठिणा गहाय तंतू जाणति—एत्तियाएहिं वा कंडएहिं विज्जिहिति त्ति ३ ॥

डोए वड्ढई जाणइ—एत्तियं माहिति ४ ॥

मोत्तियं आयिणेन्तो आगासे उक्खिवित्ता तहा निक्खिवति जहा कोलवाले पडति ५ ॥

घते—सगडे सतओ जदि रुचति कुंडियाए णालए छुहति धारं ६ ॥

पवेओ आगासे ताणि करणाणि करेति ७ ॥

तुण्णाओ पुव्वं थुल्लाणि पच्छा जहा ण णज्जति सूतीए तत्तियं गेण्हति जत्तिएणं समप्पति । जहा **सामिस्से** तं दूसं धीयारेण कारितं ८ ॥

वड्ढई अमवेऊण देवकुलरहाण पमाणं जाणति ९ ॥

घडगारो पमाणेण मट्टितं गेण्हति, भाणस्स वि पमाणं अमिणित्ता करेति १० ॥

पूविओ वि पग्गलपरिमाणं अमवेऊणं करेति ११ ॥

चित्तकारो पच्छा अमवेऊणं पमाणजुत्तं करेति, तत्तियं वा वण्णयं करेति जत्तिएणं समप्पति १२ ॥ **कम्मया समत्ता** ॥

१ नटाः जेटि० ॥ २ नटः जेटि० ॥ ३ वर्द्धमानजिनविभोः ॥ ४ आह्वणेन जेटि० ॥

[पृष्ठ ४९]

पं. ५. **पारिणामिकबुद्धावुदाहरणानि** यथा "**अभए**" इत्यादि । "अभए" इति अभयकुमारः १ "सेट्ठि" त्ति काष्ठश्रेष्ठी २ "कुमारे" इति क्षुल्लककुमारः ३ 'देवी' पुष्पवत्यभिधाना ४ उदितोदयो भवति राजा ५ साधुश्च 'नन्दिषेणः' श्रेणिकपुत्रः ६ 'धनदत्तः' सुंसुमापिता ७ श्रावकः ८ अमात्यः ९ क्षपकः १० अमात्यपुत्रः ११ चाणक्यश्चैव १२ स्थूलभद्रश्च १३ "नासिक्कसुंदरीनंद" त्ति नासिक्कनामनि नगरे सुन्दरीनन्दो वणिक् १४ "वइर" इति वैरस्वामी १५ । 'पारिणामिकी बुद्धिः' इत्यनेन वाक्येनात्र पारिणामिकीबुद्धियुक्ता ब्राह्मणी पुत्रिकाचतुष्टयस्य शिक्षादायिनी **देवदत्ता** च गणिका गृह्यते । इयं च चित्रकर्मणा सर्वजनाभिप्रायग्राहिका १६ ॥

"चलणाहण" त्ति चलनाहननं १७ "आमंड" त्ति कृत्रिमामलकं १८ मणिश्च १९ सर्पश्च २० "खग्ग" त्ति खड्गः १२ स्तूपेन्द्रः २२-२३ पारिणामिक्यां बुद्धौ एवमादीनि भवन्त्युदाहरणानि। एवं च पारिणामिक्यां बुद्धौ सूत्रोपात्तानि द्वाविंशतिर्ज्ञातानि ॥

अभयस्स कहं पारिणामिता बुद्धी ?—जदा **पज्जोओ** गतो, **रायगिहं** रोहितं, तदा **अभयेणं** खंधावारनिवेसजाणएणं पुव्वनिक्खित्ता कुडरूवगा नूमिता । कहियं च से जधा—भेदितो खंधावारो । दावितेसु णट्ठो एस ॥ अहवा जाहे गणियाहिं कवडेणाऽऽणीतो बद्धो जाव तोसितो चत्तारि वारे । चिंतियं च णेण—मोतावेमि अप्पाणं । वरं मग्गितो—अग्गिं अतीमि त्ति मुक्को । ताहे भणति—अहं तुमे छलेण आणितो, अहं पुण ते दिवसतो 'पज्जोओ हीरति' त्ति कंदंतं नगरमज्झेण नेमि । गतो **रायगिहं**। दासो उम्मत्तओ कतो, गणियाओ वाणियदारियाओ, गहितो, रडंततो हियो । एवमादिगातो बहुतातो **अभयम्मि** पारिणामियातो बुद्धीतो १ ॥

सेट्ठि त्ति—**कट्ठो** णामं सेट्ठी एगत्थ नगरे वसति । तस्स **वज्जा** णामं भज्जा । तस्स णेच्चइलो **देवसम्मो** बंभणो । सेट्ठी दिसाजत्ताए गतो । भज्जा से तेण समं सपलग्गा । तस्स य घरे तिण्णि पक्खी—सूतओ १ मयणसलाइया २ कुक्कुडतो ३ । सो ताणि अप्पाहेत्ता गतो । सो धेज्जाइतो रत्तिं अतीति । मदणसलाइया भणति—को तायस्स ण बीहेति ? । सूतओ वारेति—जो अण्णियाए दइओ अम्हं पि पियल्लतो होइ । मदणसलाइया अगधियासिता धेज्जातियं परिस्सवति । तीए मारिता । सूयओ ण मारितो । तीसे पुत्तो लेहसालाए पढति । अण्णदा तत्थ साधुणो भिक्खस्स अतिगता । तं कुक्कुडं पेच्छिऊण एगो भणति—जो एयस्स सीसं खाति सो राया होहिति त्ति । तं तेण धिज्जाइएणं किह वि अंतरिएण सुतं । अविरइयं भणति—मारेहि, जाव खामि । सा भणति—अण्णं आणिज्जउ, मा पुत्तभंडं व सवड्ढितओ । निब्बंधे मारितो । जाव ण्हातो गतो ताव सो दारतो लेहसालाओ आगतो । तं च मंसं सिज्झति, सो रोवति, तस्स सीसं दिण्णं । इतरो आगतो—भाणए छूढं, सीसं मग्गति । भणति—चेडस्स दिण्णं । सो रुट्ठो भणति—मए एयस्स कज्जे मारावितो । पच्छा भणति—जति परं एतस्स दारगस्स सीसं खातेज्जा तो कतत्थो होज्ज । निब्बंधे ववसिता । दासीए सुतं । सा तं दारगं ततो चेव घेत्तूण पलाया । अण्णं नगरं गताणि । तत्थ राया मरति । आसेणं परिक्खितो सो तत्थ राया जातो । इतरो वि सेट्ठी आगतो जाव सडितं पासति । सा पुच्छिता न कहेति । सूएणं पंजरमुक्केण कहितो बंभणाभिसंबंधो । सो तहेव चिंतेति—अहं एतीसे कतेण, एसा पुण एवं—ति पव्वइतो । इतराणि वि बंभणो वज्जा य तं चेव नगरं आगताणि सव्वं गहाय । अण्णदा विहरंतो सो साधू तत्थाऽऽगतो तीए पच्चभिण्णातो । भक्खेण समं मासगा दिण्णा । पच्छा कूवितं । गहितो रायाए मूलं णीतो । धावीए नाओ । इतराणि निव्विसयाणि आणत्ताणि । पिता भोगेहिं निमंतितो । नेच्छति । राया सड्ढो कतो । वरिसारत्ते पुण्णे वच्चंतस्स अकिरियानिमित्तं धेज्जाइएहिं दुअक्खरियाए परिभट्ठितारूवं कतं गुव्विणीय । राया अणुवजति । तीए गहितो । 'मा पवयणस्स उड्डाहो होहिति' त्ति भणति—जदि मज्झंचओ जोणीए णीतु, अह ण होति ममं तो पोट्टं भिंदित्ता णीतु । एवंभणिते पोट्टं भिण्णं । मता । वण्णो य जातो २ ॥

कुमारो–खुड्डगकुमारो जहा **जोगसंगहेहिं** ३ ॥

देवी–पुप्फभद्दे णगरे **पुप्फसेणो** राया, अग्गमहिसी य **पुप्फवती** देवी । तीसे दो चेडरूवाणि **पुप्फचूलो पुप्फचूला** य । ताणि अणुरत्ताणि भोगे भुंजंति । देवी पव्वइता देवलोगे उववण्णा देवो जातो । सो देवो एवं चिंतेति–जति एताणि एवं मरंति तो नरग-तिरिएसु उववज्जिहिन्ति । सुविणए सो देवो नरए देवलोए य उवदंसेति । सा भीता जाया पुच्छति पासंडिते । ते ण जाणंति । **अण्णियपुत्ता** तत्थ आयरिया ते सद्दाविता । तहेव सुत्तं कड्ढंति । सा भणति–किं तुब्भेहिं सुविणतो दिट्ठो ? । सो भणति–अम्हं एरिसं सुत्ते दिट्ठं । पव्वइता । देवस्स पारिणामिता ४ ॥

पुरिमतालं नगरं । **उदितोदयो** राया । **सिरिकंता** देवी । दोण्णि वि सावगाणि । परिव्वाइया जिता । दासीहिं मुहमक्कडिताहिं वेलविता णिच्छूढा पदोसमावण्णा । **वाणारसीए धम्मरुई** राया । तत्थ गता फलयपट्टियाए रूवं **सिरिकंताए** लिहिऊणं दाएति **धम्मरुयिस्स** रण्णो । सो अज्झोववण्णो दूतं विसज्जेति । पडिहतो निच्छूढो । ताहे सव्वबलेण आगतो णगरं रोहेति । सो सावगो चिन्तेति **उदितोदयो** राया–किं वहेणं जणक्खएणं ? ति उववास ठितो । **वेसमणेणं** देवेणं सनगरं साधितो । **उदितोदयस्स** परिणामिया ५ ॥

साधू य णंदिसेणे त्ति–**सेणियपुत्तो णंदिसेणो** । सीसो य तस्स ओहागुप्पेही । तस्स **णंदिसेणस्स** चिंता–भगवं जति एज्जा तो देवीओ अण्णे वि य अतिसए पेच्छिऊण जदि थिरो होज्ज त्ति । भट्टारओ आगतो । **सेणिओ** सअंतेउरो णीति, अण्णे य कुमारा सनेपुरा । **णंदिसेणस्स** अंतेपुरं सेतवरवसणं, पउमिणिमज्झे हंसीओ व्व ओमुक्कआभरणाओ सव्वासिं छायं हरंति । सो ताओ दट्ठूणं चिंतेति–जदि भट्टारएणं एरिसियाओ मुक्काओ, किमंग ! पुण मज्झ मंदभग्गस्स असन्ताणं परिचइय-व्वियाण त्ति निव्वेगमावण्णो, आलोइय-पडिक्कंतो थिरो जातो ६ ॥

धणदत्तो सुंसुमाते परिणामेति–जति एत ण खामो तो अंतरा मरामो त्ति ७ ॥

सावओ सावियवयंसियाए मुच्छितो । तीसे परिणामो जातो–मा अट्टवसट्टो मरिहि तो णरएसु तिरिएसु वा उववज्जिहिति, ससार हिंडिहिति । तीसे आभरणेहिं विणीतो । संवेगो कहणं च ८ ॥

अमच्चो त्ति–**वरधणुग**पिता जउघरे कते चिंतेति–एस कुमारो मारितो होति, बाहिं पि रक्खिज्जिति त्ति सुरुंगाते णीणितो पलातो ॥ **अण्णे** भणंति–एगो राया, देवी से अतिप्पिया कालगता । सो य मुद्धो । सो तीए वियोगदुक्खितो ण सरीर-ट्ठिइं करेति । मंतीहिं भणितो–देव ! एरिसो संसारट्ठिति त्ति किं कीरउ ? । सो भणति–नाहं देवीए सरीरट्ठितिं अकरंतीए करेमि । मंतीहिं परिचिंतियं–'न अण्णो उवाओ' त्ति पच्छा भणितं–देव ! देवी सग्गं गता, तं तत्थट्ठितियाए चेव से सव्वं पेसि-ज्जउ, लट्ठकतदेविट्ठितिपउत्तीए पच्छा करेज्जसु त्ति । रण्णा पडिस्सुतं । माइट्ठाणेण एगो पेसितो । अण्णो आगंतूण साहति–कता सरीरट्ठिती देवीए । पच्छा राया करेति । एवं पदिदिणं करेंताण कालो वच्चति । देवीपेसणववदेसेण बहुं कडिसुत्तगादि खज्जन्तियरा य । एगेण चिंतियं–अहं पि पवत्तिं कहेमि । पच्छा राया दिट्ठो । तेण भणितो–कतो तुमं ? । भणति–देव ! सग्गातो । रण्णा भणितं–देवी दिट्ठा ? त्ति । सो भणति–तीए चेव पेसितो कडिसुत्तगादिनिमित्तं ति । दावियं से जहिच्छियं किं पि ण संपडति । रण्णा भणियं –कदा गमिस्ससि ? । तेण भणितं–कल्लं ? । रण्णा भणितं–कल्लं ते संपाडिस्सं । मंती आदिट्ठा–सिग्घं संपाडेह । तेहिं चिंतियं–विणट्ठं कज्जं, को एत्थ उवाओ ? त्ति विसण्णा । एगेण भणितं–धीरा होह, अहं भलिस्सामि । तेणं तं संपाडिऊण राया भणितो–देवीए कहं जाहिति ? । रण्णा भणितं–अन्ने कहं जंतगा ? । तेण भणितं–अम्हे जं पट्ठवेंता तं जल-णप्पवेसेणं, ण अण्णहा सग्गं गम्मति त्ति । रण्णा भणितं–तहेव पवेसेह । तहेव आदत्तो । सो विसण्णो । अण्णो य धुत्तो

१. आवश्यकनिर्युक्तिगाथा ११०० हारिभद्रीयवृत्तौ ॥

वायालो रण्णो समक्खं बहुं उवहसति तं विसन्नं–जहा देवि भणिज्जसि, सिणेहवंतो ते राया, पुणो वि जं कज्जं तं संदिसेज्जासि, अण्णं च इमं च इमं च बहुविहं भणेज्जसि। तेण भणितं–देव! णाहमेत्तिगमविगलं भणिउ जाणामि, एसो चेव लट्ठो, पेसिज्जउ। रण्णा पडिस्सुतं। सो तहेव निज्जिउमाढत्तो। इतरो मुक्को। इतरस्स माणुसाणि विसण्णाणि पलवंति–हा देव! अम्हे किं करिज्जामो?। तेणे भणितं–नियतुंडं रक्खेज्जह। पच्छा मंतीहिं खरंटित मुक्का, मडगं दड्ढं। मतिस्स पारिणामिता ९ ॥

खमए–खमओ चेल्लएण समं भिक्खं हिंडति। तेण मडुकलिया मारिया। आलोयणवेलाए णाऽऽलोएति। खुड्डएणं भणिओ–आलोएह त्ति। सो रुट्ठो 'आहणामि' त्ति पधावितो खंभे आवडिओ मओ। एगत्थ विराहितसामण्णाणं सप्पाण कुले तत्थ उववण्णो दिट्ठीविसो सप्पो जातो। जाइस्सरणेण अवरोप्परं जाणंति, रत्तिं चरंति 'मा जीवे मारेहामो' त्ति, फासुगमाहारेंति। अण्णया रन्नो पुत्तो अहिणा खइतो मतो य। राया सप्पाणं पयोममावण्णो भणति–जो सप्पं मारेति तस्स दीणारं देमि। अण्णता आहिंडिएणं ताणं रेहातो दिट्ठाओ, तं बिलं ओसहीहिं धम्मति, सीसाणि निंताण छिंदति। सो अभिमुहो ण णीति 'मा कंचि मारेहामि' त्ति जातिस्सरत्तणेणं, तं निग्गयनिग्गतं छिंदति। पच्छा रण्णो उवणीताणि। सो राया **णाग**देवताए बोहिज्जति–मा मारेहि, **नागदिण्णो** ते कुमारो होहि त्ति। सो खमगसप्पो मतो समाणो तत्थ राणियाए पुत्तो जातो। उम्मुक्कबालभावो साधुं दट्ठुं जातिं संभरित्ता पव्वतितो। सो य छुहालुओ अभिग्गहं गेण्हति–न मए रूसियव्वं ति। दोसीणस्स य हिंडति। तत्थ आयरियस्स गच्छे चत्तारि खवगा–मासितो दोमासितो तिमासितो चउमासितो। रत्तिं देवता आगता ते अण्णे खमए अतिक्कमित्ता तं वंदति। खमएण निग्गच्छंती हत्थे गहिता, भणिता य–कडपूतणे! एतं तिकालभोइं वंदसि, इमे महातवस्सी ण वंदसि। सा भणति–अहं भावखमगं वंदामि, ण दव्वखमए त्ति गता। पभाए दोसीणस्स गतो निमंतेति। एगेण पाते गहाय खेलो छूढो। सो भणति–मिच्छा मि दुक्कडं जं मए खेलमल्लयं तुब्भं णोवणीतं। एवं सेसेहिं वि। जिमिउमारद्धो। तेहिं वारितो। निव्वेयमावण्णो। पंच वि सिद्धा विभासा १० ॥

अमच्चपुत्तो वरधणुओ। तस्स तेसु तेसु प्रयोजनेषु पारिणामिता। जहा–माता मोताविता, सो पलावितो एवमादी सव्वं विभासियव्वं॥ **अण्णे भणंति**–एगो मंतिपुत्तो कप्पडियरायकुमारेण समं हिंडति। अण्णदा नेमित्तिओ घडितो। रत्तिं देवकुडिठिताणं सिवा रडति। कुमारेण नेमित्तिओ पुच्छितो–किं एसा भणति? त्ति। तेण भणितं–इमं भणति, इमम्मि णदितित्थंसि पुराणीयं कलेवरं चिट्ठति, एयस्स कडीए सयं पातंकाण, कुमार! तुमं गेण्हाहि, तुज्झ पायका, मम य कलेवरं ति, मुद्दियं पुण ण सक्कुणोमि त्ति। कुमारस्स कोड्डं जातं, ते वंचिय एगागी गतो, तहेव जातं। पायंके घेत्तूण पच्चागतो। पुणो रडति। पुणो वि पुच्छितो। सो भणति–चप्फलिगाइतं। कहं? ति। एसा भणइ–कुमार! तुज्झ वि पायंकसतं जातं, मज्झ वि कलेवरं ति। कुमारो तुसिणीओ जातो। अमच्चपुत्तेण चिंतियं–पेच्छामु से सत्तं–किं किमिणत्तणेण गहितं? आहा सोडीरताए? जति किमिणत्तणेणं कैतं, ण तस्स रज्जं ति नियत्तामि। पच्चूसे भणति–वच्चह तुब्भे, मम पुण सूलं कज्जति, न सक्कुणोमि गंतुं। कुमारेण भणितं–न जुत्तं तुमं मोत्तूण गंतुं किंतु कोइ एगत्थ जाणिहिंति तेण वच्चामो। पच्छा कुलपुत्तघरं नीतो, समप्पितं च सव्वं पेज्जामुल्लं दिण्णं। मंतिपुत्तस्स अवगयं जहा–सोडीरताए ति। भणितं च णेण–अत्थि मे विमंसो अतो गच्छामि। पच्छा गतो। कुमारेण रज्जं पत्तं। भोगा वि से दिण्णा। एतस्स पारिणामिगी ११ ॥

चाणक्को–एगत्थ णगरं ण पडति। पविट्ठो तिदंडिवेसेण **चाणक्को**। वत्थूणि जोएति, इंदकुमारियातो, तासिं तणएणं ण पडति। मैताए णीणाविताओ, पडितं नगरं। एवं दो वि सालि-रयणाइं मग्गिऊण कोट्ठागाराणि सालीणं भरियाणि, रयणाइं गद्दभियादीणि तेण, जेण छिण्णाणि छिण्णाणि पुणो पुणो जायंति, आसा एगदिवसजाता मग्गिता, एगदिवसितं णवणीतं मग्गियं। एसा पारिणामिया **चाणक्क**स्स बुद्धी १२ ॥

१ वाचालेन जेटि० ॥ २ कृत-पर्याप्तम् जेटि० ॥ ३ मायया ॥

थूलभद्दसामिस्स पारिणामिता–पितुम्मि मारिते कुमारो भण्णति–अमच्चो होहि त्ति। सो **असोगवणियाए** चिंतेति–केरिसा भोगा वाउलाणं ? त्ति। ताहे पव्वयितो। राया भणति–पेच्छह, मा कवडेणं जाएज्जा। गितस्स सुणगमडो वावण्णो, णासं ण ठएति, वच्चइ पडिलेहंतो। रण्णो कहितं–विरत्तभोगो त्ति। **सिरितो** ठवितो १३॥

णासिक्कं णगरं, **नंदो** वाणियओ, **सुंदरी** से भज्जा, **सुंदरिणंदो** से णामं जातं। तस्स भाता पुव्वपव्वतितो सो सुणेति–जहा तीए अज्झोववन्नो। पाहुणतो आगतो, पडिलाहितो, भाणं तेण गहितं। 'इह एत्थ विसज्जेहिति' त्ति उज्जाणे णीतो। 'मा भोगगिद्धो णरगं जाहिति' त्ति अहिगयरेणं उवप्पलोभेमि। सो य वेउव्वितलद्धीए मक्कडिं दरिसेत्ता पुच्छति–का सुंदरि ? त्ति। **सुंदरी**। पच्छा विज्जाहरीए तुल्ला। पच्छा देवीए, 'देवी अतिसुंदरि' त्ति पुच्छितो भणति–कहं एसा लब्भति ?। 'धम्मेणं' ति पव्वइतो। साधुस्स पारिणामिकी १४॥

वइरसामिस्स देवेहिं परिणामो, तओ माता णाणुवत्तिया 'मा संघो अवमाणिहिति' त्ति। **पाडलिपुत्ते** वेउव्विए 'मा परिभविहि' त्ति। **पुरियाए** 'पवयणओभावणा मा होहिति' त्ति सव्वं कहितव्व १५॥

चलणाहणणे–राया तरुणेहिं वुग्गाहिज्जति–जहा थेरा कुमारामच्चा अवणिज्जंतु त्ति। सो तेसिं मतिपरिक्खणनिमित्तं भणति–जो रायं सीसे पाएण आहणति तस्स को दंडो ?। तरुणा भणंति–तिलं तिलं छिंदियव्वतो। थेरा पुच्छिता। 'चिंतेमो' त्ति ऊसरित्ता चिंतेन्ता 'णूणं देवीए को अण्णो आहणिहिति ?' त्ति आगता भणंति–सक्कारेयव्वओ १६॥

आमलगं कित्तिमं। एगेण णातं–अकालो, बिंबं होहिति त्ति १७॥

मणिम्मि–सप्पो पक्खीणं अंडगाणि खाति रुक्खं विलग्गित्ता। तत्थ गिद्धेण आलयं विलग्गो मारितो। तत्थ मणी पाडितो। हेट्ठा कूवो, त पाणीयं रत्तीभूतं। कूवातो णीणियं साभावितं। दारएणं थेरस्स कहितं। तेण विलग्गिऊण गहितं १८॥

सप्पो चंडकोसिओ चिंतेति–एरिसो महप्पा १९॥

खग्गो–सावगपुत्तो जोव्वणबलुम्मत्तो धम्मं नेच्छति। तत्तो खग्गेसु उववण्णो पट्ठस्स दोहि वि पासेहिं जहा पक्खरा तहा चम्माणि लंबंति। अडवीए चउम्मुहापहे जण मारेति। साहुणो य तेणेव पहेण अइक्कमति। वेगेण आगतो तेएण ण तरति अल्लिविउं। चिंतेति। जाती सभरिता। पच्चक्खाणं। देवलोगगमणं २०॥

थूभो–वेसालीए नगरीए णगरनाभीए **मुणिसुव्वयसामिस्स थूभो**। तस्स गुणेण कूणितस्स ण पडति। देवया आगासे **कूणितं** भणति–

समणं जदा **कूलवालयं, मागहिता** गणिया रमेहिती। राया य **असोगचंदए, वेसालिं** नगरिं गहिच्छिती॥ १॥

सो मग्गिज्जति। का तस्स उप्पत्ती ?। एगस्स आयरियस्स चेल्लओ अविणीतो। आयरितो अंबाडेति। वेरं वहति। अण्णया आयरिया **सिद्धसिलं** तेण समं वंदगा विलग्गा। ओयरंताणं वहाए सिला मुक्का। दिट्ठा आयरिएणं, पादा ओसारिता, इहरा मारितो होन्तो। सावो दिण्णो–दुरात्मन्! इत्थीहिंतो विणस्सिहिसि त्ति। 'मिच्छावादी भवतु' त्ति काउं तावसासमे अच्छति, णदीए कूले आयावेति, पंथब्भासे जो सत्थो एति तत्तो आहारो होइ। णदीए कूले आयावेमाणस्स सा नदी अण्णतो पवूढा तेण **कूलवारतो** जातो। तत्थ अच्छंतो आगमितो। गणियाओ सद्दाविताओ। एगा भणति–अहं आणेमि। कवडसाविगा जाता। सत्थेण गता वंदति–उद्दाणभोइग म्हि, चेइयाइं वंदामि, तुब्भे य सुता, आगता मि। पारणगे मोदगा सजोइया, अतिसारो जातो, पयोगेण ठविओ। उव्वत्तणादीहिं संभिण्णं चित्तं, आणितो, भणिओ–रण्णो वयणं करेहि। किं ?। जहा **वेसाली** घेप्पइ। थूभो णीणावितो। गहिया २१॥

---

१ पूर्वप्रव्रजितकः॥

इंदकुमारियापओगाओ चाणक्के पुव्वभणितं। एसा परिणामिता २२ ॥

एए चउव्विहबुद्धिअक्खाणयासमत्ता ॥

पं. १६. **अवग्रह** इत्यादि। 'किमपीदम्' इत्यव्यक्तज्ञानरूपार्थावग्रहादधोऽव्यक्ततरं ज्ञानमात्रमित्यर्थः। **'किमपीदम्'** इत्यव्यक्तज्ञानं यार्ऽर्थावग्रहः। व्यञ्जना-ऽर्थयोरेवावग्रहणेन विषयद्वैविध्यादवग्रहस्य द्वैविध्यं भवति। पं. २४. तत्रापि प्राप्यकारिष्विन्द्रियेषु व्यञ्जनावग्रहादनन्तरमेवार्थावग्रहो भवतीति व्यञ्जनावग्रह आदौ निरूपितः। पं. २६. **नयन-मनसो-**रित्यादि, विषयभूतं वस्तु अप्राप्य–संश्लेषद्वारेणानासाद्य करोति–परिच्छिनत्ति चक्षुःकर्तृ विषयपरिच्छेदमित्यप्राप्यकारि तदुच्यते। अप्राप्यकारि लोचनम्, ग्राह्यवस्तुकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वात्, मनोवत्, यदि हि लोचन ग्राह्यवस्तुना सह सम्बध्य तत्परिच्छेदं कुर्यात् तदाऽग्न्यादिदर्शने स्पर्शनस्येव दाहाद्युपघातः स्यात्, कोमलतूल्याद्यवलोकने त्वनुग्रहो भवेत्, न चैवम्, तस्मादप्राप्यकारि लोचनम्। अथ प्रागुक्तोऽसिद्धो हेतुः, ग्राह्यवस्तुकृतानुग्रहोपघातदर्शनात्। तथाहि–जल-घृत-नीलवसन-वनस्पतीन्दुमण्डलाद्यवलोकने नयनस्य परमाश्वासलक्षणोऽनुग्रहः समीक्ष्यते, सूर-सितभित्त्यादिदर्शने तु जलविगलनादिरूप उपघातः सन्दृश्यत इति, अत्रोच्यते, नहि वयमेतद् ब्रूमः–यदुत चक्षुषः कुतोऽपि वस्तुनः सकाशात् कदापि सर्वथैवानुग्रहोपघातौ न भवतः, किन्तु भवत एव, रविकरान् चिरमवलोकयतो द्रष्टुः चक्षुः स्पर्शनेन्द्रियमिव दह्येत, शीतलं च शीतरश्मि-जल-घृतादिकं वस्तु चिरमवलोकयतोऽनुग्रहं मन्येत चक्षुरित्येतावता अप्राप्यकारिचक्षुर्वादिनामस्माकं न कश्चिद् दोषः, दृष्टस्य बाधितुमशक्यत्वात्। केवलमिदमेवास्माभिर्निरस्यते–यदुत विषयदेशं गत्वा आदित्यमण्डलादिसमाक्रान्तदेशं समाश्लिष्य चक्षुःकर्तृ न रूपं परिच्छिनत्ति, नाप्यन्यतश्चक्षुर्देशमागतं रूपमक्षिस्थमञ्जन-तेजो-मल-शलाकादिकं स्वयं चक्षुः पश्यति, किन्त्वप्राप्तमेव योग्यदेशस्थं विषयं तत् पश्यतीति। परिच्छेदानन्तरं तु पश्चात्प्राप्तेन केनाप्युपघातकेनानुग्राहकेण वा मूर्तिमता द्रव्येण चक्षुष उपघाताऽनुग्रहौ न निषिध्येते, विष-शर्करादिभक्षणे मूर्च्छा-स्वास्थ्यादय इव मनस.। पं. ३० परः प्राह–नयनान्नायना रश्मयो निर्गत्य प्राप्य च रविबिम्बरश्मय इव वस्तु प्रकाशयन्तीति सूक्ष्मत्वेन तैजसत्वेन च तेषां वह्न्यादिभिर्दाहादयो न भवन्ति, रविरश्मिषु तथादर्शनादिति नयनस्य प्राप्यकारिताऽभिधीयते, तदयुक्तम्, **महाज्वालादौ प्रतिस्खलन**दर्शनात् **आदि**ग्रहणात् तेषां प्रत्यक्षादिप्रमाणाग्राह्यत्वेन श्रद्धातुमशक्यत्वात्, प्रमाणाग्राह्यस्याप्यस्तित्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गादिति ग्राह्यम्। तथाऽचेतननायनरश्मीनां वस्तुपरिच्छेदाभ्युपगमे नख-दन्त-भालतलादिगतशरीररश्मीनामपि स्पर्शविषयवस्तुपरिच्छेदप्रसङ्गाच्चेति।

[पृष्ठ ५०]

पं. १०. **"तस्स णं इमे"**। इत्यादि पं. ११. **एकार्थिकानि** परमार्थत एकार्थविषयाणि **नानाघोषाणि** पृथग्भिन्नोदात्तादिस्वराणि **नानाव्यञ्जनानि** पृथग्भिन्नककाराद्यक्षराणि **नामधेयानि** पर्यायध्वनयः। यथाऽवग्रहस्य पञ्च नामधेयानि एवमीहायाः षड्भेदायास्तथाऽपायस्य धारणायाश्च पञ्च नामधेयानि क्रमेण दर्शयिष्यति।

पंचहिं वि इंदिएहि, मणसा अत्थोग्गहो मुणेयव्वो।
चक्खिंदिय-मणरहियं, वंजणमीहाइयं छद्धा ॥ १ ॥ [जीवसमास गा० ६२]

पं. २१. **किं मन्द्र** इति गम्भीरः **तार** उच्चैस्तरध्वनिमान्। पं. २२. **यत्रे**ति नयन-मनसोर्विषये व्यञ्जनावग्रहो नास्ति। तत्र चतुर्विधव्यञ्जनावग्रहविषये अवग्रहणता-उपधारणतालक्षणभेदद्वयस्याभावः। पं. ३०. ईहायां **मार्गणते**ति "किमयं स्थाणुः पुरुषो वा" इति वितर्के 'वल्ल्युत्सर्पण-काकनिलयनादिधर्मदर्शनात् स्थाणुना भाव्यम्, नेतरेण, शिरःकण्डूयन-चलनादितदीयधर्मादर्शनात्' इत्येवं व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तश्चापायाभिमुख एव बोध ईहा इति। एवमीहायामेषां धर्माणां यदन्वेषणं सा मार्गणता ॥

[पृष्ठ ५१]

पं. २. **सद्धर्मानुगत** इति, सद्धर्मिणि—वस्तुनि अनुगतः सद्धर्मानुगतः। पं. १३. **अप अयः**—सामस्त्येन परिच्छेदोऽपायः, मधुर-स्निग्धत्वादिगुणत्वात् 'शङ्खस्यैवायं शब्दः, न शृङ्गस्य' इत्यादि यद् विशेषविज्ञानं सोऽपायः। पं. २२. अपायेन निश्चितेऽर्थे तदनन्तरं यावदद्यापि तदर्थोपयोगे सातत्येन वर्तते, न तु तस्मान्निवर्त्तते, तावत् तदर्थोपयोगाद **अविच्युतिर्नाम** धारणायाः प्रथमभेदो भवति। पं. २५. यत् कर्मक्षयोपशमवशाज्जीवस्य कालान्तरे इन्द्रियव्यापारादि-सामग्रीवशात् पुनरप्यपायावधारितोऽर्थः स्मृतिरूपेणोन्मीलति सा संस्काररूपा **वासना** नाम धारणाभेदः। कालान्तरे च वासना-वशात् तदर्थस्येन्द्रियैरुपलब्धस्याथवा तैरनुपलब्धस्यापि मनसि या स्मृतिराविर्भवति सा तृतीयस्तद्भेदः। पं. २७. अत्र मति-दौर्बल्यादिकारणकलापादवग्रहेहादीनां दुर्विज्ञेयत्वेऽपि सर्वज्ञमतप्रामाण्यादवितथत्वमेव भावनीयमित्यावेदयन्नाह—**इह चे**त्यादि। पं. २९ **एकाधिकरणत्वाद्** एकाश्रयत्वात्।

[पृष्ठ ५३]

पं. ३. **न पुनर्विंशत्ये**त्यादि, विंशतिदिनापेक्षया यथा अपान्तराल आसन्नो योऽसावागमनसमयः कालविशेषरूपस्तद्दिन-भावी अतिक्रान्तप्राचीनदिननिरपेक्षः पथिकस्य गृहप्रवेशकारणम्, न तथा प्रकृते प्राचीनसमयरहितचरमासंख्येयसमयप्रविष्ट-पुद्गलराशिरप्यर्थावग्रहकारणम्, किन्त्वादित आरभ्य प्रतिसमयप्रवेशेन निरन्तरमसङ्ख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गलाः शब्दविज्ञानजनकार्था-वग्रहहेतवो भवन्तीति भाव.। स्फुटशब्दविज्ञानहेतवश्च चरमसमयप्रविष्टा एव यद्यपि भवन्ति, नेतरे, तथापीतरे तत्साहाय्यभावेन व्याप्रियन्त इत्योघत· सर्वेषां सामान्येन ग्रहणमुच्यते।

[पृष्ठ ५४]

पं. १. अथ 'केयं **मल्लक**दृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणा'[१], इति पृष्टे तां वक्तुमाह—**तद् यथे**त्यादिना। पं. ४. "मल्लेयं पवाहेहि" त्ति प्लावयिष्यति। पं. ५. व्यञ्जनं पूरितं भवति तोयेन मल्लकमिव। पं. ६. **सम्बन्धो वे**ति द्रव्य-इन्द्रिययोः सम्बन्धः। **यदा द्रव्यं व्यञ्जन**मिति, शब्दादिविषयपरिणतपुद्गलसमूहरूपम्। पं. ७. **स्वविषयव्यक्ता**विति स्वग्राहकज्ञानजनने। पं. ८. **आभृत**मिति, वासितमित्यर्थः। पं. ९. **नाम-जात्यादिकल्पनारहित**मिति, एतच "ताहे हुं ति करेइ" इत्यस्य व्याख्यानम्। पं. ११. **अत्रार्थावग्रहात् पूर्व**मिति अन्तर्मुहूर्त्ते द्रव्यप्रवेशादिरूप इत्यर्थः। पं. १२. इदानीं "से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा" इत्यादिकस्य वक्ष्यमाणसूत्रस्य व्याख्यानाय समवतारं कुर्वन् पातनात्रयं करोति—**अत्राहे**त्यादिना आद्यम्, **अथवा यदुक्त**मित्यादिका द्वितीया, **अथवा सुप्ते**त्यादिना तृतीयेति। पं. १७. **अव्यक्तमिति अनिर्देश्यम्**, कोऽर्थः? 'शब्दोऽयम्, रूपादिर्वा' इत्यादिप्रकारेण निर्देष्टुमशक्यमव्यक्तम्। **स्वरूप-नामादी**ति, आदिशब्दाद् जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यग्रहः। पं. १८. **तस्य चे**ति अर्थावग्रहस्य। पं. १९. **आहे**ति परो ब्रूते। पं. २३. **सम्बद्ध**मिति युक्तमित्यर्थः। **नैतदेव**मित्यादिना सूरिः प्रतिविधत्ते। पं. २५. **न तु शब्दबुद्धये**ति 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायेनेति न। **तस्यैवे**ति, अर्थावग्रहं विनैव 'तस्यैव' शब्दमात्रस्यापायप्रसङ्गात्। पं. २८. तस्माद् व्यञ्जनापूरणे जातेऽव्यक्तमनिर्देश्यस्वरूपं शब्दाद्युल्लेखरहितमर्थमात्रमवगृह्णाति। एतदेवाऽऽह **भाष्यकारः**—**अव्वत्ते**त्यादि।

सामण्णमणिद्देसं सरूव-नामाइकप्पणारहियं।
जइ एवं जं 'तेणं गहिए सद्दे' त्ति तं किह णु? ॥ १ ॥

"अव्वत्तमनिद्देस"मिति **वृत्तौ** पाठो दृश्यते। तत्र "अव्वत्तं" इति विवृणोति। **सामण्ण**मिति। ग्राह्यवस्तुनः सामान्य-

---

[१] यद्यपि एतत् पदं **वृत्तौ** न वर्तते तथापि "**शेषं सुगमम्**" इत्यादिना सूत्रगतमवबोद्धव्यम्॥

विशेषात्मकत्वे सत्यप्यर्थावग्रहेण सामान्यरूपमेवार्थं गृह्णाति, न विशेषरूपम्, अर्थावग्रहस्यैकसामयिकत्वात्, समयेन च विशेषग्रहणायोगादिति । सामान्यार्थश्च कश्चिद् ग्राम-नगर-वन-सेनादिशब्देन निर्देश्योऽपि भवति तद्व्यवच्छेदार्थमाह—'अनिर्देश्यं' केनापि शब्देनानभिलप्यम् । कुतः पुनरेतत् ? इत्याह—यतः स्वरूप-नामादिकल्पनारहितम्, आदिशब्दाज्जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यपरिग्रहः । तत्र रूप-रसाद्यर्थानां य आत्मीयश्चक्षुरादीन्द्रियगम्यः प्रतिनियतः स्वभावः तत् स्वरूपम् । रूप-रसादिकस्तु तदभिधायको ध्वनिर्नाम । रूपत्व-रसत्वादिका तु जातिः । 'प्रीतिकरमिदं रूपम्, पुष्टिकरोऽयं रसः' इत्यादिकस्तु शब्दः क्रियाप्रधानत्वात् क्रिया । कृष्ण-नीलादिकस्तु गुणः । पृथिव्यबादिकं पुनर्द्रव्यम् । एषां स्वरूप-नाम-जात्यादीनां कल्पना—अन्तर्जल्पारूषितज्ञानरूपा तया रहितमेवार्थमर्थावग्रहेण गृह्णाति यतो जीवः, तस्मादनिर्देश्योऽयमर्थः प्रोक्तः, तत्कल्पनारहितत्वेन स्वरूप-नाम-जात्यादिप्रकारेण केनापि निर्देष्टुमशक्यत्वादिति । एवमुक्ते सति परः प्राह—"जइ एव"मित्यादि, यदि स्वरूप-नामादिकल्पनारहितोऽर्थोऽर्थावग्रहस्य विषय इत्येवं व्याख्यायते भवद्भिस्तर्हि "जं" ति यद् नन्द्यध्ययनसूत्रे प्रोक्तम्, किम् ? इत्याह—"तेण गहिए सद्दे" त्ति, उपलक्षणत्वादित्थं सम्पूर्णं द्रष्टव्यम्—"से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्द सुणेज्जा, तेणं 'सद्दे' त्ति उग्गहिए, न उण जाणइ 'के वेस सद्दाइ' त्ति "तं किह णु" त्ति तदेतत् कथमविरोधेन नीयते ?, युष्मद्व्याख्यानेन सह विरुध्यत एवेदमित्यर्थः । तथाहि—अस्मिन् नन्दिसूत्रेऽयमर्थः प्रतीयते, यथा—अनेन प्रतिपत्त्राऽर्थावग्रहेण शब्दोऽवगृहीत इति, भवन्तस्तु शब्दाद्युल्लेखरहितं सर्वथाऽमुं प्रतिपादयन्ति तत्कथं न विरोधः ? इति भाव इति गाथार्थः ॥ १ ॥ अत्रोत्तरमाह—

पं. २९. **सद्दे त्ति भणइ वत्ता, तम्मत्तं वा न सद्दबुद्धीए ।**
जइ होज्ज सद्दबुद्धी तोऽवाओ चेव सो होज्जा ॥ २ ॥

'शब्दस्तेनावगृहीतः' इति यदुक्तं तत्र 'शब्द' इति 'वक्ता' प्रज्ञापकः सूत्रकारो वा 'भणति' प्रतिपादयति, अथवा 'तन्मात्रं' शब्दमात्रं रूप-रसादिविशेषव्यावृत्त्याऽनवधारितत्वाच्छब्दतयाऽनिश्चितं गृह्णातीति एतावतांशेन शब्दस्तेनावगृहीत इत्युच्यते, न पुन 'शब्दबुद्ध्या' शब्दोऽयमित्यध्यवसायेन तच्छब्दवस्तु तेनावगृहीतम्, शब्दोल्लेखस्यान्तर्मौहूर्तिकत्वाद् अर्थावग्रहस्य त्वेकसामयिकत्वादसम्भव एवायमिति भाव । यदि पुनस्तत्र शब्दबुद्धिः स्यात् तर्हि को दोषः स्यात् ? इत्याशङ्क्य सूत्रकार स्वयमेव दूषणान्तरमाह—"जई"त्यादि यदि पुनरर्थावग्रहे 'शब्दबुद्धिः' शब्दनिश्चय. स्यात् तदाऽपाय एवासौ स्यात्, न त्वर्थावग्रह, निश्चयस्यापायस्वरूपत्वात् । ततश्चार्थावग्रहेहाभाव एव स्यात्, न चैतद् दृष्टमिष्टं वेति गाथार्थ ॥ २ ॥ अत्राह परः—ननु प्रथमसमय एव रूपादिव्यपोहेन 'शब्दोऽयम्' इति प्रत्ययोऽर्थावग्रहत्वेनाभ्युपगम्यताम्, शब्दमात्रत्वेन सामान्यत्वात्; उत्तरकालं तु प्रायो माधुर्यादयः शाङ्खशब्दधर्मा इह घटन्ते, न तु शार्ङ्गधर्मा खर-कर्कशत्वादय इति विमर्शबुद्धिरीहा, तस्मात् 'शाङ्ख एवायं शब्द' इति तद्विशेषस्त्वपायोऽस्तु, तथा च सति "तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए" इदं यथाश्रुतमेव व्याख्यायते, "नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ ? तओ ईहं पविसई"त्याद्यपि सर्वमविरोधेन गच्छतीति । तदेतत् परोक्तं सूरि प्रत्यनुभाष्य दूषयति, यथा—

पं. ३०. **जइ सद्दबुद्धिमेत्तयमवग्गहो, तव्विसेसणमवाओ ।**
णणु सद्दो नासद्दो, न य रूवाई विसेसोऽयं ॥ ३ ॥

भोः पर ! यदि 'शब्दबुद्धिमात्रं' शब्दोऽयमिति निश्चयज्ञानमपि भवताऽर्थावग्रहोऽभ्युपगम्यते 'तद्विशेषणं तु' तस्य—शब्दस्य विशेषणं—विशेषः 'शाङ्ख एवायं शब्दः' इत्यादिविशेषज्ञानमित्यर्थ, 'अपायः' मतिज्ञानतृतीयभेदोऽङ्गीक्रियते, हन्त तर्हि अवग्रहलक्षणस्य तदाद्यभेदस्याभावप्रसङ्गः, प्रथमत एवावग्रहमतिक्रम्यापायाभ्युपगमात् । कथं पुनः शब्दज्ञानमपायः ? इति चेत्, उच्यते—तस्यापि विशेषग्राहकत्वात्, विशेषज्ञानस्य च भवताऽप्यपायत्वेनाभ्युपगतत्वात् । ननु 'शाङ्ख एवायं शब्दः' इत्यादिकमेव तदुत्तरकालभावि ज्ञानं विशेषग्राहकम्, शब्दज्ञाने तु शब्दसामान्यस्यैव प्रतिभासनात् कथं विशेषप्रतिभासः ? येनापायप्रसङ्गः स्यात्, इत्याह—"णणु"

इत्यादि, 'ननु' इति अक्षमायां परामन्त्रणे वा, ननु 'शब्दोऽयम्, नाशब्दः' इति 'विशेषोऽयं' विशेषप्रतिभास एवायमित्यर्थः, कथं पुनः 'नाशब्दः' इति निश्चीयते ? इत्याह—न च रूपादिरिति, चशब्दो हिशब्दार्थे, आदिशब्दाद् गन्ध-रस-स्पर्शपरिग्रहः। ततश्चेदमुक्तं भवति—यस्मान्न रूपादिरयम्, तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन गृहीतत्वात्, अतो 'नाशब्दोऽयम्' इति निश्चीयते, यदि तु रूपादिभ्योऽपि व्यावृत्तिर्गृहीता न स्यात् तदा 'शब्दोऽयम्' इति निश्चयोऽपि न स्यादिति भावः । तस्मात् 'शब्दोऽयम्, नाशब्दः' इति विशेषप्रतिभास एवायम् । तथा च सति अस्याप्यपायप्रसङ्गतोऽवग्रहाभावप्रसङ्ग इति स्थितमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

अथ परोऽवग्रहाऽपाययोर्विषयविभागं दर्शयन्नाह—

पं. ३१. **थेवमियं नावाओ, संखाइविसेसणं अवाओ त्ति ।**
तब्भेयावेक्खाए ननु थोवमियं पि नावाओ ॥ ४ ॥

'इदं' शब्दबुद्धिमात्रकं शब्दमात्रस्तोकविशेषावसायित्वात् 'स्तोकं' स्तोकविशेषग्राहकम्, अतोऽपायो न भवति, किन्त्ववग्रह एवायमिति भावः । कः पुनस्तर्ह्यपायः ? इत्याह—"संखाई"त्यादि, 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इत्यादिविशेषणविशिष्टं यद् ज्ञानं तदपायः, बृहद्विशेषावसायित्वादिति हृदयम् । हन्त यदि यद् यत् स्तोकं तत् तद नापायस्तर्हि निवृत्ता साम्प्रतमपायज्ञानकथा, उत्तरोत्तरार्थविशेषग्रहणापेक्षया पूर्वपूर्वार्थविशेषाध्यवसायस्य स्तोकत्वात् । एतदेवाह—"तब्भेये"त्यादि तस्य—शाङ्खशब्दस्य ये उत्तरोत्तरभेदा मन्द्र-मधुरत्वादयः तरुण-मध्यम-वृद्ध-स्त्री-पुरुषसमुद्भवत्वादयश्च तदपेक्षया तदपेक्षायां सत्यामिदमपि 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इति ज्ञानं ननु 'स्तोकं' स्तोकविशेषग्राहकमेवेति नापायः स्यात् । एवमुत्तरोत्तरविशेषग्राहिणामपि ज्ञानानां तदुत्तरोत्तरभेदापेक्षया स्तोकत्वादपायत्वाभावो भावनीय इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

तदेवं "से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जे"त्यादिसूत्रानुरोधेन शब्दमाश्रित्यावग्रहादयो भाविताः ।

[पृष्ठ ५५]

प. ७. अथ सूत्रकारेणैव यदुक्तम्—"एवं एएणं अभिलावेणं अव्वत्तं रूवं रसं गंधं फास"मित्यादि तच्चेतसि निधाय **भाष्यकारो**ऽप्यतिदेशमाह—

सेसेसु वि रूवाइसु विसएसुं हुंति सूवलक्खाइं ।
पायं पच्चासन्नत्तणेणमीहाइवत्थूणि ॥ १ ॥

यथा शब्द एवं शेषेष्वपि रूपादिषु विषयेषु साक्षादनुक्तान्यपि 'सूपलक्ष्याणि' कथितानुसारप्रसरत्प्रज्ञानां चतुरचेतसां सुज्ञेयानि भवन्ति । कानि ? इत्याह—ईहादीन्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भेदवस्तूनि । केन सूपलक्ष्याणि ? इत्याह—प्रायः प्रत्यासन्नत्वेन चक्षुरादिना गृह्यमाणस्य स्थाण्वादेस्तत्रागृह्यमाणेन पुरुषादिना सह प्रायो बहुभिर्धर्मैर्यत् प्रत्यासन्नत्वं—या प्रत्यासत्तिः सादृश्यमिति यावत्, तेनेहादीनि ज्ञेयानि, न पुनरत्यन्तवैलक्षण्यस्थाण्वादेरुष्ट्रादिना सहेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—अवग्रहे तावत् सामान्यमात्रग्राहकत्वाद् द्वितीयवस्त्वपेक्षाऽपि न विद्यते, ईहा पुनरुभयवस्त्ववलम्बिनी, तत्र पुरोदृश्यमानस्य वस्तुनो यत् प्रतिपक्षभूतं वस्तु तत् प्रायो बहुभिर्धर्मैः प्रत्यासन्नं ग्राह्यम्, न पुनरत्यन्तविलक्षणम्; पुरतो हि मन्दमन्दप्रकाशे दूराद् दृश्यमाने स्थाण्वादौ 'किमयं स्थाणुः ? पुरुषो वा ?' इत्येवमेवेहा प्रवर्त्तते, ऊर्ध्वस्थाना-ऽऽरोह-परिणाहतुल्यतादिभिः प्रायो बहुभिर्धर्मैः पुरुषस्य स्थाणुप्रत्यासन्नत्वादिति, 'किमयं स्थाणुः ? उष्ट्रो वा ?' इत्येवं तु न प्रवर्त्तते, उष्ट्रस्य स्थाण्वपेक्षया प्रायोऽत्यन्तविलक्षणत्वात् । अत एव सामान्यमात्रग्राही अवग्रहोऽत्राऽऽदौ न कृतः, किन्तु 'ईहादीनि' इत्येवमेवोक्तम्, उभयवस्त्ववलम्बित्वेनेहाया एव "पायं पच्चासन्नत्तणेणे"ति विशेषणस्य सफलत्वात् । अपायस्यापि 'स्थाणुरेवायम्, न पुरुषः' इत्यादिरूपेण प्रवृत्तेः किञ्चिद् विशेषणस्य सफलत्वादादि-

शब्दोऽप्यविरुद्ध इति गाथार्थः ॥ १ ॥ इह 'किं शब्दः ? अशब्दो वा ?' इति श्रोत्रेन्द्रियस्य [प्रत्यासन्नवस्तूपदर्शनं कृतमेव । अथ शेषचक्षुरादीन्द्रियाणां विषयभूतानि] प्रत्यासन्नवस्तूनि क्रमेण दर्शयति—

पं. ८. **थाणुपुरिसाइ-कुट्ठुप्पलाइ-संभियकरिल्लमंसाई ।**
सप्पुप्पलनालाइ व समाणरूवाइविसयाइं ॥ २ ॥

"ईहादिवस्तूनि सूपलक्ष्याणि" इत्युक्तम् । कथम्भूतानि सन्ति पुनस्तानि सूपलक्ष्याणि ? इत्याह—समानः—समानधर्मा रूपरसादिर्विषयो येषामीहादीनां तानि समानरूपादिविषयाणीति पूर्वगाथायां सम्बन्धः । कः पुनरमीषां समानधर्मा रूपादिर्विषयः ? इत्याह—स्थाणु-पुरुषादिवदिति, पर्यन्ते निर्दिष्टो विषयोपदर्शनाभिद्योतको वच्छब्दः सर्वत्र योज्यते, ततश्चक्षुरिन्द्रियप्रभवस्येहादेः स्थाणुपुरुषादिवत् समानधर्मा रूपविषयो द्रष्टव्यः, आदिशब्दात् 'किमियं शुक्तिका रजतखण्डं वा ? मृगतृष्णिकाः पयःपूरो वा ? रज्जुः विषधरो वा ?' इत्यादिपरिग्रहः । घ्राणेन्द्रियप्रभवस्येहादेः कुष्ठोत्पलादिवत् समानगन्धो विषयः, ततः कुष्ठं—गन्धिकहट्टविक्रेयो वस्तुविशेषः उत्पलं—पद्मं अनयोः किल समानो गन्धो भवति तत ईदृशेन गन्धेन 'किमिदं कुष्ठम् ? उत्पलं वा ?' इत्येवमीहाप्रवृत्तिः, आदिशब्दात् 'किमत्र सप्तच्छदाः मत्तकरिणो वा ? कस्तूरिका वनगजमदो वा ?' इत्यादिपरिग्रहः । रसनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः सम्भृतकरील-मांसादिवत् समानरसो विषयः, तत्र सम्भृतानि—संस्कृतानि सन्धानीकृतान्यस्थितानि यानि वंशजालिसम्बन्धीनि करीलानि तथा मांसम्, अनयोः किलाऽऽस्वादः समानो भवति, ततोऽन्धकारादावन्यतरस्मिन् जिह्वाग्रप्रदत्ते भवत्येवम्—'किमिदं सम्भृतवंशकरीलम् ? आमिषं वा ?' इति, आदिशब्दात् 'गुडः खण्डं वा ? मृद्वीका शुष्कराजादनं वा ?' इत्यादिपरिग्रहः । स्पर्शनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः सर्पोत्पलनालादिवत् समानस्पर्शो विषयः, सर्पोत्पलनालयोश्च तुल्यस्पर्शत्वेनेहाप्रवृत्तिः सुगमैव, आदिशब्दात् स्त्रीपुरुषलेष्टूपलादिसमानस्पर्शवस्तुपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ २ ॥ अथ यदुक्तं सूत्रे "से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासेज्जा" इत्यादि, तदनुसृत्य स्वप्ने मनसोऽप्यवग्रहादीन् दर्शयन्नाह—

पं. ९. **एवं चिय सिमिणाइसु मणसो सद्दाइएसु विसएसु ।**
होंतिंदियवावाराभावे वि अवग्गहाईया ॥ ३ ॥

'एवमेव' उक्तानुसारेणेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि स्वप्नादिषु, आदिशब्दाद् दत्तकपाट-सान्धकारापवरकादीनीन्द्रियव्यापाराभाववन्ति स्थानानि गृह्यन्ते, तेषु केवलस्यैव मनसो मन्यमानेषु शब्दादिविषयेषु 'अवग्रहादयः' अवग्रहेहा-ऽपाय-धारणा भवन्तीति स्वयमभ्यूह्याः । तथाहि—स्वप्नादौ चित्तोत्प्रेक्षामात्रेण श्रूयमाणे गीतादिशब्दे प्रथमं सामान्यमात्रोत्प्रेक्षायामवग्रहः 'किमयं शब्दः ? अशब्दो वा ?' इत्याद्युत्प्रेक्षायां त्वीहा, शब्दनिश्चये पुनरपायः, तदनन्तरं तु धारणा । एवं देवतादिरूपे, कर्पूरादिगन्धे, मोदकादिरसे, कामिनीकुचकलशादिस्पर्शे चोत्प्रेक्ष्यमाणेऽवग्रहादयो मनसः केवलस्य भावनीया इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

मतिज्ञानमिदं द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधम् । यदाह भाष्यकृत्—

तं पुण चउव्विहं नेयभेयओ तेण जं तदुवउत्तो ।
आएसेणं सव्वं दव्वाइ चउव्विहं मुणइ ॥ १ ॥

'तत् पुनः' आभिनिबोधिकज्ञानं 'चतुर्विधं' चतुर्भेदम् । नन्ववग्रहादिभेदेन भेदकथनं प्रागस्य कृतमेव, किमिह पुनरपि भेदोपन्यासः ? सत्यम्, ज्ञेयमेवेह द्रव्यादिभेदेन चतुर्भेदम्, ज्ञानस्य तु ज्ञेयभेदादेव भेदोऽत्राभिधीयते, सूत्रे तथैवोक्तत्वात् । तच्चेदं सूत्रम्— "तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ न पासई"त्यादि । ज्ञेयभेदादपि तत् कथं चतुर्विधम् ? इत्याह—"जं तदुवउत्तो" इत्यादि, 'यद्' यस्मात् कारणात् 'तेन' आभिनिबोधिकज्ञानेन सर्वं द्रव्यादि मुणतीति सम्बन्धः । कथम्भूतम् ? इत्याह—'चतुर्विधं' चतुर्भेदं द्रव्य-क्षेत्र-काल-

भावभेदभिन्नमित्यर्थः । कथम्भूतः सन् मुणति ? इत्याह–तस्मिन्नेव–आभिनिबोधिकज्ञाने उपयुक्तः तदुपयुक्तः । केन ? इत्याह–आदेशेनेति ॥ १ ॥ कोऽयमादेशः ? इत्याह—

पं. २८. **आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं ।**
धम्मत्थियाइयाइं जाणइ, न उ सव्वभेएणं ॥ २ ॥

इह 'आदेशो नाम' ज्ञातव्यवस्तुप्रकारः । स च द्विविधः–सामान्यप्रकारो विशेषप्रकारश्च । तत्र 'ओघादेशेन' सामान्यप्रकारेण द्रव्यजातिसामान्येनेत्यर्थः, सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, 'असंख्येयप्रदेशात्मको लोकव्यापकोऽमूर्त्तः प्राणिनां पुद्गलानां च गत्युपष्टम्भहेतुर्धर्मास्तिकायः' इत्यादिरूपेण कियत्पर्यायविशिष्टानि षडपि द्रव्याणि सामान्येन मतिज्ञानी जानातीत्यर्थः । अनभिमतप्रकारप्रतिषेधमाह–'न तु सर्वभेदेन' न सर्वैर्विशेषैर्न सर्वैरपि पर्यायैः केवलिदृष्टैर्विशिष्टानि तानि द्रव्याण्यसौ जानातीत्यर्थः, केवलज्ञानगम्यत्वादेव सर्वपर्यायाणामिति भावः ॥ २ ॥

धर्मास्तिकायादिभेदेन कथितं सामान्येन द्रव्यम् । अथ क्षेत्रादिस्वरूपं विशेषतः प्राह—

[पृष्ठ ५६]

प. १. **खेत्तं लोगालोगं, कालं सव्वद्धमहव तिविहं पि ।**
पंचोदइयाईए भावे, जं नेयमेवइयं ॥ ३ ॥

क्षेत्रमपि लोका-ऽलोकस्वरूपं सामान्यादेशेन कियत्पर्यायविशिष्टं सर्वमपि जानाति, न तु विशेषादेशेन सर्वपर्यायैर्विशिष्टमपि । एवं कालमपि सर्वाद्धारूपम्, अतीता-ऽनागत-वर्तमानभेदतस्त्रिविधं वा इत्येक एवार्थः । भावतस्तु सर्वभावानामनन्तभागं जानाति, औदयिकौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकान् वा पञ्च भावान् सामान्येन जानाति, न परतः । कुतः ? इत्याह 'यद्' यस्मादेतावदेव ज्ञेयमस्ति, नान्यदिति । इह क्षेत्र-कालौ सामान्येन द्रव्यान्तर्गतावेव, केवलं भेदेन रूढत्वात् पृथगुपादानमवसेयमिति ॥ ३ ॥ आदेशस्य व्याख्यानान्तरमाह—

पं. २. **आएसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं ।**
पसरइ तब्भावणया विणा वि सुत्ताणुसारेण ॥ ४ ॥

अथवा आदेशः सूत्रमुच्यते । तेन सूत्रादेशेन सूत्रोपलब्धेष्वर्थेषु 'तस्य' मतिज्ञानिनः सर्वद्रव्यादिविषयं मतिज्ञानं प्रसरति । ननु श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु तद् ज्ञानं तत् श्रुतमेव भवति, कथं मतिज्ञानम् ? इत्याह–"तब्भावणये"त्यादि, तद्भावनया श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव यद् द्रव्यादिषु प्रवर्त्तते तत् सूत्रादेशेन मतिज्ञानमिति भावः । एतच्च पूर्वमपि—

पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं ।
तन्निस्सियमियरं पुण, अणिस्सियं मइचउक्कं तं ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० १६९]

इत्यादिप्रक्रमे प्रोक्तमेवेति गाथाचतुष्टयार्थः ॥ ४ ॥

पं. ५. अत्र श्रुतनिश्रितानवग्रहादींस्तावदाह—

उग्गहो ईह अवाओ य धारणा एव होंति चत्तारि ।
आभिणिबोहियनाणस्स भेयवत्थू समासेणं ॥ सू. गा. ७२ ॥

रूप-रसादिभेदैरनिर्देश्यस्य अव्यक्तस्वरूपस्य सामान्यार्थस्यावग्रहणं–परिच्छेदनमवग्रहः । तेनावगृहीतस्यार्थस्य भेदविचारणं वक्ष्यमाणगत्या विशेषान्वेषणमीहा । तया ईहितस्यैवार्थस्य व्यवसायः–तद्विशेषनिश्चयोऽपायः । चशब्दोऽवग्रहादीनां पृथक्

पृथक् स्वातन्त्र्य प्रदर्शनार्थः, तेनैतदुक्तं भवति—अवग्रहादेरीहादयः पर्याया न भवन्ति, पृथग्भेदवाचकत्वादिति । निश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युत्यादिरूपेण धरणं धारणा । एवकार. क्रमद्योतनपरः, अवग्रहादीनामुपन्यासस्यायमेव क्रमः, नान्यः, अवगृहीतस्य-वेहनात्, ईहितस्यैव निश्चयात्, निश्चितस्यैव धारणादिति । एवमेतान्याभिनिबोधिकज्ञानस्य चत्वार्येव भेदवस्तूनि 'समासेन' सङ्क्षेपेण भवन्ति । विस्तरतस्त्वष्टाविंशत्यादिभेदभिन्नम् । इदं प्रागुक्तमेवेति भावः । तत्र भिद्यन्ते परस्परमिति भेदाः—विशेषाः त एव वस्तूनि भेदवस्तूनीति समास इति गाथार्थः ॥ अथ सूत्रकार एवावग्रहादीन् व्याख्यानयन्नाह—

पं. ७. **अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं, तह वियालणं ईहं ।**
ववसायं च अवायं, धरणं पुण धारणं बेंति ॥ सू. गा. ७३ ॥

'अर्थानां' रूपादीनां प्रथमदर्शनानन्तरमेव 'अवग्रहणं' अवग्रहं ब्रुवत इति सम्बन्धः । तथा 'विचारणं' पर्यालोचनम्, अर्थानामिति वर्त्तते, ईहनमीहा तां ब्रुवते । इदमुक्तं भवति—अवग्रहादुत्तीर्णोऽपायात् पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थ-विशेषत्यागसम्मुखश्च 'प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्मा अत्र निरीक्ष्यन्ते, न तु शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्माः' इति मतिविशेष ईहेति । विशिष्टोऽवसायो व्यवसायः—निश्चयस्तं व्यवसायम्, अर्थानामितीहापि वर्त्तते, अपायमवायं वा ब्रुवते । एतदुक्तं भवति—स्थाणुरेवायमित्यवधारणात्मकः प्रत्ययोऽपायोऽवायो वेति । चशब्द एवकारार्थः, व्यवसायमेव अवायमपायं वा ब्रुवते इत्यर्थः । धृतिर्धरणम्, अर्थानामिति वर्त्तते, अपायेन विनिश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं धरणमेव धारणं ब्रुवत इत्यर्थः । पुनःशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् ब्रुवत इत्यनेन शास्त्रस्य पारतन्त्र्यमुक्तम्, इत्थं तीर्थकर-गणधरा ब्रुवत इति । अन्ये त्वेवं पठन्ति—"अत्थाणं उग्गहणम्मि उग्गहो" इत्यादि तत्रार्थानामवग्रहणे सति अवग्रहो नाम मतिभेद इत्येवं ब्रुवते । एवमीहादिष्वपि योज्यम् । भावार्थस्तु पूर्ववदेव । अथवा "प्राकृतशैल्याऽर्थवशाद् विभक्तिपरिणाम" इति सप्तमी द्वितीयार्थे द्रष्टव्येति गाथार्थः ॥

अथैतदेवावग्रहादिस्वरूपं **भाष्यकारेण** विवृतं यथा—

सामण्णत्थावग्गहणमोग्गहो, भेयमग्गणमहेहा । तस्सावगमोऽवाओ, अविच्चुई धारणा तस्स ॥ [विशेषा० गा० १८०]

अन्तर्भूताशेषविशेषस्य केनापि रूपेणानिर्देश्यस्य सामान्यस्यार्थस्यैकसामयिकमवग्रहणं सामान्यार्थावग्रहणम्, अथवा सामान्येन—सामान्यरूपेणार्थस्यावग्रहणं सामान्यार्थावग्रहणमवग्रहो वेदितव्यः । अथानन्तरमीहा प्रवर्त्तते । कथम्भूतेयम् ? इत्याह—'भेदमार्गणं' भेदाः—वस्तुनो धर्मास्तेषां मार्गणं—अन्वेषणं विचारणं 'प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्मा अत्र वीक्ष्यन्ते, न तु शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्माः' इत्येवं वस्तुधर्मविचारणमीहा इत्यर्थः । तस्यैव ईहया ईहितस्य वस्तुनस्तदनन्तरमवगमनमवगमः 'स्थाणुरेवायम्' इत्यादिरूपो निश्चयोऽवायोऽपायो वेति । तस्यैव निश्चितस्य वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं धरणं धारणा, सूत्रेऽविच्युतेरुपलक्षणत्वादिति गाथार्थः ॥

तत्रामूषामिदं स्वरूपम्—अपायानन्तरमवगतमर्थमविच्युत्याऽजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं धारयतो धारणा**ऽविच्युत्याख्या** । तमेवार्थमुपयोगात् च्युतं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तादुत्कृष्टतोऽसङ्ख्येयकालात् परतः स्मरतः धारणा **स्मृत्याख्या** । अपायावधारितमेवार्थं पूर्वा-ऽपरालोचितं हृदि स्थापयतो धारणा **वासनाख्या** । नवरं सङ्ख्येयवर्षायुषां संख्येयं कालं स्मृति-वासनारूपा धारणा भवति, असङ्ख्येयवर्षायुषामसंख्येयं कालं स्मृति-वासनारूपा धारणा भवति, असंख्येयवर्षायुषामसङ्ख्येयं कालं द्विरूपा-ऽपीयं धारणा भवति ॥

पं. ११. **पुट्ठं०** [सूत्र गा. ७५] गाहा । श्रोत्रेन्द्रियं कर्तृ, शब्दं कर्मतापन्नं शृणोति । कथम्भूतम् ? इत्याह—स्पृश्यत इति स्पृष्टस्तं स्पृष्टम्, तनौ रेणुवदालिङ्गितमात्रमेवेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—स्पृष्टमात्राण्येव शब्दद्रव्याणि श्रोत्रमुपलभते, यतो घ्राणादीन्द्रियविषयभूतद्रव्येभ्यः तानि सूक्ष्माणि बहूनि भावुकानि च, पटुतरं च श्रोत्रेन्द्रियं विषयपरिच्छेदे घ्राणेन्द्रियादिगणादिति ।

श्रोत्रेन्द्रियस्य चेह कतृत्वं शब्दश्रवणान्यथानुपपत्तेर्लभ्यते । एवं घ्राणेन्द्रियादिष्वपि वाच्यम् । तानि पुनः कथं गन्धादिकं गृह्णन्ति? इत्याह–गन्ध्यत इति गन्धस्तमुपलभते घ्राणेन्द्रियम्, रस्यत इति रसस्तं च गृह्णाति रसनेन्द्रियम्, स्पृश्यत इति स्पर्शस्तं च जानाति स्पर्शनेन्द्रियम् । कथम्भूतं गन्धादिकम्? इत्याह–'**बद्धस्पृष्टं**' तत्र स्पृष्टमिति–पूर्ववदेव, बद्धं तु–गाढतरमाश्लिष्टं आत्मप्रदेशैस्तोयवदात्मीकृतमित्यर्थः । ततश्च गन्धादिद्रव्यसमूहं प्रथमं स्पृष्टम्–आलिङ्गितं ततश्च स्पर्शनानन्तरं बद्धम्–आत्मप्रदेशैर्गाढतरमागृहीतमेवोपलभते घ्राणेन्द्रियादिकमित्येवं व्यागृणीयात् प्रज्ञापकः, यतो घ्राणेन्द्रियादिविषयभूतानि गन्धादिद्रव्याणि शब्दद्रव्यापेक्षया स्तोकानि बादराणि अभावुकानि च, विषयपरिच्छेदे श्रोत्रापेक्षयाऽपटूनि च घ्राणादीनि, अतो बद्धस्पृष्टमेव गन्धादिद्रव्यसमूहं गृह्णन्ति, न पुनः स्पृष्टमात्रमिति भावः । ननु यदि स्पर्शनानन्तरं बद्धं गृह्णाति तर्हि "पुट्ठबद्धं" इति पाठो युक्त इति चेत्, उच्यते–विचित्रत्वात् सूत्रगतेरित्थं निर्देशः, अर्थतस्तु यथाऽन्वयोक्तं तथैव द्रष्टव्यम् । अपरस्त्वाह–यद् बद्धं तत् स्पृष्टं भवत्येव, विशेषबन्धे सामान्यबन्धस्यान्तर्भावात्, ततः किं स्पृष्टग्रहणेनेति, तदयुक्तम्, सकलश्रोतृसाधारणत्वाच्छास्त्रारम्भस्य प्रपञ्चितज्ञानुग्रहार्थमर्थापत्तिगम्यार्थाभिधानेऽप्यदोषादिति । चक्षुरिन्द्रियं त्वप्राप्तमेव विषयं गृह्णातीत्याह–"**रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु**" इति रूपं कर्मतापन्नं चक्षुः 'अस्पृष्टम्' अप्राप्तमेव पश्यति । पुनःशब्दस्य विशेषणार्थत्वादस्पृष्टमपि योग्यदेशस्थमेव पश्यति, नायोग्यदेशस्थं सौधर्मादि कटकुड्यादिव्यवहितं वा घटादीति गाथार्थः ॥

पं. १३. **भासासमसेढीओ सद्दं जं सुणइ मीसयं सुणइ ।**
वीसेढी पुण सद्दं सुणेइ नियमा पराघाए ॥ सू. गा. ७६ ॥

भाष्यत इति भाषा, वक्त्रा शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिरित्यर्थः, तस्याः समाः–प्राञ्जलाः श्रेणयः–आकाशप्रदेशपङ्क्तयो भाषासमश्रेणयः, समग्रहणं विश्रेणिव्यवच्छेदार्थम्, भाषासमश्रेणिषु इतः गतः स्थितः इत्यनर्थान्तरं भाषासमश्रेणीतः । इदमुक्तं भवति–भाषकस्यान्यस्य वा भेर्यादेः समश्रेणिव्यवस्थितः श्रोता यं 'शब्दं' पुरुष-अश्व-भेर्यादिसम्बन्धिनं ध्वनिं शृणोति तं मिश्रकं शृणोतीत्यवगन्तव्यम्, भाषकाद्युत्सृष्टशब्दद्रव्याणि तद्वासितापान्तरालस्थद्रव्याणि चेत्येवं मिश्रं शब्दद्रव्यराशिं शृणोति, न तु वासकमेव वास्यमेव वा केवलमित्यर्थः । "वीसेढी पुणे"त्यादि "मध्याः क्रोशन्ती"ति न्यायाद् विश्रेणिव्यवस्थितः श्रोताऽपि विश्रेणिरुच्यते, स विश्रेणिः पुनः श्रोता शब्दं 'नियमाद्' नियमेन 'पराघाते' वासनायां सत्यां शृणोति । इदमुक्तं भवति–यानि भाषकोत्सृष्टानि शब्दद्रव्याणि भेर्यादिशब्दद्रव्याणि वा तैः 'पराघाते' वासनाविशेषे सति यानि वासितानि समुत्पन्नशब्दपरिणामानि द्रव्याणि तान्येव विश्रेणिस्थः शृणोति, न तु भाषकाद्युत्सृष्टानि, तेषामनुश्रेणिगामित्वेन विदिग्गमनासम्भवात् । न च कुड्यादिप्रतिघातस्तेषां विदिग्गतिनिमित्तं सम्भवति, लेष्ट्वादिबादरद्रव्याणामेव तत्कुड्यादिप्रतिघातसम्भवात्, एषां च सूक्ष्मत्वात् । न च वक्तव्यम्–द्वितीयादिसमयेषु तेषां स्वयमपि विदिक्षु गमनसम्भवात् तत्स्थस्यापि मिश्रशब्दश्रवणसम्भव इति, निसर्गसमयानन्तरं समयान्तरेषु तेषां भाषापरिणामेनानवस्थानात्, "भाष्यमाणैव भाषा भाषा, समयानन्तरं भाषा अभाषैवे"ति वचनात् । यदपि "चउहिं समएहिं लोगो भासाए निरंतरं तु होइ फुडो" इति वक्ष्यति, तत्रापि द्वितीयादिसमयेषु भाषाद्रव्यैर्वासितत्वात् तेषां भाषात्वं द्रष्टव्यम् । अत्राह–ननु यदि वक्तृनिसृष्टानि भाषाद्रव्याणि प्रथमसमये दिक्ष्वेव गच्छन्ति, समयान्तरं नावतिष्ठन्ते, तर्हि तद्वासितद्रव्याणि द्वितीयसमये विदिक्षु गच्छन्ति, ततश्च दिग्-विदिग्व्यवस्थितयोः समयभेदेन शब्दश्रवणं प्राप्नोति, अविशेषेण च सर्वोऽपि शब्दं शृण्वन्नुपलभ्यते, नैष दोषः, समयादिकालभेदस्यातिसूक्ष्मत्वेनालक्षणादिति । भवत्वेवम्, तथापि "भाष्यमाणैव भाषे"ति वचनान्निसर्गसमयवर्तिन्येव भाषा, ततो 'विश्रेणिस्थो द्वितीयसमयेऽभाषां शृणोती'त्यायातम्, नैतदेवम्, भाषाद्रव्यैर्वासितानामपि द्रव्याणां भाषाऽविशेषाद् भाषात्वं न विरुध्यते, अत एव "वीसेढी पुण सद्द"मित्यत्र पुनरपि यत् शब्दग्रहणं तत् पराघातवासित-

१ शब्दपदग्रहणमित्यर्थः । अयं भावः–गाथायां "सद्द जं सुणइ मीसयं सुणइ" इत्यत्र सकृत् सद्द इति पदे गृहीतेऽपि यत् पुनरपि "वीसेढी पुण सद्दं" इत्यत्र 'सद्द' इति पदं गृहीतं तदिदमाश्रित्य सम्बन्धः ॥

द्रव्याणामपि तथाविधशब्दपरिणामख्यापनार्थं कृतमिति तावद् वयमवगच्छामः, तत्त्वं तु बहुश्रुतादयो विदन्तीति। घ्राणादीन्यपीन्द्रियाणि गन्धादिद्रव्याणि मिश्राण्याददते, तेषां चानुश्रेणिगमननियमो नास्ति, बादरत्वात्, वातायनोपलभ्यमानरेणुवदिति **वृद्धटीकाकार** इति गाथार्थः ॥

पं. १५. **ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेसणा।**
सण्णा सई मई पण्णा सव्वं आभिणिबोहियं ॥ सू. गा. ७७ ॥

"ईह चेष्टायाम्" ईहनमीहा–सतामन्वयिनां व्यतिरेकिणां चार्थानां पर्यालोचना। अपोहनमपोहः–निश्चयः। विमर्षणं **विमर्षः**–अपायात् पूर्वः ईहायाश्चोत्तरः 'प्रायः शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इह घटन्ते' इति सम्प्रत्ययः। तथा मार्गणम्–अन्वयधर्मान्वेषणं मार्गणा। 'चशब्दः' समुच्चयार्थः। गवेषणं–व्यतिरेकधर्मालोचनं गवेषणा। तथा सञ्ज्ञानं संज्ञा–अवग्रहोत्तरकालभावी **मतिविशेष एव**। स्मरणं स्मृतिः–पूर्वानुभूतार्थालम्बनः प्रत्ययः। मननं मतिः–कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा **बुद्धिः**। तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा–विशिष्टक्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा मतिः। सर्वमिदमाभिनिबोधिकम्, **कथञ्चित् किञ्चिद् भेददर्शनेऽपि** तत्त्वतः सर्वं मतिज्ञानमेवेदमित्यर्थः इति निर्युक्तिश्लोकार्थः ॥

अत्रैतद्व्याख्यानाय **भाष्यम्**—

होइ अपोहोऽवाओ, सई धिई, सव्वमेव मइ-पण्णा।
ईहा सेसा, सव्वं इदमाभिणिबोहियं जाण ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ३९७]

अपोहस्तावत् किमुच्यते? इत्याह–अपोहो भवत्यपायः, योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयभेदोऽपायो निश्चय उच्यत इत्यर्थः। स्मृतिः पुनः 'धृतिः' धारणोच्यते, धारणाभेदत्वेनावयवे समुदायोपचारादिति। 'मति-प्रज्ञे' मति-प्रज्ञाशब्दाभ्यां सर्वमेव मतिज्ञानमुच्यते। "ईहा सेस" त्ति 'शेषाभिधानानि तु' ईहा-विमर्ष-मार्गणा-गवेषणा-संज्ञालक्षणानि सर्वाण्यपि 'ईहा' ईहान्तर्भावीनि द्रष्टव्यानीत्यर्थः। एवं विशेषतः कथञ्चिद् भेदसद्भावेऽपि सामान्यत सर्वमिदमाभिनिबोधिकज्ञानमेव जानीहि। इदमुक्तं भवति–प्रदर्शितेहा-ऽपोहादयोऽवग्रहादयोऽपि च सर्वेऽपि मतिज्ञानस्य पर्यायाः, अवगृहीतस्येहादिसम्भवात्। ततोऽवग्रहशब्दोऽवग्रहणलक्षणेनार्थेन सर्वमाभिनिबोधिकं सङ्गृह्णाति, ईहाशब्दस्तु चेष्टालक्षणेन, अपायस्त्ववगमनलक्षणेन, धारणा तु धरणलक्षणेन सर्वं सङ्गृह्णाति। **समर्थितं मतिज्ञानम्** ॥ श्रुतज्ञानमुच्यते—

[पृष्ठ ५८]

पं. २८. **अक्षरश्रुतमि**त्यादि, अक्षरादीनि सप्त द्वाराणि अनक्षरादिप्रतिपक्षसहितानि चतुर्दश भवन्तीति चतुर्दशभेदं श्रुतं भवति।

[पृष्ठ ५९]

पं. ९. तत्र सङ्क्षेपतः स्वरूपमिदम्–अक्षरश्रुतं त्रिविधम्–सञ्ज्ञा-व्यञ्जन-लब्धिभेदात्। पं. १२. **संज्ञाक्षरं** नाम–लेख्यलिपिरूपम्, यथा घटाकृतिः ठकार इत्यादि। लिपिभेदतोऽनेकस्वरूपमकारावक्षरं **संज्ञाक्षरमु**च्यते। पं. १६. भाष्यमाणः शब्दो **व्यञ्जनाक्षरम्**, तदेतद् द्वितयमज्ञानात्मकमपि श्रुतकारणत्वादुपचारेण श्रुतमुच्यते। पं. २४. **लब्ध्यक्षरं** तु–शब्दश्रवण-रूपदर्शनादेरर्थप्रत्यायनगर्भाऽक्षरोपलब्धिः, यस्तदावरणक्षयोपशमो यः श्रुतज्ञानोपयोगश्च एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरम्। ततश्च श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरवत् शेषेन्द्रियविषयाऽक्षरोपलब्धिरपि श्रुतम्, घट-कर्पूर-शर्करा-हंस-रूततूलीरूपे विषयोपलम्भे एतद्वाचकाक्षरोपलम्भसद्भावात्। मनः प्रति च यद् दृष्टं स्वप्ने रूपादि तदक्षरोपलब्धिर्ग्राह्या।

[पृष्ठ ६०]

पं. ८. **अनक्षरश्रुतं** क्ष्वेडित-शिरःकम्पादिनिमित्तमाह्वयति वारयति वेत्यादिरूपमभिप्रायादिपरिज्ञानम् । पं. १०. **"ऊससियं"** गाहायां शेटितादि चानक्षरश्रुतमिति आदिग्रहणात् फूत्कृत-सीत्कारादिग्रहः । पं. १४. **ध्वनिमात्रत्वा**दिति शब्दमात्रत्वात्, शब्दश्च भावश्रुतस्य कारणमेव, यच्च कारणं तद् द्रव्यमेव भवति । भवति च तथाविधोच्छ्वसित-निःश्वसितादि-श्रवणे 'सशोकोऽयम्' इत्यादि ज्ञानम् । एवं चेष्टाभिसन्धिपूर्वकनिष्ठ्यूत-काशित-क्षुतादिश्रवणेऽप्यात्मज्ञापनादि अन्यं प्रति ज्ञानं वाच्यम् । पं. १५. **सर्व एव व्यापार** इति उच्छ्वसितादिकः । **तद्भावेन** श्रुतविज्ञानोपयुक्तजन्तुभावेन । **आहे**त्यादि, यथैवं गमना-ऽऽगमन-चलन-स्पन्दन-शिरोधूनन-करचालनादिकाऽपि चेष्टा व्यापार एवेत्येषाऽपि श्रुतं किं न भवति ? हन्त प्राप्नो-त्यनेन न्यायेन साऽपि श्रुतम्, किन्तु **रूढ्ये**ति शास्त्रज्ञलोकप्रसिद्धा रूढिरियम्—यदुतोच्छ्वसितादेव श्रुतं रूढम्, न चेष्टा, श्रूयत इति श्रुतमित्यन्वर्थवशात्, चेष्टा तु दृश्यत्वात् कदापि न श्रूयत इति कथमसौ श्रुतं स्यात् ? । पं. १७. **अनुस्वारे**त्यादि, अकारादिवर्णा इवेति भावः । पं. १९. समनस्कस्य मनःसहायैरिन्द्रियैर्जनितं साभिलापमर्थसंवेदनं यत् तत् **संज्ञिश्रुतम्** । अमनस्कस्येन्द्रियजं मनोरहितं यत् संवेदनं चलनादिचेष्टालिङ्गितं तद् **असंज्ञिश्रुतम्** । **से किं त**मित्यादि, संज्ञिनः सम्बन्धि श्रुतं **संज्ञिश्रुतम्** । संज्ञी चोच्यते यस्य संज्ञाऽस्ति । सा च त्रिविधा दीर्घकालिकोपदेशादिभेदात् । त्रिविधसंज्ञायोगात् संज्ञिश्रुतं त्रिधा । पं. २७. तत्र प्रभूतमतीतमर्थं स्मरति 'कथमेतत् कर्तव्यम् ?' इति भावि च विमृशति 'इदमकार्षम्, इदं करिष्ये' इत्यादिचिन्तामाश्रित्य यस्यां दीर्घः कालो भवति सा दीर्घकालिकी ।

[पृष्ठ ६१]

पं. ८. प्रयुक्ताः सन्तः प्रतिहता उपाया यस्य स **प्रयुक्तप्रतिहतोपाय**स्तस्येति विग्रहः । पं. ९. **अयं चे**त्यादि, अयं दीर्घकालिकसंज्ञी विज्ञेयो यो मतिज्ञानविषय[क]मनोज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाद् मनोलब्धिसम्पन्नः मनोयोग्याननन्तान् स्कन्धान् मनोवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्य मन्यते चिन्तनीयं वस्त्विति, स च गर्भजतिर्यङ् मनुष्यो वा देवो नारकश्चेति, नान्यः, सोऽयं कालिक्युपदेशेन संज्ञिश्रुतव्यपदेश इति वाक्यशेषः । पं. २०. कृम्यादीनां प्रायो वर्तमान एव काले इष्टा-ऽनिष्टेषु प्रवृत्ति-निवृत्ती स्तः, न त्वतीता-ऽनागतदीर्घकालावलम्बितया ते स्तः, असञ्चिन्त्य वा । तथाहि—संज्ञिनो द्वीन्द्रियादयः, सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य हेयोपादेयेषु निवृत्ति-प्रवृत्तेः, देवदत्तादिवदिति । तदेवं हेतुवादिनोऽभिप्रायेण निश्चेष्टाः पृथिव्यादय एवासंज्ञिनः । पं. २९. आह—संज्ञादशकयोगात् पृथिव्याद्येकेन्द्रिया अपि संज्ञिनः किं नेष्यन्ते ? इति प्रेरणायां प्रतिविधत्ते **इहौघसंज्ञा स्तोक-त्वादि**त्यादिना, उपयोगमात्रमोघसंज्ञा, इयं च वृत्त्याद्यारोहणतो वल्ल्यादिषु प्रतीता, इयं च स्तोका—अतिस्वल्पा ततोऽत्र नाधि-क्रियते, न तया संज्ञी वक्तुं युज्यत इति भावः, न हि **कार्षापण**मात्रास्तित्वेन लोके धनवानुच्यते । आहार-भय-मैथुनादिसंज्ञात्मिका **भूयस्यपीह** नाधिक्रियते, तामप्याश्रित्य न संज्ञी वक्तुं युज्यते, अनिष्टत्वाद् अशोभनत्वात्, मोहोदयजन्यत्वेन नासौ विशिष्टेत्यर्थः । न चाविशिष्टया संज्ञया संज्ञीत्यभिधातुं युज्यते, नहि लोकेऽप्यविशिष्टेन मूर्तिमात्रेण रूपवानित्यभिधीयते । तर्हि कीदृश्या संज्ञयाऽत्र संज्ञी प्रोच्यते ? इत्याह— पं. ३०. **किन्तु यथे**त्यादि, **महती शोभना चे**ति, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यमनोज्ञानसंज्ञयैव संज्ञी व्यपदिश्यते । संज्ञानं संज्ञा—मनोविज्ञानं स्पष्टा-ऽस्पष्टरूपं तदस्ति येषां ते संज्ञिनः, नान्ये एकेन्द्रियाः, अमनस्कत्वात् । तदुक्तं **नन्दिचूर्णिकृता**—

कृमि-कीट-पतङ्गाद्याः समनस्का जङ्गमाश्चतुर्भेदाः । अमनस्काः पञ्चविधाः पृथिवीकायादयो जीवाः ॥ १ ॥ [पत्र ४८]

इति । अयमत्र परमार्थः—यथा मूर्छितादीनां सर्वेष्वप्यर्थेष्वव्यक्तमेव ज्ञानं भवत्येवमतिप्रकृष्टावरणोदयादेकेन्द्रियाणामपि, ततः शुद्धतरं शुद्धतमं च द्वीन्द्रियादीनां आ पञ्चेन्द्रियसम्मूर्च्छजेभ्यः, ततः सर्वं स्पष्टतमं संज्ञिनामिति । पं. ३२. आह—कुतः पुनश्चैतन्ये समानेऽपि जन्तूनामिदमुपलब्धिनानात्वम् ? उच्यते—सामर्थ्यभेदात्, स च क्षयोपशमवैचित्र्यात्, यथा तुल्येऽपि छेदकभावे चक्र-

वर्त्तिचक्ररत्नस्य यत् छेदनसामर्थ्यं तदन्येषां खड्ग-दात्र-शर-क्षुरिकादीनां छेदकवस्तूनां न भवत्येव, किन्तु क्रमशो हीयमानमेव तत् तेषु स्यात्, एवं चैतन्ये तुल्येऽपि मनोविषयिणां संज्ञिनामवग्रहेहादिषु या वस्त्ववबोधपटुता भवति सा तथाविधक्षयोपशमविकलानां यथोक्तदीर्घकालिकसंज्ञारहितानां सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रिय-विकलेन्द्रियैकेन्द्रियाणामसंज्ञिनां न भवत्येव, क्रमशो हीनत्वादिति। अत एवोक्तम् अलं विस्तरेणेति।

[पृष्ठ ६२]

पं. ४. **दृष्टिवादोपदेशेन** क्षायोपशमिके ज्ञाने सम्यग्दृष्टिरेव वर्त्तमानः सञ्ज्ञी, विशिष्टसञ्ज्ञायुक्तत्वात्। मिथ्यादृष्टिस्तु असंज्ञी, विपर्यस्तत्वेन वस्तुतः संज्ञारहितत्वात्। यदि सम्यग्दृष्टिरेव सञ्ज्ञी तर्हि क्षायिकज्ञानेऽप्यसावस्तु ? किं क्षायोपशमिके ज्ञाने वर्त्तमानोऽसाविष्यते ? उच्यते—क्षयिकज्ञानं केवलिनो भवति, स च संज्ञी असञ्ज्ञी वा नोच्यते, यतः सञ्ज्ञानं संज्ञोच्यते, अतीतार्थस्य स्मरणमनागतस्य च चिन्तनम्, एतच्च तस्य नास्ति, सर्वदा सर्वार्थावभासकत्वेन केवलिनां स्मरण-चिन्ताद्यतीतत्वादिति क्षायोपशमिकज्ञान्येव सम्यग्दृष्टिः संज्ञीति। यद्येवं मिथ्यादृष्टिरप्यैहिकाद्यर्थविषयकहिता-ऽहितविभागज्ञानात्मकस्पष्टसंज्ञासमन्वित एव दृश्यते तत् किमित्यसौ प्रकृतसंज्ञया संज्ञी न भवति ? उच्यते—अशोभनसञ्ज्ञोपेतत्वात् सत्याऽपि तयाऽसंज्ञी प्रोच्यते, मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमेव।

जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलमसईए।
भण्णइ, तह नाणं पि हु मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ५२०]

कुत्सितं वचनं सदपि अवचनम्, एवं संज्ञाऽप्यसञ्ज्ञोच्यते इति भावः, "सदसदविसेसणाओ" इत्यादिप्रागुक्तवचनात्, अतो नेह देवादिरपि मिथ्यादृष्टिः सञ्ज्ञीति भावः। त्रिविधसंज्ञामध्ये कस्य जन्तोः का भवति ? इति निरूप्यते—

पंचण्हमूहसन्ना, हेऊसन्ना बिइंदियाईणं। सुर-नारय-गब्भुब्भवजीवाणं कालिगी सन्ना ॥ १ ॥
छउमत्थाणं सन्ना, सम्मद्दिट्ठीण होइ सुयनाणं। मइवावारविमुक्का सन्नाईया य केवलिणो ॥ २ ॥
[विशेषा० गा० ५२३–२४]

'पञ्चानां' पृथिव्यादीनां 'ऊहसञ्ज्ञा' वृत्त्याद्यारोहणाभिप्रायरूपा ओघसञ्ज्ञा भवति, एकेन्द्रियाणां सञ्ज्ञात्रयनिषेधेन ऊहसञ्ज्ञैव भवति, न तु हेतुवादादिसञ्ज्ञेति भावः। ऊहसंज्ञायां चासंख्येयेति प्रागेवोक्तम्। नन्वाहारादिका अपि संज्ञा एकेन्द्रियाणामभिहिताः सूत्रे, कथमेकैवोहसंज्ञाऽत्रोच्यते ? सत्यम्, वल्ल्यादिष्वियं व्यक्तैवोपलभ्यते किञ्चिदिति शेषोपलक्षणमेषेति। पं. १७ **अन्ना-हेत्यादि**, अयमर्थः—अविशुद्धत्वात् प्रथमं हेतुवादसंज्ञा, ततो विशुद्धत्वात् कालिकसञ्ज्ञा, ततोऽपि विशुद्धतरत्वाद् दृष्टिवादसंज्ञेत्येवं यथोत्तरविशुद्धममुं क्रमं मुक्त्वा किं कालिकसंज्ञोपदेश आदौ निर्दिष्टः ? उच्यते—आगमे योऽयं संज्ञयसञ्ज्ञीति व्यवहारः स सर्वोऽपि प्रायः कालिकोपदेशेनैव क्रियते, तेनाऽऽदौ स एव कालिकोपदेशः कृतः। तथाहि—यः स्मरण-चिन्तादिदीर्घकालिकज्ञानसहितः समनस्कपञ्चेन्द्रियः स संज्ञीति व्यवह्रियते। ततोऽसंख्यपि पर्युदासाश्रयणादमनस्कः सम्मूर्छजपञ्चेन्द्रिय एवाऽऽगमे प्रायो व्यवह्रियते।

[पृष्ठ ६३]

पं. ६. **बहवश्च केचिदिष्यन्ते** इति अनादिसशुद्धा इति बहुवचनम्। पं. ८. **इङ्गनेति** संज्ञा। पं. १८. तुल्यतामवशङ्क्य **आह चेति**, अर्हद्भिः सह तेषां तुल्यतानिषेधायाऽऽहेत्यर्थः। पं. १९. **नातस्त्वमसि नो महानिति**, 'अतः' एतेभ्यो देवागमादिकारणेभ्यः 'नः' अस्माकं त्वं पूज्योऽसि इति न, यत एते हेतवः सुगतादिष्वपि मायाविषु तुल्याः। पं. २३. **न निहाणेत्यादि**, ये 'भग्नाः' अतिक्रान्तास्ते न निधानगताः सन्ति, न चानागतेषु पुञ्जः समस्ति, येऽपि च वार्त्तमानिकास्तेऽपि न 'निर्वृताः' स्वस्थास्तिष्ठन्ति, किं तर्हि ? आराग्रे सर्षपा इव भावाः—यथा ह्याराग्रे सर्षपाणामुपरि क्षिप्यमाणानां नावस्थितिः एवं भावानामपि, किन्तु स्वकारणादुत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति तत्त्वम्, न पुनरतीतोऽनागतो वा तेषां कश्चित् सद्भावोऽस्ति, नाशा-ऽनुत्पत्त्या।

[पृष्ठ ६४]

पं. १३. सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रणीतशास्त्रमितरद्वा श्रुतं यथास्वरूपावगमात् सम्यक्श्रुतम् । तदेव मिथ्यादृष्टेर्मिथ्याश्रुतम्, अन्यथावगमात् ।

[पृष्ठ ६५]

पं. १०. **सत्यादय इवेति** सम्प्रदायगम्यं संविधानकम् । अथ कियता श्रुतेन सम्यग्दृष्टिः स्यात्? कियता मिथ्यादृष्टिः? यद्वा कियत् सम्यक्श्रुतमेव भवति? कियच्च मिथ्याश्रुतम्? शेषस्य च मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्य मध्ये मिथ्यात्वोदयात् कस्य विपर्यासो भवति? कस्य च न? इत्याशङ्क्योच्यते—

चोद्दस दस य अभिण्णे नियमा सम्मं तु, सेसए भयणा ।
मइ-ओहिविवज्जासे वि होइ मिच्छं, न उण सेसे ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ५३४]

चतुर्दशपूर्वेभ्यः समारभ्य यावत् सम्पूर्णदशपूर्वाणि तावन्नियमात् सम्यक्श्रुतमेव भवति, न मिथ्याश्रुतम्, एतावच्छ्रुतसद्भावे सम्यग्दृष्टिरेव भवति न मिथ्यादृष्टिरिति भावः । "सेसए भयण" त्ति 'शेषे' भिन्नदशपूर्वादिके सामायिकपर्यन्ते श्रुते 'भजना' विकल्पना, एतच्छ्रुतसद्भावे कोऽपि सम्यग्दृष्टिः कश्चित्तु मिथ्यात्वोदयाद् विपर्यस्तो मिथ्यादृष्टिरपि भवति । ततश्चैतच्छ्रुतं सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम्, मिथ्यात्वोदयाद् मिथ्याश्रुतमपि स्यादिति भावः । न केवलं चतुर्दश-दशपूर्व-सम्पूर्णश्रुतादन्यत्र मिथ्यात्वोदयः, किन्तु मत्यवधिविपर्यासे 'मिथ्यात्वं' मिथ्यात्वोदयो भवति, न पुनः 'शेषे' मनःपर्याय-केवलज्ञानद्वये । इदमुक्तं भवति—मिथ्यात्वोदयान्मतिज्ञानं विपर्यस्तं सद् मत्यज्ञानं भवति, अवधिरपि तदुदयाद् विपर्यासमापन्नो विभङ्गव्यपदेशं लभते, मनःपर्याय-केवलज्ञाने तु कदाऽपि मिथ्यात्वोदयाद् विपर्यासं न गच्छतः, तद्भावे मिथ्यात्वोदयस्यैवासम्भवात्; मनःपर्यायज्ञानं हि चारित्रिण एव भवति, केवलज्ञानं तु क्षीणघातिचतुष्टयस्येति कुतस्तद्भावे मिथ्यात्वोदयः? इति । एतच्चेह गाथोत्तरार्द्धोक्तमर्थजातं मिथ्यात्वोदयसम्भवा-ऽसम्भवप्रस्तावादनुषङ्गत एवोक्तम्, प्रस्तुतं पुनरत्र सम्यग्-मिथ्याश्रुतमेवेति ॥ अत्र किल परः किञ्चित् प्रेरयति—

तत्तावगमसहावे सइ सम्म-सुयाण को पइविसेसो?। जह नाण-दंसणाणं भेओ तुल्लेऽवबोहम्मि ॥१॥
नाणमवाय-धिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ । तह तत्तरुई सम्मं रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥२॥
[विशेषा० गा० ५३५-३६]

उभयत्रापि तत्त्वावगमस्वभावत्वे तुल्ये सति कः सम्यक्त्व-श्रुतयोः प्रतिविशेषः? येनोच्यते 'सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम्' इति । एतदुक्तं भवति—'रागादिदोषरहित एव देवता, तदाज्ञापारतन्त्र्यवृत्तय एव गुरवः, जीवादिकमेव तत्त्वम्, जीवोऽपि नित्या-ऽनित्याद्यनेकस्वभावः कर्त्ता भोक्ता मिथ्यात्वादिहेतुभिः कर्मणा बध्यते, तपः-संयमादिभिस्तु ततो मुच्यते' इत्यादि बोधात्मकमेव सम्यक्त्वमुच्यते, श्रुतमप्येवमाद्यभिलापात्मकमेव, तदनयोः को विशेषः? येनोच्यते 'सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुतम्' इति । अत्रोत्तरमाह—"जहे"त्यादि, यथा वस्त्ववबोधरूपत्वे तुल्येऽपि कथञ्चिद् ज्ञान-दर्शनयोर्भेदस्तथा तत्त्वावगमस्वभावे तुल्येऽपि सम्यक्त्व-श्रुतयोरिहापि कथञ्चिद् भेदः ॥ १ ॥ कथं पुनर्ज्ञान-दर्शनयोरन्यत्र तावद् भेद उक्तः? इति चेत्, इत्याह—

"नाणे"त्यादि । यथा अपायश्च धृतिश्चापाय-धृती, एते वचनपर्यायग्राहकत्वेन विशेषावबोधस्वभावत्वाद् ज्ञानमिष्टम्, अवग्रहश्चेहा चार्थपर्यायविषयत्वेन सामान्यावबोधाद् दर्शनम्, तथाऽत्रापि जीवादितत्त्वविषया रुचिः—श्रद्धानं सम्यक्त्वं भण्यते, येन पुनस्तद् जीवादितत्त्वं 'रोच्यते' श्रद्धीयते तद् ज्ञानम् । अयमत्राभिप्रायः—दर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिना या तत्त्वश्रद्धानात्मिका तत्त्वरुचिरुपजायते तया तत्त्वश्रद्धानात्मकं जीवादितत्त्वरोचकं विशिष्टं श्रुतं जन्यते, ततस्तत् श्रुताज्ञानव्यपदेशं परिहृत्य श्रुतज्ञानसंज्ञां समासादयति, एवं च सति परो मन्यते—विशिष्टतत्त्वावगमस्वरूपं श्रुतमेव सम्यक्त्वम्, न पुनस्तत् श्रुतं सम्यक्त्वादतिरिक्तं किञ्चिदुप-

लभ्यत इति कथमुच्यते 'सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम्' ? इति। सिद्धान्तवादी तु मन्यते–यथा ज्ञान-दर्शनयोर्वस्त्ववबोधरूपतया एकत्वेऽपि विशेष-सामान्यग्राहकत्वेन भेदस्तथाऽत्रापि शुद्धतत्त्वावगमरूपे श्रुते तत्त्वश्रद्धानांशः सम्यक्त्वम्, तद्विशिष्टं तु तत्त्वरोचकं श्रुतज्ञानमित्यनयोर्भेदः। एतयोश्च सम्यक्त्व-श्रुतयोर्युगपल्लाभेऽपि कार्य-कारणभावाद् भेदः। उक्तं च—

कारण-कज्जविभागो दीव-पगासाण जुगवजम्मे वि। जुगवुप्पन्नं पि तहा हेऊ नाणस्स सम्मत्तं ॥१॥
जुगवं पि समुप्पन्नं सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ। जह कयगमंजणाइं जल-दिट्ठीओ विसोहिंति ॥२॥ [ ]

अतो युक्तमुक्तं सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुतम्, विपर्ययात्तु मिथ्याश्रुतमिति गाथाद्वयार्थः॥२॥ गतं सप्रतिपक्षं सम्यक्श्रुतम्॥

पं. १५. **अधिकारवशादि**ति प्रतिपक्षसम्बन्धवशादित्यर्थः। पं. १६. पर्यायास्तिक-द्रव्यास्तिकनयाभ्यां साधनादि-श्रुतविचारोऽभिधीयते–व्यवच्छित्तिनयस्यानित्यवादिनः पर्यायास्तिकस्य मतेन सादि सपर्यन्तं च श्रुतम्, अनित्यत्वात्, जीवस्य नारकादिगतिपर्यायवत्। तथाहि–श्रुतज्ञानिनां निरन्तरमपरापरे द्रव्याद्युपयोगाः प्रसूयन्ते प्रलीयन्ते च, न च तेभ्योऽन्यत् किमपि श्रुतमस्ति, श्रुतकार्यभूतस्य जीवादितत्त्वाववबोधस्य श्रुतज्ञानरहिते वस्तुनि अदर्शनादिति, द्रव्यादिषु च श्रुतोपयोगः सादिः सपर्यवसित एवेति। पं. १९. अव्यवच्छित्तिनयस्य नित्यवादिनो द्रव्यास्तिकस्याभिप्रायेणेदं श्रुतं अनादि अपर्यन्तं च, नित्यत्वात्, पञ्चास्तिकायवत्। तथाहि–यैर्जीवद्रव्यैः श्रुतमिदमधीतम् यान्यधीयन्ते यानि चाध्येष्यन्ते तानि तावन्न कदाऽपि व्यवच्छिद्यन्ते इति तेषामनादिताऽपर्यन्तता च। ततः श्रुतस्यापि जीवद्रव्यपर्यायभूतस्य तदव्यतिरेकान्नित्यद्रव्यरूपतैव, नहि सर्वथाऽसत् क्वाप्युत्पद्यते, सिकतास्वपि तैलाद्युत्पत्तिप्रसङ्गात्; नापि सतो निरन्वयनाशेनात्यन्तोच्छेदः, सर्वशून्यतापत्तेः, तस्मात् श्रुताधारद्रव्याणां सर्वदैव सत्त्वात् तदव्यतिरेकिणः श्रुतस्यापि द्रव्यरूपतैवेति स्थितम्।

[पृष्ठ ६६]

पं. ३. अथवा नयविचारमुत्सृज्य द्रव्यादिचतुष्टयमाश्रित्याधिकृतमेवार्थं साद्यादिस्वरूपं चिन्तयति–तत्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः श्रुतं सादिकमनादिकं सान्तमनन्तं च भवति। इह च द्रव्यत[१] श्रुतमेकं बहूनि च पुरुषद्रव्याण्याश्रित्य चिन्तनीयम्। तत्रैकपुरुषद्रव्यमङ्गीकृत्य सादि सनिधनं च श्रुतं भावयति **कथ**मित्यादिना–यो येन भावेन पूर्वं नासीद् इदानीं च जातः स तेन भावेन तत्प्रथमो भवति, सम्यक्त्ववतः श्रुतस्य पाठस्तत्प्रथम इति सादिः, सम्यक्त्वात् च्युतस्य पुनर्मिथ्यात्वप्राप्तौ सपर्यवसितत्वम्, सति वा सम्यक्त्वे श्रुतलाभात् सादित्वम्, कारणान्तराद्वा [न]ष्टप्रतिपाते सान्तत्वम्। पं. ४. तान्येवाह–**प्रमादे**ति, इहभवेऽपि प्रमादात् श्रुतस्य नाशो भवति, अपरस्य ग्लानावस्थायां नश्यति, कस्यचित् सुरलोकाख्यभवान्तरगमनेन नश्यति। किल कश्चिच्चतुर्दशपूर्वधरः साधुर्मृत्वा देवलोकं गतः, तत्र देवत्वे तत् पूर्वाधीतं श्रुतं न स्मरति सर्वमपि, देशेन त्वेकादशाङ्गलक्षणेन कश्चित् स्मरत्यपि इति सम्पूर्णं भवान्तरगमनान्नश्यति। केवलोत्पत्तौ च कस्यचिदिहभवेऽपि श्रुतं नश्यति, "नट्ठम्मि तु छाउमत्थिए नाणे" [आव० नि० गा० ५३९] इति वचनात्, ततो लाभकाले तस्य सादित्वम्, प्रतिपाते तु सान्तत्वम्। पं. ५. एक-जीवद्रव्यापेक्षया चिन्तितं सादि-सपर्यवसितत्वम्। नानाजीवद्रव्यापेक्षया तु तदेव चिन्तयति–**बहूनि**त्यादि, द्रव्यविषये नानापुरुषान् नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतान् नानासम्यग्दृष्टिजीवानाश्रित्य सम्यक्श्रुतं सततं वर्त्तते, अभूद् भवति भविष्यति च, न तु कदाचिद् व्यवच्छिद्यते, ततस्तानाश्रित्येदमनाद्यपर्यवसितं भवति। पं. ६. अथ क्षेत्रत एकद्रव्यं प्रतीत्य प्रथमभङ्गं निरूपयति–**क्षेत्रत** इति, क्षेत्रे चिन्त्यमाने **भरतैरावत**क्षेत्रेषु प्रथमतीर्थकरकाले सुषमदुःषमारूपे तद् भवतीति सादित्वम्। चरमतीर्थकृत्तीर्थान्ते त्ववश्यं व्यवच्छिद्यत इति सपर्यवसितत्वम्। पञ्च **महाविदेह**क्षेत्राणि प्रतीत्य श्रुतज्ञानं सततं सर्वदैव वर्त्ततेऽतोऽनाद्यपर्यवसितम्। सामान्येन हि महाविदेहेषूत्सर्पिण्यवसर्पिण्यभावरूपनिजकालविशिष्टेषु द्वादशाङ्गश्रुतं कदापि न व्यवच्छिद्यते, तीर्थकर-गणधरादीनां तेषु सर्वदैव

१ द्रव्य जेटि० ॥

भावात् । पं. ८. काले त्वधिक्रियमाणे उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ समाश्रित्य भरतैरावतेषु द्वयोरपि समयोस्तृतीयारके प्रथमं भावात् सादित्वम्, उत्सर्पिण्यां चतुर्थस्याऽऽदौ अवसर्पिण्यां तु पञ्चमस्यान्तेऽवश्यं व्यवच्छेदात् सपर्यवसितत्वम् । पं. १२. कालचक्रगाथास्त्रयोविंशतिसङ्ख्याः सुगमाः । प. १८. नवरम्—तुडिताङ्गेषु सङ्गीतं भवति, तत्र प्रेक्षार्थं गीतवाद्यं सङ्गीतमुच्यते । त्रुटितानि—बाहुरक्षकादीन्याभरणानि च । पं. २०. अणङ्गेसु य त्ति अनाग्न्येषु । पं. २१. अङ्गेसु य त्ति दशातिरिक्तेषु । भवियपुणब्भवरहिय त्ति युगलधार्मिकत्वमनुभूय मृत्वा भूयोऽप्यनन्तरभावेन युगलधार्मिका न भवन्ति, किन्तु देवत्वेनोत्पद्यन्ते, असंक्लिष्टपरिणामयोगात् ।

[पृष्ठ ६७]

पं. ७. भावओ णमित्यादि, भावे पुनर्विचार्यमाणे प्रज्ञापकं गुरुं श्रुतप्रज्ञापनीयांश्चार्थानासाद्य सादिसपर्यवसितं स्यात् । पं. १२. कथम्? प्रज्ञापकसम्बन्ध्युपयोग १ स्वर २ प्रयत्न ३ आसनविशेषतः ४, उपयोगः—आन्तरः श्रुतपरिणामः, स्वरः—ध्वनिः, प्रयत्नः—ताल्वादिव्यापारविषयो यत्नः, आसनविशेषश्च—स्थानविशेषः । ततश्च 'प्रज्ञापके' गुरौ व्याख्यानादि कुर्वति सत्येते भावा भवन्ति । एते च प्रतिक्षणमन्यथाभवनतोऽनित्यत्वात् सादि-सपर्यवसिताः । ततश्चैतानाश्रित्य वक्तुरनन्यत्वात् श्रुतमपि सादि-सपर्यवसितं भवति । पं. १४. एतदर्थाभिधायिनी [उवयोगसर०] गाथा सुगमैव । पं. १६. अथवेत्यादिना प्रज्ञापनीयार्थगतान् भावानाह । तत्र अण्वादीनां गत्यादिप्रतिपादनात् सादि-सान्तत्वम् । नवरं गतिः—अण्वादीनां गमनपरिणामः, स्थितिः—तेषामेवावस्थितिपरिणामः, वर्णः—कृष्णादिः, आदिशब्दाद् भेद-सङ्घात-शब्द-रस-गन्ध-स्पर्श-संस्थानादिपरिग्रहः । नवरं भेदः—अण्वादीनामेवान्यसंयुक्तानां विघटनम्, सङ्घातस्तु—अन्यैः सह संयोगः, शब्दः—मन्द्र-मधुरादिः, रसादयः प्रतीताः । एते गतिस्थित्यादयो भावाः पर्याया धर्मा प्रज्ञापनीयार्थेषु परमाण्वादिषु भवन्ति, अनित्यत्वाच्चामी सादि-सपर्यवसिताः, एते श्रुतस्य ग्राह्याः । ग्राहकं च ग्राह्यनिबन्धनं भवति, ग्राह्यं यत्स्वरूपं किल गृह्यते ग्राहकं तत्स्वरूपं ततो भवति, अतः श्रुतमपि सादि-सपर्यवसितम् । क्षायोपशमिकभाव-भावश्रुतभावापेक्षयाऽनाद्यनन्तत्वं श्रुतस्य । पं. १८. यद्वा श्रुतस्य साद्यादिप्ररूपणायां सादि-सपर्यवसानपदद्वयोरथा चतुर्भङ्गी सम्भवति—सादिसपर्यवसितमित्यादिकेति । क्रमेण भावयति— पं. २३. द्वितीयस्तु प्ररूपणामात्रम्, असम्भवात् । विवक्षया सम्भवति वा, तामेवाऽऽह—अभव्यस्येत्यादि, वर्त्तमानकालापेक्षया सादित्वम्, अनागताद्धापेक्षयाऽपर्यवसितत्वम् । इह किल सम्यग्-मिथ्याभावेनाविशेषितं श्रुतसामान्यमात्रं ग्राह्यम्, अत एव भव्यस्य एतत् श्रुतमात्रम्, भव्यत्ववत्, अनादिकालादारभ्य भावादनादि, केवलोत्पत्तौ न भविष्यतीति सपर्यन्तम् । अभव्यस्य त्वभव्यत्ववद् जीवत्ववद्वा नियतं अनाद्यपर्यन्तम्, अभव्यस्य कदाचिदपि श्रुतमात्राव्यवच्छेदात् । पं. २६. अथ तृतीय-चतुर्थभङ्गौ श्रुतविषये भव्या-ऽभव्यौ प्रतीत्याभिहितौ । मतेः श्रुताविनाभूतायास्तर्हि का वार्त्ता? इत्याशङ्क्याऽऽह—इह चेत्यादि, एवमेव द्रष्टव्य इति । भव्या ऽभव्यद्वारेण तृतीय-चतुर्थभङ्गद्वयं अनादिमतिभावेऽपि योज्यम्, अनादिमतिभावः सपर्यवसितः अनादिमतिभावोऽपर्यवसितः भव्या-ऽभव्यौ प्रतीत्य । लाभकाले तस्य सादित्वम्, प्रतिपाते तु सान्तत्वमिति सादिसान्तता । कथं पुनस्तत्प्रतिपातसम्भवः? यदि जीवात् तत् श्रुतं भिन्नं तदा श्रुतस्य युज्येत नाशः, नाभिन्नस्य; अथ भिन्नमेव तत् तस्मात् तर्हि भिन्नश्रुतसद्भावेऽपि जीवोऽज्ञान्येव नित्यं स्यात्, श्रुतस्वभावरहितत्वाच्छ्रुतप्रकाश्यमर्थं न पश्येत्, यथाऽन्धः आत्मव्यतिरिक्तेन हस्तगतेनापि प्रदीपेन न तत् प्रकाश्यमर्थं पश्यति । अत्रोच्यते—हन्त ! श्रुतज्ञानं नियमाज्जीवस्वभावमेव, नाजीवस्वभावम्; जीवः पुनः श्रुतमेव केवलं न भवति, किन्त्वसौ श्रुतज्ञानं भवेत् श्रुताज्ञानं वा, मतिज्ञानं मत्यज्ञानं वा, विभङ्गोऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानं वेति । यदि 'श्रुतज्ञानं जीवस्वभावमेव' इतीष्यते तर्हि 'जीवात् तदव्यतिरिक्तम्' इति स्वत एवाभ्युपगतम्, युक्तं चैतत्, एवं हि सति युज्यते जीवस्य श्रुतकृतवस्त्ववबोधाद् ज्ञानित्वम्, केवलं श्रुतस्य नाशे जीवस्य नाशः स्यात्, तदव्यतिरेकात्, यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तस्य विनाशे तद् विनश्यत्येव, यथा घटस्वरूपविनाशे घटवस्त्विति, तदयुक्तम्, अस्तु श्रुतस्य नाशे जीवस्य तत्पर्यायविशिष्टतामात्रान्वितस्य नाशः,

न पुनः सर्वात्मना पर्यायान्तरविशिष्टस्यापि जीवस्य नाशः। यस्मादसौ जीव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यधर्माऽनन्तपर्यायश्च वर्त्तते। ततो यदैवाऽसौ श्रुतपर्यायेण विनश्यति तदैव श्रुताज्ञानादिपर्यायेणोत्पद्यते, सचेतनत्वा-ऽमूर्तत्व-सत्त्व-प्रमेयत्वादिभिरनुगतैरन्यव्यावृत्तैश्चा-नन्तैः पर्यायैर्विशिष्टोऽसौ सर्वावस्थास्ववतिष्ठते; अतः कथं श्रुतपर्यायमात्रविनाशे जीवस्य सर्वथा विनाशः स्यात्? यदि हि तस्यायमेवैकः पर्यायो भवेत् तदा तद्विनाशे तस्य सर्वनाशः स्यात्, एतच्च नास्ति, श्रुतपर्यायमात्रेण विनष्टस्यापि तस्य श्रुताज्ञानादि-पर्यायेणोत्पादाद् यथोक्तैश्चानन्तपर्यायैः परव्यावृत्तादिरूपैर्विशिष्टस्य सर्वदैवावस्थानादिति न किञ्चिद् दूषणमापतति। तदेवं सादिश्रुतं ज्ञानात्मकं सम्यग्दृष्टेः, अज्ञानात्मकं वा सादि सम्यक्त्वाच्च्युतस्य जन्तोर्मिथ्यादृष्टेः सतः। अलब्धपूर्वसम्यक्त्वस्य तदेवानादिश्रुतम्। सपर्यवसितं भव्यानाम्, केवलोत्पत्तौ ध्रुवं पर्यवसानात्। अपर्यवसितमभव्यानाम्, केवलोत्पादानर्हत्वादिति साद्यादिभावार्थः।

[पृष्ठ ६८]

पं. ३. **पर्यायाग्राक्षरं निष्पद्यते** इत्यादि, यद्यपीह केवलसर्वाकाशप्रदेशपर्यायराशिप्रमाणमक्षरपर्यायमानमुक्तं तथापि धर्मास्तिकायादिपञ्चद्रव्यपर्याया अप्यक्षरस्य पर्यायमानतया द्रष्टव्याः, अत एवोक्तं **सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणमिति भावार्थ** इति। यद्येवं धर्माऽधर्मा-ऽऽकाश-पुद्गलास्तिकाय-काललक्षणसर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणं अक्षरपर्यायमानं सूत्रकृता किमिति नोक्तम्? इत्याह— **स्तोकत्वाच्चेति**, सूत्रे धर्मास्तिकायादीनां पञ्चद्रव्याणां पर्याया नाभिहितास्साक्षात्, आकाशपर्यायेभ्यः स्तोका अनन्तभागवर्त्तिनस्त इति कृत्वा, किन्तु य एव तेभ्यो अतिबहवोऽनन्तगुणास्त एव सर्वाकाशपर्यायाः साक्षादुक्ताः, अर्थतस्तु धर्मास्तिकायादिपर्याया अपि स्वीकृता एव द्रष्टव्याः। एवं च सर्वाकाशप्रदेशानां यावन्तः सर्वेऽपि पर्यायाः सर्वद्रव्यपर्यायाश्च तावदेकस्याक्षरस्य पर्यायमानं भवति। अथ किमिति सर्वाकाशप्रदेशाग्रं सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणमुक्तम्? उच्यते—यत एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अनन्ता अगुरुलघु-पर्यायाः सन्ति अत इदमुक्तम्। अयमर्थः—इह निश्चयनयमतेन बादरं वस्तु सर्वमपि गुरुलघु, सूक्ष्मं त्वगुरुलघु, तत्रागुरुलघुवस्तु-सम्बन्धिनः पर्याया अप्यगुरुलघवः समयेऽभिधीयन्ते, आकाशप्रदेशाश्चागुरुलघवोऽतस्तत्पर्याया अप्यगुरुलघवो भण्यन्ते, ते चाऽऽ-काशप्रदेशेषु प्रत्येकमनन्ताः सन्ति अतस्तैरनन्तगुणमुक्तम्। पं. ९. अथेदं सर्वद्रव्य-पर्यायपरिमाणाक्षरं कीदृशम्? इत्याह— **इह चे**त्यादि, न क्षरति—न चलत्यनुपयोगेऽपि न प्रच्यवत इत्यक्षरम्, स च चेतनाभावः, जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः १। **तज्ज्ञेय**-मिति तस्य—ज्ञानस्य ज्ञेयं—घट-व्योमादि तज्ज्ञेयम्, साभिलापज्ञानविषयभूतघटाद्यभिलाप्यार्थरूपं ज्ञेयमप्यक्षरमुच्यते। कथम्? इति चेत्, यतो घट-व्योमाद्यभिलप्यं द्रव्यार्थतया न क्षरति—स्वरूपान्न चलति नित्यत्वादित्यक्षरम् २। तथा अकारादीन् अर्थान् अभि-धेयान् क्षरति—संशब्दयतीति निरुक्तविधिना अर्थ-कारलोपादक्षरम्, 'अकारादि' वर्णरूपम्, वर्णश्च वर्ण्यते—प्रकाश्यतेऽर्थोऽनेनाकार-ककारादिनेति वर्णः अकारादिरेव ३। त्रिविधेऽप्यक्षरे गृह्यमाणेऽदोषोऽत्र। नन्वेतत् सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरं किं सर्वमपि ज्ञानावरण-कर्मणा आव्रियते? न वा? इत्याह—**अस्य चे**त्यादि. अस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरस्यानन्तभागः 'नित्योद्घाटितः' सर्वदैवानावृत एवाऽऽस्ते, केषाम्? सर्वजीवानामपि, चकारात् केवलिवर्जानामिति दृश्यम्, तदक्षरस्य सर्वात्मनोद्घाटात्। स च जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदादनेकविधः। पं. १०. तत्र सर्वजघन्यस्याक्षरानन्तभागस्य स्वरूपमाह—**तत्रे**त्यादि, सर्वजघन्यो-ऽक्षरानन्तभाग आत्मनो जीवत्वनिबन्धनं चैतन्यमात्रं उत्कृष्टावरणेऽपि सति जीवस्य कदाचिदपि नाऽऽव्रियते, जीवस्वाभाव्यात्, अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गात्। यथा सुष्ठ्वपि जलदच्छन्नार्क-चन्द्रप्रकाशो दिन-रात्रिविभागनिबन्धनं किञ्चित्प्रभामात्रकारि मेघेन नाऽऽव्रियते, एवं जीवस्यापि चैतन्यमात्रं कदापि नाऽऽव्रियते। केषां पुनरसौ सर्वजघन्यः प्राप्यते? उच्यते—स्त्यानर्द्धिमहानिद्रोदय-सहितोत्कृष्टज्ञानावरणोदयादसौ सर्वजघन्योऽक्षरानन्तभागः पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां प्राप्यते, ततः क्रमविशुद्ध्या द्वीन्द्रियादीनामसौ क्रमेण क्रमेण वर्धते। अथोत्कृष्टो मध्यमश्चाक्षरानन्तभागः केषां भवति? अत्रोच्यते—उत्कृष्टोऽसावुत्कृष्टश्रुतविदः स्यात्, सम्पूर्णश्रुत-ज्ञानस्य द्वादशाङ्गविद इति भावः। नन्वस्य कथमक्षरानन्तभागः? यावता श्रुतज्ञानाक्षरं सम्पूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव? सत्यम्, किन्तु संङ्कलितसामान्यश्रुतकेवलाक्षरापेक्षयैव समस्तश्रुतविदोऽक्षरानन्तभागो विवक्षितः, सामान्ये चाक्षरे विवक्षिते केवलाक्षरापेक्षया

सम्पूर्णश्रुतविदोऽक्षरस्यानन्तभागवर्त्तित्वं युज्यत एव, केवलज्ञानस्वपर्यायेभ्यः श्रुतज्ञानस्वपर्यायाणामनन्तभागवर्तित्वात्, श्रुतज्ञानस्य परोक्षविषयत्वेनास्पष्टत्वाच्च। यच्च समुदितस्व-परपर्यायापेक्षया श्रुत-केवलाक्षरयोस्तुल्यत्वं तदिह न विवक्षितम्। विमध्यमाक्षरानन्तभागश्चोत्कृष्टश्रुतज्ञानविदः सकाशादवशेषाणां पृथिव्याद्येकेन्द्रिय-सम्पूर्णश्रुतज्ञानिनोर्मध्ये वर्त्तमानानामनन्तभागादिषट्स्थानपतितानां प्रायेणासौ भवति। प्रायोग्रहणाद् विवक्षितादेकस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानिनोऽवशेषाणामपि केषाञ्चिदुत्कृष्टश्रुतज्ञानवतां तत्तुल्य एवाक्षरानन्तभागो भवति, उत्कृष्ट इत्यर्थः, न तु विमध्यमः। 'त्रिविधेऽप्यक्षरे गृह्यमाणेऽविरोधः' इत्युक्तम्। 'अक्षरस्य चानन्तभागः सर्वजघन्यश्चैतन्यमात्रम्, स च पृथिव्याद्येकेन्द्रियादीनामसञ्ज्ञि-सञ्ज्ञिभेदानां सर्वजीवानामपि च सर्वदैवानावृत एवाऽऽस्ते' इति चोक्तम्। 'अपर्यवसितश्रुताधिकारादकाराद्येव चाक्षरं न्यायानुपाति' इति चोक्तम्। अत्राऽऽचष्टे—पुरुष-स्त्री-नपुंसक-घट-पटादिवर्णविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः 'सञ्ज्ञिनां' समनस्कजीवानां भवतु, एतत् श्रद्दध्महे, 'असंज्ञिनां तु' अमनस्कानां वर्णविज्ञानरूपोऽसौ न युज्यते, अक्षरलाभस्य परोपदेशजत्वात्, मनोविकलानां तु तदसम्भवात्; न च वाच्यम् 'मा भवत्वसौ तेषाम्' इति, यतोऽसावेकेन्द्रियाद्यसञ्ज्ञिनामपि वर्णविज्ञानाक्षरलाभोऽभिहितः, श्रुताज्ञानाक्षरस्य तेषामपि श्रुते भणनात्; तदेतत् कथमुपपद्यते ? । अत्रोच्यते—यथा 'चैतन्यं' जीवत्वमकृत्रिममाहारादिसंज्ञाद्वारेणासंज्ञिनामवगम्यते तथा लब्ध्यक्षरात्मकमूहाज्ञानमपि तेषामवगन्तव्यम्, स्तोकत्वेनास्पष्टत्वात् स्थूलदर्शिभिस्तदूहाज्ञानं नोपलक्ष्यते, पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां जीवत्वमिव। यदपि परोपदेशजत्वमक्षरस्योच्यते तदपि सञ्ज्ञा-व्यञ्जनाक्षरयोरवसेयम्। लब्ध्यक्षरं तु क्षयोपशमेन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुध्यते, तदेव च श्रुतज्ञानाधिकारे मुख्यतः प्रस्तुतम्, न तु संज्ञाव्यञ्जनाक्षरे। किञ्च गौरपि शबला-बहुलादिशब्देनाऽऽकारिता सती स्वनाम जानीते, प्रवृत्ति-निवृत्त्यादि च कुर्वती दृश्यते। न चैषां गवादीनां तथाविधः परोपदेशः समस्ति। अथ चाऽस्ति लब्ध्यक्षरम्, नरादिविज्ञानसद्भावात्, पुलीन्द्र-बाल-गोपालादीनामनक्षराणामपि वा यथा तदस्ति एवमसंज्ञिनामपि किमपि तदेष्टव्यम्। तदेवं साधितमेकेन्द्रियादीनामपि यच्च यावच्च लब्ध्यक्षरम्, इन्द्रिय-मनोनिमित्तं श्रुतग्रन्थानुसारि विज्ञानम्, श्रुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः, यश्च तदावरणकर्मक्षयोपशमः, एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरमिति भावार्थः।

पं. १६. **अत्राहे**त्यादि, 'अत्र' अस्मिन् प्रकृते **नन्दिसूत्रे** 'अविशेषितं' सामान्येनैव 'अक्षरं' ज्ञानमुक्तम्, अविशेषाभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्त्वात् तदेवात्राक्षरं गम्यते, इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकारात् श्रुताक्षरमकाराद्येवाक्षरशब्दवाच्यतया प्रकृतम्, तद् अकारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेत् ? न कथञ्चिदित्यर्थः; अयमभिप्रायः—केवलस्य सर्वद्रव्यपर्यायवेत्तृत्वाद् भवतु सर्वद्रव्यपर्यायमानता, श्रुतस्य तदनन्तभागविषयत्वात् कथं तत्पर्यायमानतुल्यता ? इति। अत्रोच्यते—नन्वत्रापि "अक्खर सन्नी सम्मं साईयं खलु" इत्यादिप्रक्रमेऽपर्यवसितश्रुते विचार्यमाणे "सव्वागासपएसग्गं" [सूत्र ७६] इत्यादिसूत्रस्य पाठात् श्रुताधिकारादक्षरमकाराद्येवात्र गम्यते, न तु केवलाक्षरम्। पं. १८. अथ ब्रूषे—"सव्वजीवाणं पि य ण"मित्यादिद्वितीयसूत्रात् केवलाक्षरं प्रथमसूत्रे गम्यते, न तु श्रुताक्षरम्, श्रुताक्षरपक्षे हि सकलद्वादशाङ्गविदां सम्पूर्णस्यापि श्रुताक्षरस्य उदघाटसद्भावात् 'सर्वजीवाश्रितोऽक्षरस्यानन्तभागो नित्योदघाटः' इति नोपपद्यते। पं. २०. अत्रार्थे **यद्येवमि**त्यादिना सूरिर्ब्रूते—हन्त ! एवं सति केवलाक्षरमपि तत्र नोपपद्यते, केवलिनां सम्पूर्णस्यापि केवलाक्षरस्य सद्भावात् 'सर्वजीवानामक्षरस्यानन्तभागो नित्योदघाटः' इत्यस्यार्थस्यानुपपत्तिरेव, **न अतस्तदि**ति, तत् सूत्रोक्तं केवलाक्षरमपि नोपपद्यत इत्यर्थः। अथ मनुषे—तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायान्येषामेवाक्षरस्यानन्तभागो नित्योदघाट इति केवलाक्षरग्रहणेऽविरोधः, हन्त ! तदेतच्छ्रुताक्षरग्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा समस्तद्वादशाङ्गविदो विहायान्येषामेवास्मदादीनामक्षरस्यानन्तभागो नित्योदघाट इतीहापि शक्यत एव वक्तुम्। यस्मात् प्राक्तनसूत्रे केवलाक्षरम्, द्वितीये चाऽकाराद्यक्षरमपि च भवतु, न कश्चिद् दोषः। पं. २३. न च श्रुताक्षरस्य सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणता विरुध्यते इति वाच्यम्, स्व-परपर्यायभेदादुभयस्यापि तदुपपत्तेः। **उभयं** श्रुताक्षरं केवलाक्षरं **चे**त्यर्थः। **तथाऽप्यत्रे**त्यादि, 'तत् पुनः' अकाराद्यक्षरमेकैकमप्य-

१ सर्वद्रव्य जेटि० ॥

नन्तपर्यायम् । इदमुक्तं भवति—इह समस्तत्रिभुवनवर्तीनि यानि परमाणु-द्वयणुकादीनि, एकाकाशप्रदेशादीनि च यानि द्रव्याणि, ये च सर्वेऽपि वर्णास्तदभिधेयाश्चार्थाः, तेषां सर्वेषामपि पिण्डितो यः पर्यायराशिर्भवति स एकैकस्याप्यकाराद्यक्षरस्य भवति, पिण्डित-राशिमध्ये ह्यकारस्य केचित् स्तोकाः स्वपर्यायाः, ते चानन्ताः, शेषास्त्वनन्तानन्तगुणाः परपर्याया इत्येवं सर्वसङ्ग्रहः । अयं च सर्वोऽपि सर्वद्रव्यपर्यायराशिः सद्भावतोऽनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किल लक्षम्, पदार्थाश्चाकारेकारादयो धर्मास्तिकायादयः सर्वाकाशप्रदेशसहिताः सर्वेऽपि किल सहस्रम्, तत्रैकस्याकारपदार्थस्य सर्वद्रव्यगतलक्षपर्यायराशिमध्यादस्तित्वेन सम्बद्धाः किल शतप्रमाणाः स्वपर्यायाः, शेषास्तु नास्तित्वेन सम्बद्धाः सर्वेऽपि परपर्यायाः । एवमिकारादे परमाणु-द्वयणुकादेश्चैकैकद्रव्यस्य वाच्यम् । पं. २५. आह—के पुनः स्वपर्यायाः ? के च परपर्यायाः ? यद्वशेनानन्तपर्यायता स्यादिति दर्शयति—**उदात्ता-ऽनुदात्ते**त्यादिना । पं. २६. **एवं यावत** इति यानुदात्ता-ऽनुदात्त-सानुनासिक-निरनुनासिकादीनात्मगतान् पर्यायान् 'केवलः' अन्यवर्णेनासंयुक्तोऽन्यवर्णसहितो वा [अकारो] 'लभते' अनुभवति ते तस्य स्वपर्यायाः प्रोच्यन्ते, अस्तित्वेन सम्बद्धत्वात्, ते चानन्ताः, तद्वाच्यस्य विष्णुपरमाण्वादिद्रव्यस्यानन्तत्वात् । यस्मात् सङ्ख्येयानामप्यक्षराणामभिधेयं पञ्चास्ति-कायगोचरमन्योन्यविलक्षणमनन्तम् । तथाहि—परमाणोः प्रारभ्य क्रमशः प्रदेशवृद्धया पुद्गलास्तिकायेऽपि सर्वदैवानन्तानि भिन्नरूपाणि द्रव्याणि प्राप्यन्ते, भिन्नाभिधानानि चैतानि । यथा—परमाणुः द्वयणुकः त्र्यणुकः चतुरणुको यावदनन्तप्रदेशिक इति । प्रत्येकं चानेकाभिधानान्येतानि, तद्यथा—अणुः परमाणुः निरंशो निर्भेदो निरवयवो निष्प्रदेशोऽप्रदेश इत्यादि । तथा द्वयणुको द्विप्रदेशिको द्विभेदो द्वयवयव इत्यादि सर्वद्रव्य-पर्यायेष्वायोजनीयम् । पं. २७. यतोऽभिधेयमनन्तं भिन्नरूपं भिन्नाभिधानं च तेन यत्परिमाणमभिधेयं तत्परिमाणमभिधानमपि भवति, अभिधेयभेदेनाभिधानस्यापि भेदात् । न हि येनैव स्वरूपेण घटादिशब्देऽकारादिवर्णाः सयुक्तास्तेनैव स्वरूपेण पटादिशब्देऽपि, अभिधेयैकत्वप्रसङ्गात्, एकरूपशब्दाभिधेयत्वाद् घटतत्स्वरूपवदिति, अतोऽभिधेयाऽऽनन्त्यादभिधानाऽऽनन्त्यमित्येनमर्थं वक्तुमाह **अभिलाप्ये**त्यादिना । पं. २९. **साङ्के-तिके**त्यादि, शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः साङ्केतिक एव, पृथुबुध्नोदराकारे ह्यर्थे घटशब्दः सङ्केतितो व्यवहाराय, न पुनस्तात्त्विकः शब्दस्य कश्चिन्निजाभिधेयोऽर्थः समस्ति, एवं कुटादिष्वपीति, एतत् **साङ्केतिकशब्दार्थवादिमतम्** । तदेतदयुक्तम्, घटः कुटः कुम्भ इत्यादयो हि शब्दा भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताः भिन्नार्थगोचराः । तथाहि—घटनाद् घटः, विशिष्टचेष्टावानर्थो घटः; तथा "कुट कौटिल्ये" कुटनात् कुटः, कौटिल्ययोगात् कुटः, "उभ उम्भ पूरणे" कौ उम्भनात् कुस्थितपूरणात् कुम्भः निपातनादिति । एवं निजाभिधेयमर्थं प्रतिपादयतां शब्दानां वाच्य-वाचकभावः शब्दार्थयोरस्ति सम्बन्धः, न तु सङ्केतमात्रम् । **शेषास्त्वि**त्यादि, शेषास्त्वकारादिसम्बन्धिनो घटादिगताश्चास्य परपर्यायाः, तेषां तत्राभावात् तेभ्यो व्यावृत्ततया नास्तित्वेन सम्बन्धात् । एव-मिकारादीनामपि भावनीयम् । इदमुक्तं भवति—अकारेकाराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः, यतो घटादिपर्याया अस्तित्वेन घटादिष्वेव सम्बद्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्यायाः, केवलमक्षरव्यावृत्तेन रूपेण तेऽपि सम्बद्धा एव, इत्यतस्तेषामपि परपर्यायाणां व्यावृत्तरूपतया पारमार्थिकं स्व-परपर्यायत्वं न विरुध्यते । द्विविधं हि वस्तुनः स्वरूपम्—अस्तित्वं नास्तित्वं च, ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य वस्तुनः स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन सम्बद्धास्ते तस्य पर-पर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते, अतोऽक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते, न पुनः सर्वथा ते तत्र न सम्बद्धाः, नास्तित्वेन तत्रापि सम्बन्धात् ।

[पृष्ठ ६९]

पं. १. **आहे**त्यादि, ये घटादीनां पर्यायास्ते कथं 'तस्ये'ति अक्षरस्य सत्का भवन्ति ? तेषामक्षरेऽसम्बद्धत्वादिति पराशयः । अत्रोच्यते—देवदत्तस्वधनवदक्षरेऽसम्बद्धा अपि घटादिपर्याया अक्षरस्य पर्याया भवन्ति । कुतः ? इत्याह— पं. २. **स्वपर्याय-विशेषणोपयोगात्** स्वपर्यायाणां विशेषणेन—विशेष्यव्यवस्थापकत्वेन परपर्यायाणामप्युपयोगात्, परपर्याया अप्यक्षरस्योपयुज्यन्त

इत्यर्थः । पं. ४. **तानन्तरेणे**त्यादि, नहि परपर्यायेष्वसत्सु स्वपर्यायाः केचिद् भेदेन सिध्यन्ति, स्व-परशब्दयोरापेक्षिकत्वात्; अन्यथा तदक्षरं घटादिभ्यो व्यावृत्तं न सिध्येत् । प्रयोगश्चापरोऽपि—घटादिपर्याया अप्यक्षरपर्यायाः, तत्र तेषामुपयुज्यमानत्वात् । इह यद् यस्योपयुज्यते तद् भेदवर्त्यपि तस्येति व्यपदिश्यते, यथा देवदत्तादेः स्वधनम्, उपयुज्यन्ते च स्वपर्यायविशेषणभावेन घटादिपर्याया अप्यक्षरस्य, अतस्ते तस्यापि भवन्ति । एवमक्षरपर्याया अपि घटादेर्वाच्याः । **तथा वस्तुस्थित्याऽपि चे**त्यादिग्रन्थो भावितार्थ एव । पं. ८. **"जे एगं जाणइ"** इत्यादि, एतदुक्तं भवति—'एकं' किमपि वस्तु सर्वैः स्व-परपर्यायैर्युक्तं जानन्—अवबुध्यमानः 'सर्वं' लोका-ऽलोकगतं वस्तु सर्वैः स्व-परपर्यायैर्युक्तं जानाति, सर्ववस्तुपरिज्ञाननान्तरीयकत्वादेकवस्तुज्ञानस्य । यश्च 'सर्वं' सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि सर्वपर्यायोपेतं जानात्येव, एकपरिज्ञानाविनाभावित्वात् सर्वपरिज्ञानस्येति । अतः सर्वं सर्वपर्यायोपेतं वस्तु अजानानो नाऽकाररूपमक्षरं 'सर्वथा' सर्वप्रकारैः सर्वपर्यायोपेतं जानाति । तस्माच्छेषसमस्तवस्तुपर्यायैः परिज्ञातैरेव एकमक्षरं ज्ञायते, नान्यथेति भाव । अक्षरविचारस्येह प्रक्रान्तत्वादेकैकमक्षरं सर्वद्रव्यपर्यायराशिमानमुच्यते, अन्यथाऽन्येषामपि परमाणु-द्व्यणुक-घटादिद्रव्याणामिदमेव पर्यायमानं द्रष्टव्यम्, एतद् वक्तुमाह— पं. ११. **ततश्चास्मात् सूत्रादि**त्यादि । पं. १५. **असौ** अनन्तभागो नित्योद्घाटोऽकारादिश्रुताक्षरस्य तज्जन्यज्ञानस्य वा द्रष्टव्यः, न शेषज्ञानानामित्यर्थः ।

पं. १८. भिन्नेऽर्थजाते यत् सदृशाक्षरालापकं तद् गमिकम् । असदृशं त्वगमिकम् । अन्यच्च गाथा-श्लोक-वेष्टकाद्यसदृशपाठात्मकत्वादगमिकम् । पं. २४. **अत्राहे**त्यादि, अङ्गा-ऽनङ्गप्रविष्टभेदद्वयस्य प्राधान्यख्यापनार्थम् । पं. २७. **गायदुगद्धं** तु इति, पूर्व-पश्चिमउरः-पृष्ठिरूपम् । पं. ३०. **गणहरकय०** गाहा, अङ्गा-ऽनङ्गप्रविष्टश्रुतयोरिदं नानात्वम् । किम्? इत्याह—गणधरैः—**गौतमस्वाम्यादयः** तत्कृतं श्रुतं द्वादशाङ्गरूपमङ्गप्रविष्टमुच्यते । स्थविरैः—**भद्रबाहुस्वाम्यादयस्तैः** 'यत् कृतं' यद् दृब्धं श्रुतमा**वश्यकनिर्युक्त्यादिकं** तद् 'अङ्गबाह्यम्' अनङ्गप्रविष्टमुच्यते । द्वितीयं भेदकारणमाह—**नियय**मित्यादि, सर्वतीर्थकरतीर्थेषु 'नियतं' निश्चयभावि यत् श्रुतं तदङ्गप्रविष्टमुच्यते, द्वादशाङ्गमित्यर्थः । यत् पुनः 'अनियतम्' अनिश्चयभावि प्रकीर्णकादिकं श्रुतं तदङ्गबाह्यं भणितम् । आह—ननु प्रथमं पूर्वाण्येवोपनिबध्नाति गणधर इत्यागमे श्रूयते, पूर्वकरणादेव चैतानि पूर्वाण्यभिधीयन्ते, तेषु च निःशेषमपि वाङ्मयमवतरति, अतश्चतुर्दशपूर्वात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु, किं शेषाङ्गविरचनेन ? अङ्गबाह्यश्रुतरचनेन वा ? इति, अत्रोच्यते—यद्यपि दृष्टिवादे सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति तथापि दुर्मेधसां तदवधारणाद्ययोग्यानां मन्दमतीनां तथा श्रावकादीनां स्त्रीणां चानुग्रहार्थं विशेषश्रुतस्य पूर्वेभ्यो विभिन्नत्याङ्गबाह्य-शेषाङ्गरूपस्य विरचना कृतेति । स्त्रीणां दृष्टिवादे अधिकार एव नास्ति । यदुक्तम्—

तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए य । एएण कारणेणं भूतावाओ य नो थीणं ॥१॥ ति

[विशेषा० गा० ५५२]

अशेषविशेषान्वितस्य समग्रवस्तुस्तोमस्य भूतस्य—सद्भूतस्य वादः—भणनं यत्रासौ 'भूतवादः' दृष्टिवादोऽभिधीयते । दीर्घत्वं तकारस्याऽऽर्षत्वात् ।

[पृष्ठ ७०]

पं. ९. **सावज्ज०** गाहा । सावद्ययोगविरतिरर्थाधिकारः सामायिकस्य १ । जिनगणोत्कीर्त्तनं चतुर्विंशतिस्तवस्याधिकारः २ । गुणवतः प्रतिपत्तिर्वन्दनकस्यार्थाधिकारः ३ । स्खलितस्य निन्दा प्रतिक्रमणस्यार्थाधिकारः ४ । व्रणचिकित्साऽर्थाधिकारः कायोत्सर्गस्य ५ । गुणधारणा च प्रत्याख्यानस्यार्थाधिकारः ६ । इति गाथाक्षरार्थमात्रम् ॥ पं. १५. यदिह दिवस-निशाप्रथम-चरमपौरुषीलक्षण एव काले कालग्रहणपूर्वकं पठ्यते, नान्यत्र, तत् **कालिकम् उत्तराध्ययनादि** । यत्तु कालवेलामात्रवर्जं शेषकालानियमेन पठ्यते तद् **उत्कालिकम् आवश्यकादि** । अन्यच्च **तन्दुलविचारणा**दिप्रकीर्णकेषु स्वाध्यायप्रस्थापनं योगोत्क्षेपकायोत्सर्गश्च न क्रियते ।

[पृष्ठ ७१]

पं. १. **महाकर्मेन्धनप्रभवश्चा**सावविध्यातश्चासौ दुःखानलश्च तस्य ज्वालाकलापस्तेन परीतं—व्याप्तं संसारवासगृहं पश्यन् यत् क्रियानुष्ठानविमुख एवाऽऽस्ते सत्त्वः स प्रमाद इति योगः। पं. ९. **जातौ** इति जन्मनि। पं. १५. **दृष्ट्वाऽप्यालोकमि**ति "मौ यौ पश्चाऽश्वैर्वैश्वदेवीति नाम्ना" [जयदेवच्छन्दः० अ० ६ सू० ३७] इति वैश्वदेवीदं छन्दः। आलोक्यते—ज्ञायतेऽनेनेत्यालोकः—मत्यादिज्ञानचतुष्टयं छाद्मस्थिकम्, तं 'दृष्ट्वा' लब्ध्वाऽपि विश्रम्भः—विश्वासो न विधेयः, यदुत 'लब्धं मया यल्लब्धव्यम्' इति ततो धर्मं प्रति मन्दादरो भवेयमिति। यतो हि तीरं नीताऽपि 'भ्राम्यते' इतस्ततः प्रेर्यते व्याघुट्यते वा नौर्वातेन। तथाहि—**ब्रह्मदत्तो**ऽत्र दृष्टान्तः 'नरेशः' चक्री **चित्रसम्भूत**जन्मनि **सम्भूत**पर्याये वर्तमानः लब्ध्वा वैराग्यं संयमानुष्ठानहेतुं 'प्रमादाद्' विषयव्यामूढचित्तेन निदानकरणाद् भ्रष्टयोगोऽजनि, ततः 'व्यावृत्तः' व्याघुटितो धर्मात्। चित्रमनेकशो भण्यमानोऽपि चक्रिभवे वाऽनेकशः साधुना भण्यमानोऽपि धर्माद् भ्रष्टयोगोऽजनि इति प्रमादफलमिदम्। पं. २० **अङ्गुलस्याष्टावि**त्यादि। तदुक्तम्—

अट्ठेगसट्ठिभागा पइदियहं अंगुलस्स वड्ढंति। उत्तरअयणम्मि पुणो ते चिय हायंति पइदियहं ॥१॥ [ ]

पं. २५. **तत्राविशेषेऽपी**ति ज्ञानस्य सामान्यशिक्षणेऽपि अयं विशेषः—ज्योतिषं च निमित्तं च तयोर्ज्ञानं सूरेः प्रव्राजनादिकार्ये उपयुज्यते इति तिथि-करणादि च ज्योतिष्कविषये ज्ञातव्यम्। तदन्यथा विवाहादिविषयव्यापारणे 'दोषः' आरम्भादिसमुत्थः।

[पृष्ठ ७२]

पं. २. **संलेखनाश्रुत**मिति, संलिख्यतेऽनया देहा-ऽऽत्मादीति सलेखना, शरीरापकर्षणरूपा सलेखना। सा च किल त्रिविधा—जघन्या षाण्मासिकी १ मध्यमा संवत्सरप्रमाणा २ उत्कृष्टा तु द्वादशवर्षरूपा ३। सा चैवम्— पं. ४-५-६. **चत्तारि**० गाहा, **नाइविगिट्ठो य**० गाहा, **वासं**० गाहा। प्रथमं चत्वारि वर्षाणि यावद् 'विचित्रं' चतुर्थ षष्ठा-ऽष्टम-दशम-द्वादशादिकं तपः करोति, पारणके च विकृतीर्गृह्णाति न वेत्यनियमः। अपराणि तु चत्वारि वर्षाणि तपस्तथैव विचित्रमेव करोति, पारणके तु सर्वथा विकृतिवर्जमस्निग्धं भुङ्क्ते। अन्यत्तु संवत्सरद्विकं एकान्तरितमाचाम्लं विदधाति-चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयति, पुनश्चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेनैव पारयतीत्यर्थः, एवं पुनः पुनर्यावद् वर्षद्वयम्। एकादशस्य तु वर्षस्याऽऽद्यान् षण्मासान् 'नातिविकृष्टं' नातिगाढं तपः करोति, चतुर्थं षष्ठं वा विधत्ते, नाष्टमादिकमित्यर्थः। पारणके तु 'परिमितं' किञ्चिदूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति। अपरांस्तु षण्मासान् 'विकृष्टम्' अष्टम-दशम-द्वादशादिकं तपः करोति, पारणके त्वाचाम्लमूनोदरतया न करोति, किन्तु ध्रुवेणेत्यर्थः। द्वादशं तु वर्षं कोटीसहितं निरन्तरमाचाम्लं करोतीत्यर्थः। चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयति, पुनश्चतुर्थं विधायाऽऽचाम्लेनैव पारयतीत्यादीन्यपि मतान्तराणि द्वादशवर्षविषयाणि दृश्यन्ते। इह च भोजनं कुर्वन् प्रतिदिवसमूनोदरतां तावत् करोति यावदेकं कवलमाहारयति, तमप्येक-द्वि-त्र्यादिसिक्थोनं तावदाहारयति यावदेकमेव सिक्थं भुङ्क्ते। अपरं चेह द्वादशवर्षस्य पर्यन्तवर्तिनश्चतुरो मासान् यावदेकान्तरिकेषु पारणकदिवसेषु सुचिरं तैलगण्डूषमसौ मुखे धार्यते, ततः खेलमल्लके भस्ममध्ये प्रक्षिप्य मुखमुष्णोदकेन शोधयति। यदि पुनस्तैलगण्डूषविधिं न कार्यते तदा वायुना मुखमीलनसम्भवे पर्यन्तसमये नमस्कारमुच्चारयितुं न शक्नोति। तदेवमुत्कृष्टसंलेखनानुसारेण जघन्य-मध्यमे अपि कार्ये। तदन्ते च भक्तप्रत्याख्यानादिमरणानामन्यतरत् प्रतिपद्यते, अत एवाह— **गिरिकंदर**मित्यादि। पं. ११. **गिलाणं किरियाईयं** ति उत्थानादिक्रियाकरणासमर्थं ज्ञात्वा। पं. १२. **[सव्वदव्व]दायणयाए** त्ति सर्वद्रव्यदर्शनेन। **नित्तण्हस्स** त्ति भक्ते विगततृष्णस्य। पं. २९. आवलिकाप्रविष्टेभ्य **इतरविमानानि** पुष्पावकीर्णकानि।

[पृष्ठ ७३]

पं. ४. **उवउत्ते समाणे** त्ति उपयुक्तः सन् श्रमणः 'परिवर्त्तते' गुणयति। पं. ७. **ओवयइ** त्ति आकाशाद् 'अवपतति' अवतरति **अंतद्धिए** त्ति 'अन्तर्हितः' आकाशस्थः। पं. ११. **सिंगनाइयकज्जेसु** त्ति, शृङ्गज्ञातेन तुल्यानि शृङ्गज्ञातीयानि,

तानि च तानि कार्याणि चेति विग्रहः । यथा गवि स्थितं शृङ्गं सर्वजनप्रकटं भवति, एवं यत् सर्वजनविदितं महदद्भुतं किञ्चिच्चैत्य-गुरु-सङ्घादिविषयमनर्थरूपं प्रत्यनीकेन क्रियमाणं भवति तत् **शृङ्गज्ञातीयमुच्यत इत्येके । शृङ्गनादितकार्यमित्यपरे,** तत्र तादृशे कार्ये उत्पन्ने शृङ्गनादः—शृङ्गापूरणपूर्वकं सङ्घमिलनलक्षणः स सञ्जातो यत्र तच्च तत् कार्यं चेति व्याचक्षते । **शृङ्गातीयं शृसङ्घ-**कार्यमुच्यते इति तात्पर्यम् । पं. १२. **आसुरुत्तः** रुष्टः, अत एव 'अप्रसन्नलेश्यः' अप्रशस्तचित्ताध्यवसायः । पं. १७. **सललियं** ति सलीलं यथा भवति एवमागत्य स्वस्थाने निवसति । पं. २३. **जाणि कप्पविमाणाणि** त्ति देव्युत्पत्ति-विषयाणीत्यर्थः ।

[पृष्ठ ७४]

पं. १३. **अणे** इत्यादि, **उसभाईणं संधराणं** ति जीवतामित्यर्थः । पं. १४. **पवाहेण** त्ति निर्वृतानां पुनरेकैक-तीर्थे बहूनि द्रष्टव्यानि । पं. २०. **तच्छिष्यभाव** इति शासनप्रणेतृतीर्थकरशिष्यभावः प्रत्येकबुद्धानामप्यदुष्टः । पं. २१. **अनियोगत (न तु नियोगत)** इति न त्ववश्यम्भावेनेत्यर्थः । पं. २६. अङ्गेषु प्रविष्टम्—अन्तर्गत**मङ्गप्रविष्टं** श्रुतमाचारादि ।

[पृष्ठ ७५]

पं. १०. **बाह्या-ऽभ्यन्तरग्रन्थरहितानामिति,** तत्र बाह्यः—धन-धान्यादिकः प्रतीतः, अभ्यन्तरश्च—मिथ्यात्वं नव नोकषायाः क्रोधादिकषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशविधः । पं. १७. **इह च यत्रे**त्यादि **आचार-गोचर-विनये**त्यादौ सूत्रे । पं. २३. **निस्संकिय॰** गाहा, 'निःशङ्कितः' निर्गतशङ्को जीवादिषु । 'निष्काङ्क्षितः' निर्गतकाङ्क्षोऽन्यतीर्थिकमतेषु । 'निर्विचिकित्सः' निः-सन्दिग्धोऽनुष्ठानफलं प्रति । अमूढदृष्टिः कुतीर्थिकविद्यादिदर्शनैः । 'चः' समुच्चये । एवं गुण-गुणिनोः कथञ्चिदभेदावेदनद्वारेण दर्शना-चारमभिदधता तद्वदभिधानमुखेनाऽसावुक्तः, अतस्तं गुणिनो भेदेनाप्याह—उपबृंहणमुपबृंहा—गुणवत्स्तुतिरूपा । 'स्थिरीकरणं' धर्मे चलाचलस्य स्थिरत्वापादनलक्षणम् । तथा 'वात्सल्यं' वत्सलभावः, साधर्मिकाणामाहारादिभिरुपष्टम्भकरणमित्यर्थः । तथा प्रकर्षेण भावना—जिनशासनमाहात्म्याविष्करणरूपा । अष्टावमी दर्शनाचारा इत्यर्थः । पं. २५. प्रभावकानष्टावुद्दिष्टानाह—**अइसेस॰** गाहा, व्याख्या—अतिशेषाः—अवधिज्ञानादयः, ते तैर्वा ऋद्धिर्यस्याऽसावतिशेषर्द्धिः, भिन्ने वा पदे, तद्वन्तौ दृश्यौ १ । 'आचार्यः' प्रावचनिकः २ । 'वादी' वादलब्धिमान् ३ । 'धर्मकथी' धर्मकथालब्धियुक्तः ४ । 'क्षपकः' विकृष्टतपःकर्त्ता ५ । 'नैमित्तिकः' सुनि-श्चितातीतादिनिमित्तवेदी ६ । विद्येत्युपलक्षणत्वाद् विद्यावान् ७ । 'राज-गणसम्मताः' पृथिवीपति-महाजनादिबहुमताः, स्थानद्वयमिदं एकं वा ८, अतिशेषद्धर्यैकत्वविवक्षायाम् । 'तीर्थं' प्रवचनं स्वसमृद्ध्या 'प्रभावयन्ति' मध्यस्थप्राणिनां बहुमानगोचरीकुर्वन्तीति गाथार्थः॥ पं. २८. प्रणिधानं—चित्तैकाग्रता, तेन मनो-वाक्कायेषु योगेषु युक्तः-तन्निग्रहपरः । पं. ३२. न इहलोका-द्यर्थमाजीवति तपसा यः सोऽ**नाजीवी** ।

[पृष्ठ ७६]

पं. ७. **'वेढाः' छन्दोविशेषाः** 'एकार्थप्रतिबद्धवचनसङ्कलिकेत्यर्थः' इत्यन्ये । पं. ९. द्रव्याद्यभ्युपगमाः **प्रतिपत्तयः,** मतान्तराणीत्यर्थः । सूत्रादर्थो गरीयान्, अत एव सूत्रधरादर्थधरः प्रधान इत्युच्यते । पं. ११. **स्थापनामि**त्यादि, रचना-पेक्षया तु द्वादशमङ्गं प्रथमम्, पूर्वगतस्य पूर्वं प्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात् पूर्वाण्युच्यन्ते । स्थापनामधिकृत्य च आचारः प्रथम-मङ्गम् । पं. १३. **सत्थपरिन्ने**त्यादिगाथायामत्र चतुर्थपादो **महापरिन्नोवहाणसुयमिति** वक्ष्यमाणव्याख्यानेनायमेवात्र पाठः । अन्यत्र च **"उवहाणसुयं महपरिन्ने"**ति पठ्यते तच्चेह नोपपद्यते, उद्देशनकालसंख्याया विघटनात्, **महापरिज्ञाया**स्तत्र प्रथममुपादानात् पश्चादुपधानश्रुतस्येति । प्रथमश्रुतस्कन्धो नवाध्ययननिष्पन्नो भवति । **पिंडेसणे**त्यादिना द्वितीयश्रुतस्कन्धाध्य-यनषोडशकम् । तत्र—

पं. १५. पिंडेसण १ सेज्जि२रिया ३ भासज्जाया य ४ वत्थ ५ पाएसा ६ ।
उग्गहपडिमा ७ सत्तेक्कसत्तया १४ भावण १५ विमुत्ती १६ ॥१॥

पं. १९. **शस्त्रपरिज्ञा**दिषु पञ्चविंशत्यध्ययनेषु क्रमेणैते उद्देशनकाला यथा—**एवं सत्थपरिण्णाए** इत्यादिना कथयतीति । पं. २५. **सत्त य छ** क्वेत्यादिगाथापूर्वार्द्धेनाऽऽद्यश्रुतस्कन्धे काला· ५१, **एक्कारे**त्याद्युत्तरार्द्धेन द्वितीयश्रुतस्कन्धगोचरकालाः ३४ अभिहिताः, सर्वे ८५ । पं. २७. **जइ दो सुयक्खंधा** इत्यादि **एवं विरुज्झइ** त्ति, श्रुतस्कन्धद्वयादिके उच्यमाने "नवबंभचेरमइउ" त्ति एवं विरुज्झइ, यतोऽनेन एक एव श्रुतस्कन्धो नवाध्ययनात्मक आचारस्य प्राप्नोति । पं. २८. सूरिराह— **एत्थ वि** त्ति **आचारनिर्युक्ता**वेवोक्तम् । तदेवाह— पं. २९. "हवइ य सपंचचूलो" त्ति द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्च चूडाः । यद्वा **आचारस्य** यदग्रं चूडादिकं तत्सहितस्य श्रुतस्कन्धद्वयादिकं परिमाणमुच्यते, नवाध्ययनमयस्य चाष्टादशपदसहस्राण्येव परिमाणम् ।

[पृष्ठ ७७]

पं. ५. **अणंता पज्जव** त्ति, पर्यवाः पर्याया धर्मा इत्यर्थः, तेऽनन्ता·, एकैकस्याप्यकाराद्यक्षरस्य तदभिधेयस्य जीवादिवस्तुनः प्रत्येकमनन्तपर्यायत्वात् स्व-परभेदभिन्नत्वेन । पं. ६. त्रसाः परीत्ताः, नानन्ताः, एवंरूपत्वादेव तेषाम् । पं. ७. **सासयकडे**त्यादौ **निकाइय** त्ति निकाचिताः—प्रतिष्ठिता इत्यर्थः । प. ९. **भावाः** पदार्थाः, अन्येऽप्यजीवादय· **आघविज्जंति** 'आख्यायन्ते' सामान्य-विशेषाभ्यां कथ्यन्ते जिनोक्ता भावाः । **पन्नविज्जंति** प्रज्ञाप्यन्ते नामादिभेदतः । **प्ररूप्यन्ते** नामादिस्वरूपकथनेन, यथा "पर्यायानभिधेयं च नामे"त्यादि । **दर्श्यन्ते** उपमामात्रत·, यथा गौस्तथा गवय इत्यादि । **निदर्श्यन्ते** हेतु-दृष्टान्तोपन्यासेन । **उपदर्श्यन्ते** उपनय-निगमनाभ्यां सकलनयाभिप्रायतो वा । इत्थं सर्वत्र व्याख्या वाच्या । पं. २७. **सूयगडे**त्यादि **रूढ्योच्यते** इति, सूत्रकृतशब्देन द्वितीयमेवाङ्गमुच्यते, नान्यत् । पं. २९. **व्यूहं कृत्वे**ति तिरस्कारं विधाय ईश्वरकारणिन इति, तथा च पठ्यते—

अज्ञो जन्तुरनीश· स्यादात्मनः सुख-दुःखयो· । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥१॥ [ ] इति ।

[पृष्ठ ७८]

पं. १०. क्रिया पूर्ववदिति 'व्यूहं कृत्वे'त्यादिका । **अनवस्थितस्ये**ति क्षणिकत्वेनानवस्थितत्वम् । पं. २१. **लघुत्वात् प्रक्रमस्ये**ति, प्रक्रमः 'लघुः' अल्पाक्षरो यथा भवति तथा कार्यम्, मत्वर्थीयेन चाक्षराधिक्याद् गुरुः स्यात्, अतो मत्वर्थीयात् 'प्रागेव' आदित एव बहुव्रीहिणा अज्ञाना इति वक्तुमुचितम्, तदसत्, बहुव्रीहिणा हि अज्ञानिकशब्दवाच्योऽर्थो न प्रतीयते, किन्तु न ज्ञानं यस्येति ज्ञानाभाव एव प्रतीयते, न चेदमिष्टम्, किन्तु नञा कुत्सार्थवृत्तिनाऽज्ञानमित्यविशिष्टं ज्ञानान्तरमेव प्रतीयते, कुत्सितत्वं च तस्य मिथ्यादर्शनसमन्वितत्वात्, अतो मत्वर्थीयोऽत्र युक्तः । पं. २२. यथा **गौरखरवदरण्य**मित्यत्र श्वापदविशेषो **गौरखरः**, तदुपेतमरण्यम् । अत्र जातिशब्दत्वाद् बहुव्रीहिणोक्तार्थत्वेऽपि मत्वर्थीयः प्रवृत्त· एवं प्रकृतेऽपि । पं. २३. **असञ्चित्यकृतः**— अज्ञाततया कृतो जीवेन योऽसौ बन्धः तस्य वैफल्यादय·—विफलत्वादयः उदयपरिशाटादयः तेषां प्रतिपत्तिः सैव लक्षणं येषां ते तथा । पं. २५. **सत्त्वमि**त्यादि एत एव सप्त सदादयः **जैनमते** स्यात्पदलाञ्छिताः सप्तभङ्गीति व्यपदेश्या भवन्ति । **सर्वं** वस्तु सप्तभङ्गीस्वभावम् । ते चामी—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया स्यादस्ति १ । परद्रव्याद्यपेक्षया स्यान्नास्ति २ । तथा कस्यचिदंशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् कस्यचिदंशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया स्यादस्ति च नास्ति चेति ३ । सदसतोरेव धर्मयोर्यौगपद्येनाभिधातुमशक्यत्वात् स्यादवक्तव्यम् ४ । तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षयाऽपरस्य तु सामस्त्येन स्व-परद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति ५ । तथैकांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षयाऽपरस्य तु यौगपद्येन स्व-परद्रव्याद्यपेक्षया स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति ६ । तथैकांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परद्रव्याद्यपेक्षयाऽन्यस्य तु यौगपद्येन स्व-परद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य चेति ७ । इयं सप्तभङ्गी । पं. २७. **अज्ञानिकास्तु 'को जानाति जीवः**

सन् ?' इत्याद्यज्ञानवादाभ्युपगमपराः इत्ययथावादित्वात् प्रतिक्षेपार्हाः। पं. ३१. **अनवभृतम्** अनियतं लिङ्गमाचारः शास्त्रं च येषां ते तथा। विनयप्रतिपत्तिरेव लक्षणं येषाम्। पं. ३२. **अवमः** लघुः। सूत्रे [पत्र ७७ पंक्ति ३०] **तेत्तीसं उद्देसणकाल** त्ति—

चउ तिय चउरो दो दो एक्कारस चेव हुंति एगसरा। सत्तेव महज्झयणा एगसरा बीयमुयखंधे ॥१॥

[ ] सर्वे ३३।

[पृष्ठ ७९]

पं. ५. **ठाणसूत्रं** सुगमम्। पं. ९. नवरम्– एक उत्तरो येषु द्व्यादिषु तानि एकोत्तराणि। पं. २५. **समवायसूत्रं** सुगमम्। पं. २८. नवरम्– **ठाणगसयविवड्ढियाणं** ति स्थानकशतं यावद् विवर्धितानाम्। पं. २९. **पल्लवग्गे समासिज्जइ** त्ति पर्यवपरिमाणम्– अभिधेयादि-तद्धर्मसंख्यानम्, यथा–परित्ता तसा इत्यादि। पर्यङ्कः पल्यङ्कः इत्यादिवत् पल्लवनिर्देशः प्राकृतत्वात् पर्यवशब्दस्यैव। यद्वा "पल्लवा इव पल्लवाः–अवयवास्तदग्रं–तत्परिमाणं 'समासिज्जइ' प्रतिपाद्यते" इति **समवायाङ्गवृत्तौ** व्याख्यातम् [पत्रं ११३–२]।

[पृष्ठ ८०]

पं. २४. **केयं व्याख्येति**, व्याख्यायन्ते जीवादयोऽर्था यस्यां सा व्याख्या, पञ्चममङ्गं रूढ्या उच्यते। पं. १८. सूत्रे **एगे साइरेगेऽज्झयणसए** त्ति पदं **चिरन्तनवाचना**गम्यमिदम्, नेदानीम्। **सम्प्रतिवाचना**यामेकचत्वारिंशत्सङ्ख्यशतानि सन्ति। शतशब्देन अध्ययनसंज्ञा। पं. २६. यद्वा ज्ञातानि च धर्मकथाश्च ज्ञाताधर्मकथाः। तद्योगाद् ग्रन्थोऽपि तथोच्यते। पढमसुयक्खंधे नायाणि एगूणवीस। **नायाणं नगराइं** इत्यादिसूत्रम्। **उद्यानानि** पुष्प-फल-च्छायोपगवृक्षोपशोभितानि। यद्वा यत्र वस्त्राद्यलङ्कृतदेहाः सन्निहिताशनाद्याहारा लोका येषु क्रीडन्ति तानि **उद्यानानि**। पं. २७. **चैत्यानि** व्यन्तरायतनानि। **वनषण्डाः** अनेकजातीयैरुत्तमैर्वृक्षैरुपशोभिताः। **समवसरणानि** तीर्थकरादीनां धर्मदेशनाभूमयः। ऐहलौकिका **ऋद्धिविशेषाः** अनेककोटीसङ्ख्या द्रव्यादिसम्पद्विशेषाः, पारलौकिकाश्च स्वर्गादिसमृद्धिरूपाः। **भोगपरित्यागाः** व्रतग्रहणेन। **प्रव्रज्यापर्यायाः** व्रतपरिपालनकालमानरूपाः।

[पृष्ठ ८१]

पं. १. **पाओवगमणाइं** ति पादपोपगमाभिधानमनशनम्, तत्प्रतिपत्तयः। प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिर्**बोधिलाभः**। पं. २. भवापेक्षया अन्त्याश्च ताः क्रियाश्च **अन्त्यक्रियाः**, ताश्च शैलेश्यवस्थाया गृह्यन्त इति। एवं नगरादीन्याख्यायन्ते। पं. १८. द्वितीयश्रुतस्कन्धस्वरूपमाह–**बिइए**त्यादि। **तव्विसेसणविसिट्ठे**त्यादि तत्रश्चार्थाधिकारसमूहात्मकान्यध्ययनान्येव दश वर्गा द्रष्टव्याः। पं. २३. **इगवीसं कोडिसयं**० गाहा। अस्यानयनम्– ५४०×९ अनेन प्राचीनस्य गुणने ४८६० जातम्, अस्य च पञ्चशतैर्गुणने २४३०००० , अस्यापि पञ्चशतैर्गुणने १२१५०००००० आपन्नम्। **एवं ठिए समाणे** त्ति प्रथमश्रुतस्कन्धवक्तव्यतायां भणितायां **अहिगयसुत्तस्स पत्थावो** ति प्रथमश्रुतस्कन्धकथानकसङ्ख्याख्यानानन्तरं द्वितीयश्रुतस्कन्धकथानकभेदप्ररूपणाय प्रस्तावः **दसधम्मकहाणं वग्गे**त्यादिकस्य॥ तदेवाह— पं. २५. **तं जहे**त्यादि। पं. २८. **पणुवीसं कोडिसयं**० गाहा। अस्य दशकस्य १० पञ्चशतगुणने ५०००, अस्यापि पञ्चभिः शतैर्गुणने २५०००००, अस्यापि च पञ्चशतैर्गुणने १२५०००००००० जातम्। "समलक्षणमतिगच्छन्ति" इति समलक्षगातिगानि ज्ञातानि यस्मात् सन्ति ततस्तानि शोध्यन्ते **इमाओ रासीउ** त्ति १२५०००००००० एतस्मादयं राशिः १२१५०००००० विशोध्यः ऊर्ध्वाधोभावेन द्वावपि विन्यस्य $\frac{१२५००००००००}{१२१५००००००}$ । ततो भवतीदं ३५०००००० सङ्ख्यानम् ॥

[पृष्ठ ८२]

पं. ७. **उवासगदस** त्ति दशाध्ययनात्मिका उपासकसमाचारगोचरा ग्रन्थपद्धतयः। अत्र श्रमणोपासकाना**मानन्द-कामदेवादी**नां नगरादीन्याख्यायन्ते। पं. ९. **सीलव्वये**त्यादि, शीलव्रतानि–अणुव्रतानि, गुणाः–गुणव्रतानि, विरमणानि–रागादिविरतयः, प्रत्याख्यानं–नमस्कारसहितादि, **पौषधोपवासः**–पर्वदिनोपवसनं आहारादित्यागरूपः, एतेषां प्रतिपादनानि–प्रतिपत्तयः तान्याख्यायन्ते। "पडिमाउ" त्ति एकादशोपासकप्रतिमाः कायोत्सर्गा वा। 'उपसर्गाः' देवतादिकृतोपद्रवाः। "पाओवगमणाइं" ति पादपोपगमनेनेव यदनशनं तदत्र ग्राह्यम्, न पुनः श्रावकाणां साक्षात् पादपोपगमनप्रतिपत्तिरस्ति, भक्त-परिज्ञयैव तन्मरणाभ्युपगमात्। यदुक्तम्—

सव्वा वि य अज्जाओ सव्वे वि हु पढमसंघयणवज्जा। सव्वे वि देसविरया पच्चक्खाणेण उ मरंति ॥१॥

[मरणसमाधि गा. ५४१]

प्रत्याख्यानं नाम भक्तपरिज्ञोच्यते। पं. २३. **अंतगडदशासूत्रं** सुगमम्। पं. २५. नवरम् **भोगपरि-भोगा** इति पदम्, तत्र "परिहरणा होइ परिभोगो" [ ] त्ति वचनाद् भोगविषयः परिभोगः–परित्याग एवोच्यते।

[पृष्ठ ८३]

पं. ११. अत्र **सव्वाणि अज्झयणाणि जुगव**मित्यादि, अध्ययनसमूहात्मको वर्गो यतो युगपदुद्दिश्यते, अतः सर्वा-ण्येकवर्गगतानि युगपदुद्दिश्यन्ते ॥

[पृष्ठ ८४]

पं. ४. **पण्हावागरणाइं** इत्यादि। प्रश्नानां च व्याकरणानां च योगात् प्रश्नव्याकरणानि तेष्विति, बहुवचनं बहुत्वात् स्यात्। **अट्ठुत्तर**मित्यादि, तत्राङ्गुष्ठ-बाहुप्रश्नादिका मन्त्रविद्या प्रश्ना। याः पुनर्विधिना जप्यमाना अपृष्टा एव शुभा-ऽशुभं कथयन्त्येता अप्रश्ना। तथा अङ्गुष्ठादिप्रश्नभावं तदभावं च प्रतीत्य या विद्याः शुभा-ऽशुभं कथयन्ति ताः 'प्रश्नाप्रश्नाः' उभयरूपा ज्ञेयाः। तथाऽन्ये 'दिव्याः विचित्रा विद्यातिशयाः' स्तम्भ-स्तोभ-वशीकरण-विद्वेषीकरणोच्चाटनादयः अङ्गुष्ठक-बाहु-आदर्शकादि-सम्बन्धिनीभिः प्रश्नविद्याभिः अङ्गुष्ठादीनामावेशनात् शुभाऽशुभं कथ्यते। 'नाग-सुपर्णैः' सह भवनपतिविशेषैः उपलक्षणत्वाद् यक्षादि-भिश्च सह साधकस्येति गम्यते 'दिव्याः' तात्त्विकाः 'संवादाः' शुभा-ऽशुभगताः संलापा आख्यायन्ते, नागादयोऽवतारिताः स्मृता वा सन्त आगत्य शुभा-ऽशुभं कथयन्ति। पं. ९. नवरम्– यद्यपीहाध्ययनानां दशत्वाद् दशैवोद्देशनकाला भवन्ति, तथापि **वाचनान्तरा**पेक्षया पञ्चचत्वारिंशदिति सम्भाव्यते इति **पणयालीस**मित्याद्यविरुद्धम्। पं. २०. **फलविवाग** इति, फलरूपो विपाकः फलविपाकः स आख्यायते।

[पृष्ठ ८५]

पं. १७. **प्रायो व्यवच्छिन्न**मिति, प्रायोग्रहणेन **प्रथमानुयोग**मात्रस्यास्तित्वं तत्काले सूचयति।

[पृष्ठ ८६]

पं. २३. **उत्तरभेयओ तेयासीतिविहं** ति, मूलभेदसप्तसु मध्याद्याद्यद्वयस्य प्रत्येकं चतुर्दशभेदत्वात् २८, तृतीयादिशेष-भेदपञ्चकस्य प्रत्येकमेकादशभेदत्वात् ५५, सर्वभेदाः ८३ त्र्यशीतिर्भवन्ति।

[पृष्ठ ८७]

पं. ६. **नयचिंताए वि** त्ति नयचिन्तायामपि। पं. २१. **सुत्तं छिन्न** ति अपरनिरपेक्षम्। पं. ३०. **चउरो बावीसाउ** त्ति छिन्नच्छेदनय२२अच्छिन्नच्छेदनय२२त्रिकनय२२चतुष्कनया२२भिप्रायतः चतस्रः।

[पृष्ठ ८८]

पं. २५. सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए। सेसाइं अंगाइं एक्कारस आणुपुव्वीए ॥१॥

[आचाराङ्गनि० गा० ८] इति सम्पूर्णगाथा।

किंतु सा ठवण त्ति स्थापनामाश्रित्य **निर्युक्ता**वभिहितं प्रथमत्वम्। अक्षररचनया तु पूर्वं पूर्वाणि रच्यन्ते।

[पृष्ठ ८९]

पं. ८. अट्ठमे **कम्मप्पवायपुव्वे पयइ-ठिइ-अणुभाग-पएसाइएहिं** ति एतत्स्वरूपं यथा—

स्वभावः **प्रकृतिः** प्रोक्ता, **स्थितिः** कालावधारणम् । [ए]तद्रसोऽ**नुभागः** स्यात्, **प्रदेशो** ऽ(शं)शकल्पनम् ॥१॥

यद्वा—

ठिइबंधु दलस्स ठिई, **पएसबंधो** पएसगहणं जं । ताण रसो **अणुभागो**, तस्समुदाओ **पगइबंधो** ॥१॥

[पञ्चसङ्ग्रह गा० ४३२]

पं. १४. बारसमे **अणे य पाणा वण्णिय** त्ति, इन्द्रियादयः । पं. १६. तेरसमे **छंद-किरियाविहाणा य** त्ति, पद्यविषयाणि तन्मध्या(?)शार्दूलादिरूपाणि छन्दांसि क्रियाश्च—करोति-भवत्यादय एतासां विधानानि वर्ण्यन्त इति क्रियाविशालम् । [पत्र ८८ पंक्ति ४] **उप्पायपुव्वस्स ण**मित्यादि । नवरम्—'वस्तु' नियतार्थाधिकारप्रतिबद्धो ग्रन्थविशेषः, अध्ययनवत् । पं. २६. **'समत्तसुयनाणिणो'** चउदसपुव्वधरा । पं. २०. एकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते ।

[पृष्ठ ९०]

पं. ५. **दसारगंडियाउ** त्ति दशार्हाः—**समुद्रविजयादयो** दश **वसुदेवान्ताः** तत्प्रतिबद्धा गण्डिका दशार्हगण्डिकाः । पं. १५. **आइच्चजसाईण**मित्यादि । **ऋषभ**निर्वृतिप्राप्त्यनन्तरं **ऋषभस्य** पओप्पए **आदित्ययशः**प्रभृतीनां नरपतीनां सङ्ख्यां सिद्धि-सर्वार्थसिद्धिगमनविषयां **सगरसुतानामग्रतः सुबुद्धि**नामाऽमात्यः परिकथयति । पं. १६. नृपतीनां चतुर्दश लक्षाः सिद्धा[1], एको लक्षः सर्वार्थे, एवमेकैकस्थाने पुरुषयुगान्यसङ्ख्येयानि भवन्ति । तदनन्तरं चतुर्दश लक्षाः सिद्धा[1] द्वौ लक्षौ सर्वार्थे,

---

१ अत्र आद्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगण्डिकायुगले श्री**मलयगिरिसूरि**विरचित**नन्दिसूत्रवृत्ति**-श्री**देवेन्द्रसूरि**निर्मित**सिद्धदण्डिका-प्रकरण**-तदवचूरी-श्री**विनयविजयोपाध्याय**रचित**लोकप्रकाशा**दिषु एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-यावत्पञ्चाशत्सङ्ख्या वर्तन्ते, न तु एकलक्ष-द्विलक्ष-त्रिलक्षादिका , यथा श्री**सङ्घदासगणिवाचक**विहित**वसुदेवहिण्डी**प्रथमखण्डान्तर्गतसिद्धगण्डिकायां [पत्र ३०१] श्री**जिनदास-गणिमहत्तर**निर्मित**नन्दीसूत्रचूर्णि**गतसिद्धगण्डिकायां [पत्र ७८] श्री**हरिभद्रसूरि**सूत्रित**नन्दिसूत्रलघुवृत्ति**गतसिद्धगण्डिकायां [पत्र ९१] च आद्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगण्डिकायन्त्रयुगले दृश्यन्ते । अत एव तदनुसारेण श्री**श्रीचन्द्राचार्य**पादैः अत्राद्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगण्डिका-युगले एकलक्ष-द्विलक्ष-त्रिलक्षादिव्याख्यानं कृतमस्ति ।

अपि च— एतद्व्याख्यानभेदविषये एतदप्यवधेयमस्ति यत्- सिद्धगण्डिकास्वरूपावेदकोपरिनिर्दिष्टचूर्णि-वृत्त्यादिसर्वग्रन्थेषु सिद्धगण्डिका-स्वरूपावेदकोल्लिखितगाथाकदम्बकावलोकनेन केवलैक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-यावत्पञ्चाशत्सङ्ख्यान्तरितसिद्धि-सर्वार्थगमनप्रतीतिरेवोपजायते, न लक्षा-न्तरितप्रतीतिरिति । तथा **वसुदेवहिण्डि-नन्दिचूर्णि-नन्दीलघुवृत्तिषु** सिद्धगण्डिकास्वरूपावेदकगाथानां व्याख्यानं स्पष्टीकरणं वा लेशतोऽपि न वर्तते, किन्तु गाथाभावावेदकानि यन्त्रकाण्येव केवलं वर्तन्ते । तेषु च अन्तरितैक-द्विकादिस्थानेषु लक्षनिर्देश एव वर्तते । किञ्च-श्री**मलयगिरिनन्दीवृत्तौ सिद्धदण्डिकाप्रकरणे लोकप्रकाशे** च **चूर्णि-वृत्तिकृदा**द्युल्लिखितसिद्धगण्डिकास्वरूपावेदकगाथानां व्याख्यानं यन्त्रकाणि चापि वर्तन्ते, तत्रान्तरितैक-द्विकादिसंख्यानिर्देश एव वर्तते, न लक्षनिर्देश इत्यत्र तात्त्विकनिर्णयविषये बहुश्रुताः प्रमाणम् ।

अथ चात्र द्वितीयप्रतिलोमसिद्धगण्डिकाविषयेऽपि एतदवधानीयमस्ति, यत्- **चूर्णि-लघुवृत्ति-बृहद्वृत्ति-सिद्धदण्डिकाप्रकरणाव-चूरी-लोकप्रकाशा**दिसर्वशास्त्रेषु प्रतिलोमसिद्धगण्डिकायन्त्रकं मुद्रितस्वरूपमेवोपलभ्यते, किन्तु **चूर्णिकृद्-लघुवृत्तिकृदु**ल्लिखितप्रतिलोम-सिद्धगण्डिकास्वरूपावेदकगाथासु तथा श्री**मलयगिरिवृत्ति-सिद्धदण्डिकाप्रकरण-तदवचूरी-लोकप्रकाशेषु** च "ततोऽनन्तरं (अनुलोमसिद्धगण्डिकासमाप्त्यनन्तरं) चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरन्तरं सर्वार्थसिद्धे एकः सिद्धो, भूयश्चतुर्दश लक्षाः सर्वार्थे एकः सिद्धो, एवं चतुर्दशलक्षान्तरित एकैकः सिद्धो तावद् वक्तव्यो यावत् तेऽप्येकका असंख्येया भवन्ति" इत्यादि निर्दिष्टं वर्तते, किञ्चात्र निर्देशे अनुलोमगण्डिकाचरमपञ्चाशत्सर्वार्थसिद्धानन्तरं प्रतिलोमसिद्धगण्डिकाप्रारम्भश्चेत् चतुर्दशलक्षसर्वार्थपदेनैव क्रियेत तदा प्रतिलोमगण्डिकाप्रारम्भः सम्यक्तया न प्रतीतिमायाति, एवमेव द्वितीयप्रतिलोमगण्डिकाचरमपञ्चाशत्सिद्धिगमनानन्तरं तृतीयसमसंख्यगण्डिकाप्रारम्भश्चेत् सिद्धिपदेनैव जायेत तत्रापि तृतीयगण्डिकाप्रारम्भो न सम्यक् प्रतीतिमायास्यति इति यन्त्रकानुसारि व्याख्यानमेव सङ्गतिमङ्गति । किन्तु तथाव्याख्याने

अत्रापि पुरुषयुगान्यसङ्ख्येयान्यतिक्रान्तानि अनया रीत्या । नवरम्—**एक्को य होइ सव्वट्ठे** इत्यादि, गाथासु सर्वत्र **सव्वट्ठ**शब्देन **विजय-वैजयन्तादिकं** विमानपञ्चकमपि ज्ञेयम्, न पुनर्मध्यवर्त्येवैकम्, अन्यथा तस्य लक्षयोजनप्रमाणतया कथमेतावन्तस्तत्र मान्ति ? त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्कत्वाच्च सर्वेषामपि च्यवनकालोऽपि न झटित्येवास्ति तेषाम् । न च मध्यवर्त्येव रूढं **सर्वार्थ**शब्देनेति वाच्यम्, इह विमानपञ्चकाधारस्य तत्प्रस्तटस्य **सर्वार्थ**नाम्ना रूढत्वादिति सर्वत्र गाथास्वनुत्तरविमानाधारः प्रस्तटो द्रष्टव्यः, तत्स्थ-विमानेपूत्पद्यन्ते देवा इति सम्प्रदायः, **देवेन्द्रनरकेन्द्रक**शास्त्रे पञ्चोत्तरविमानप्रस्तटस्य सर्वार्थशब्देन भणनात् । तानि चासङ्ख्येय-योजनकोटिप्रमाणानि सन्तीति न कश्चिद् विरोधः । पं. २०. **विवरीयं**० गाहा । चोद्दस लक्खा सव्वट्ठे एगो लक्खो सिद्धीए । एयाए परिवाडीए ताव नेयं जाव सिद्धीए पन्नास लक्खा, सव्वट्ठे चोद्दस लक्खा ॥ पं. २३. **चित्तंतरगंडिया तओ चउरो** त्ति, प्रथमा एकाद्येकोत्तरा । नवरम्—परस्परापेक्षया एकाद्येकोत्तरत्वं वाच्यम्, अध-उपरिभावेन १ । द्वितीयायां गण्डिकायामप्यध उपरि च एकादिद्विकोत्तरत्वम् २ । तृतीयायामेकादित्र्युत्तरत्वमध उपरि च कार्यम् ३ । चतुर्थ्यां पंक्तिद्वयेन ऊर्ध्वा-ऽधोभावेन एकूणतीस तिगा मंडेयव्वा, सा च त्र्यादिका द्व्यादिविषमोत्तरा ४ । पं. २६. **जाव असंखेज्ज दो वि** त्ति, 'द्वे' सिद्धि-सर्वार्थगमने असङ्ख्येयपुरुषयुगरूपेण वाच्ये एकादिद्व्युत्तरायां चित्रान्तरगण्डिकायाम् २ । तृतीयायामेकादित्र्युत्तरायां गण्डिकाया-मेकः शिवगतौ चत्वारः सर्वार्थे उत्पद्यन्ते । अनया रीत्या द्वावपि राशी एकादित्र्युत्तरस्वरूपेणासङ्ख्येयपुरुषयुगानि यावद् भवत ३ ।

पं. २८. त्र्यादिकायां द्व्यादिविषमोत्तरायां चतुर्थगण्डिकायां **सेसेसु इमो भवे खेवो** त्ति राशिद्वयभावेन एकोनत्रिंश-त्सङ्ख्यस्थापितत्रिकेष्वाद्यं विमुच्य शेषेष्वष्टाविंशतिसङ्ख्येष्वधस्तनोपरितनेषु त्रिकेष्वयं द्विकादिको वक्ष्यमाणगाथात्रयोक्तोऽङ्कक्षेप कार्यः, ततोऽधस्तनत्रिकमध्ये द्विकक्षेपे जाता पञ्च १, उपरितनत्रिकमध्ये पञ्चक्षेपे जाता अष्टौ २, अनया रीत्या सर्वं वाच्यम्, याव-देकत्रिंशत्सङ्ख्या (' यावदष्टाविंशतिसङ्ख्या)धस्तनत्रिकस्य शतक्षेपे जातं १०३, उपरितनत्रिकस्य च मध्ये षड्विंशत्या क्षिप्तयाऽन्ये जाता एकोनत्रिंशत् । एवमियमाद्या गण्डिका विषमोत्तरा । अनया दिशा असङ्ख्या अन्या विषमोत्तरा ज्ञेयाः । परं सर्वस्यामप्यन्यस्यां गण्डिकायां प्ररूप्यमाणायां यदान्यम[ङ्क]स्थानं किञ्चिन् प्राचीनायामागतं तदेकोनत्रिंशत्सङ्ख्यवाराः स्थाप्यम्, ततः प्रथमं स्थानं विमुच्य शेषासु एकोनत्रिंशत्स्वष्टाविंशतिसङ्ख्यासु "दुग पण नवग"मित्यादि प्रागुक्तगाथात्रयोक्तो द्विकाद्यङ्कप्रक्षेपः अध उपरि च प्राग्रीत्या कार्यः । पञ्चाशल्लक्षा सागरोपमकोटीनां किल **ऋषभा-ऽजित**योरन्तरम्, एतावदन्तरे च प्रभूतकालस्वरूपे प्रभूता-सङ्ख्येयासङ्ख्येयसङ्ख्यानेन एतावन्तः सिद्धाः सर्वार्थे च गता इति **सगरपुत्राणां सुबुद्धि**र्जगाद ।

चूर्णिकृदादिनिर्दिष्टा "विवरीय सव्वट्ठे चोद्दस लक्खा उ निव्वुतो एगो ।" इत्यादिगाथा सामान्यनिर्देशरूपैव प्रत्येतव्या, न क्रमावेदिकेति बोद्धव्यम् । यद्यप्यस्मिन् व्याख्याने श्री**मलयगिरिसूरि**-श्री**देवेन्द्रसूरि**-श्री**विनयविजयोपाध्या**दिव्याख्यानेन सह स्पष्ट एव विरोधस्तथापि तैरेव लिखितयन्त्रकेण सहानाहूतो विरोधोऽपि स्पष्ट एवेत्यपि विचार्यमस्ति ।

अपरं च-श्री**देवेन्द्रसूरि**सूत्रित**चैत्यवन्दनभाष्य**सत्कश्री**धर्मघोषसूरि**विरचित**संघाचारटीका**याः रत्नसारकथायां सिद्धगण्डिकाव्या-वर्णने सिद्धदण्डिकाप्रकरणगाथा एवोद्धृता सन्ति, तत्र **सङ्घाचारवृत्ति**रचनासमये तैः स्वगुरुश्री**देवेन्द्रसूरि**सूत्रिता एव गाथा यथाव-दुद्धृताः किन्तु **तद्वृत्ति**पुन-प्रमार्जनसमये उपर्युक्तगण्डिकान्त-प्रारम्भाप्रतीतिदोषमुद्भाव्य यन्त्रकानुसारेण **सिद्धदण्डिकाप्रकरण**गत-गाथायाः परावृत्तिः स्वव्याख्याया कृताऽस्ति । सा चैवम् —

आइच्चजसाइ सिवे चउदस लक्खा उ, एगु सव्वट्ठे । एव जा इक्किक्का असंख, इय दुग-तिगाई वि ॥

जा पन्नासमसंखा १, तो सव्वट्ठम्मि लक्खचउदसग । एगो सिवे, तहेव य अस्संखा जाव पण्णासं ॥

अत्र द्वितीयगाथाया "तो सव्वट्ठम्मि लक्ख०" इत्यादिगाथापाठस्थाने श्री**धर्मघोषसूरि**पादैः "तो सिवि इगु चउद लक्ख सव्वट्ठे । पुण इगु सिवे तहेव य०" इति अतिसुसङ्गतपाठपरावृत्तिर्विहिताऽस्ति । यद्यपि **जेसलमेरु-पत्तना**दिस्थिततालपत्रीयादिप्रतिषु नास्तीय पाठपरावृत्तिः किन्तु **स्तम्भतीर्थी**यश्री**शान्तिनाथताडपत्रीय**भाण्डागारे संशोधित-परिवर्धितादर्शे इयं सुसङ्गता पाठपरावृत्तिर्दृश्यत इति । प्रतिश्चेयं तदन्तः प्रतिपत्रं तथा स्थाने स्थाने नवीनपरिवर्धितानेकपत्रेषु पूजादिविषयकानेकमतमतान्तरचर्चाद्युल्लेखेन **बृहद्वृत्तिप्रतिरूपा** जाताऽस्ति, अतीवोपयोगिनी चाप्यस्ति ॥

[पृष्ठ ९३]

पं. ५. **पणवीसुत्तराणि दो सयाणि** त्ति, इहोत्पादादीनां **बिन्दुसार**पर्यन्तानां चतुर्दशानां पूर्वाणां "दस चोद्दस अट्ठऽट्ठारसेव बारस दुवे य वत्थूणि" । [सू. १०९ गा. ७९–८०] इत्यादिना प्राक् सूत्रोक्तगाथाद्वयेनाभिहितदशादिपञ्चविंशत्यन्तानामङ्कानां मीलने पञ्चविंशत्युत्तरशतद्वयं भवति । पं. ६. **चउतीसं** ति "चउ बारस अट्ठ य दस हवंति" [पंक्ति ४] इतिगाथोक्तचतुःप्रभृतीनां मीलने ३४ भवति । पं. १२. **इच्चेयम्मि** इत्यादि । पं. १६. **अन्ये** तु– **धर्मापेक्षया अनन्ता भावाः प्रतिवस्त्वस्तित्वप्रतिबद्धाः**, कोऽर्थः ?–एकस्यैव वस्तुनोऽनुवृत्तिरूपाः [**भावाः**] धर्मा **अनन्ताः** सन्ति, तदारम्भकाणामणूनामनन्तगुणकृष्णादिधर्मयुक्तत्वात् । **अनन्ता अभावा** प्रतिवस्तु नास्तित्वप्रतिबद्धाः, एकस्यापि वस्तुनस्त्रैलोक्यव्यावृत्तत्वादित्यभावानामनन्तत्वम् । पं. २३. **सिद्धा अनन्ताः** निष्ठितार्था लोकान्तवर्तिनः । **असिद्धास्तु** संसारिणस्तेऽप्यनन्ता., असिद्धसर्वजीवराशेः सिद्धराश्यपेक्षया अनन्तगुणत्वख्यापनार्थमित्यर्थः ।

[पृष्ठ ९४]

पं. ५. **उभयाज्ञया पुनरि**ति सूत्रार्थोभयैर्विराध्य । पं. ६. **अथवे**त्यादि **एतद्विराधनये**ति, आज्ञाऽकरणेनेत्यर्थः । पं. ९. **वर्त्तमाने विशिष्टविराधका** ये मनुष्यजीवास्तेषाम् । पं. १६. **विइवइंसु** त्ति व्यतिव्रजितवन्तः । पं. १७. प्रत्युत्पन्नसूत्रे **व्यतिव्रजन्ति** व्यतिक्रामन्ति । **विइवइस्संति** 'व्यतिव्रजिष्यन्ति' व्यतिक्रमिष्यन्तीत्यर्थः ।

[पृष्ठ ९५]

पं. ११. **श्रुतज्ञानी** दत्तोपयोगः **जानाति** स्पष्टावभासिना श्रुतज्ञानेनावबुध्यते । पं. १२. **मतिविशेषत** इति, तदुक्तम्—

अक्खरलंभेण समा ऊणऽहिया हुंति मइविसेसेण । ते वि य मईविसेसा सुयनाणब्भंतरे जाण ॥१॥ [विशेषा. गा. १४३]

श्रुतज्ञानाश्रयास्ते इत्यर्थः ॥ पं. १८. **आगमसत्थ०** गाहा । **पूर्वेषु विशारदाः** विपश्चितो 'धीराः' व्रतानुपालनस्थिराः श्रुतज्ञानस्य लाभं 'ब्रुवते' प्रतिपादयन्ति । किं तत् ? इत्याह–"तं" ति तदेवाऽऽगमशास्त्रग्रहणम् । यत् किम् ? इत्याह–यद् 'बुद्धिगुणैः' वक्ष्यमाणस्वरूपैरष्टभिर्दृष्टं शास्त्रे इत्यक्षरयोजना । अयमर्थः–शिष्यते–शिक्ष्यते बोध्यते प्राणी अनेनेति शास्त्रम्, तच्चाविशेषितं सामान्येन सर्वमपि मत्यादिज्ञानमुच्यते, सर्वेणापि ज्ञानेन जन्तूनां बोधनात् । अतो विशेषे स्थापयितुमाह–आगमरूपं शास्त्रमागमशास्त्रम्, श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तस्य ग्रहणं–गुरुसकाशादादानं तदेव श्रुतलाभं ब्रुवते, यद् बुद्धिगुणैरष्टभिः शास्त्रे दृष्टम्, नान्यदिति, वक्ष्यमाणशुश्रूषादिगुणाष्टकक्रमेणैव श्रुतज्ञानं ग्राह्यम् नान्यथेति तात्पर्यमिति गाथार्थः ॥ पं. २०. **सुस्सूसइ०** गाहा । अथवा यद् यदाज्ञापयति कार्यजातं गुरुस्तत् तत् सम्यगनुग्रहं मन्यमानः श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते । पूर्वनिरूपितश्च कार्यकरणकाले पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति । इत्थं चाऽऽराधितस्य गुरोरन्तिके सूत्रं तदर्थं वा सम्यक् शृणोति । श्रुतं चावग्रहेण गृह्णाति इत्यादि पूर्ववत् । यद्वा प्रतिपृष्टेन गुरुणा पुनरादिष्टश्च सन् तद्वचः सम्यक् शृणोति । श्रुतं चाऽवग्रहेण सम्यग् गृह्णातीत्यादि तथैव, यावत् करोति च गुरुभणितं सम्यगिति । एवं गुर्वाराधनविषयत्वेनाष्टावपि गुणा व्याख्यायन्ते, श्रुतावाप्तौ मूलोपायत्वाद् गुर्वाराधनाया इति गाथार्थः ॥

श्रीधनेश्वरसूरीणां पादपद्मोपजीविना । नन्दिवृत्तौ कृता व्याख्या श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिणा ॥१॥

समाप्ता चेयं नन्द्यध्ययनटीकायां श्रीशीलभद्र-प्रभुश्रीधनेश्वरसूरिशिष्य-श्री-श्रीचन्द्रसूरिविरचिता दुर्गपदव्याख्या ॥

से त्तं नंदी समत्तेति वचनादाचार्यपदस्थापनायामनुयोगानुज्ञाविषयेयं नन्दिरेतावत्प्रमाणा समर्थितेति ॥



श्री-श्रीचन्द्रसूरिविनिर्मितटीकासमेता

लघुनन्दिः–अनुज्ञानन्दिः ।

इत ऊर्ध्वं **से किं तमणुन्ना** इत्यादि ग्रन्थपद्धतिर्या किलाऽपरा दृश्यते सूत्रपुस्तके सा **गणानुज्ञा**विषया **लघुनन्दि**रिति सम्भाव्यते, अतोऽस्या अपि गमनिका काचिदुच्यते—

१. से किं तं अणुण्णा? अणुण्णा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–नामाणुण्णा १ ठवणाणुण्णा २ दव्वाणुण्णा ३ खेत्ताणुण्णा ४ कालाणुण्णा ५ भावाणुण्णा ६ ।

१. तत्रानुज्ञानमनुज्ञा, 'समर्पितं सम्प्रति तव गण-शिष्य-वस्त्र-पात्रादिकं सर्वं मयेति तवाऽऽयत्तमिदं सर्वं सम्प्रति' इत्येवंरूपो गुरुवचनविशेषोऽनुज्ञोच्यते । अनुज्ञायते वाऽनयेति 'अनुज्ञा' गुरूक्तिरेव । **से**शब्दोऽथशब्दार्थे, अथशब्दश्च वाक्योपन्यासार्थः । अथ **किंरूपा** साऽनुज्ञा ? अत्र प्रतिवचनम् - षड्विधा प्ररूपिता । तद्यथा–**नामाणुन्ने**त्यादि । नाम–अभिधानं तद्रूपाऽनुज्ञा नामानुज्ञा, अनुज्ञेति नामैव नामानुज्ञेत्यर्थः । अथवा नाम्ना–नाममात्रेण अनुज्ञा नामानुज्ञा, जीवादीत्यर्थः ॥ नामानुज्ञास्वरूपनिरूपणायाह—

२. से किं तं नामाणुण्णा? २ जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं वा अजीवाणं वा तदुभयस्स वा तदुभयाणं वा अणुण्ण त्ति णामं कीरइ । से त्तं णामाणुण्णा १ ।

२. से किं तमित्यादि । अत्र द्विकलक्षणेनाङ्केन द्वितीयमपि **नामाणुन्न** त्ति पदं सूचितं द्रष्टव्यम्, एवमन्यत्रापि यथासम्भवमभ्यूह्यम् । **ण**मिति वाक्यालङ्कारे । 'यस्य' जीवा-जीवादिवस्तुनोऽनुज्ञेति नाम क्रियते तदेव जीवादिकं वस्तु नामानुज्ञा, 'नाम्ना–नाममात्रेणानुज्ञा नामानुज्ञा' इति व्युत्पत्त्या । वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः, तत्र जीवस्य गो-सुतादेः कश्चित् स्वाभिप्रायवशाद् अणुन्न त्ति नाम करोति, एवं शेषेष्वपि, सेयं नामानुज्ञा १ ॥ इदानीं स्थापनानुज्ञोच्यते—

३. से किं तं ठवणाणुण्णा? ठवणाणुण्णा जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा लेप्पकम्मे वा चित्तकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघातिमे वा अक्खे वा वराडए वा एगे वा अणेगे वा सब्भावट्ठवणाए वा असब्भावट्ठवणाए वा अणुण्ण त्ति ठवणा ठविज्जति । से त्तं ठवणाणुण्णा २ ।

३. से किं तमित्यादि । अथ केयं स्थापनानुज्ञा ? स्थापनानुज्ञा **जण्ण**मित्यादि । तत्र स्थाप्यते–अमुकोऽयमित्यभिप्रायेण क्रियते–निर्वर्त्यत इति स्थापना काष्ठकर्मादिगताऽनुज्ञानामकवस्त्वाकाररूपा, ततः स्थापना च सा अनुज्ञा च स्थापनानुज्ञा, यत् साकारमनाकारं वा तदभिप्रायेण क्रियते सा स्थापनेत्यर्थः । **जण्णं** ति, 'णं' पूर्ववत् । यत् काष्ठकर्मणि चित्रकर्मणि वा यावद् वराटके वा एको वाऽनेके वा सद्भावस्थापनया वा असद्भावस्थापनया वा **अणुन्न** त्ति अनुज्ञा-तद्वतोरभेदोपचारात् तद्वानिह गृह्यते **ठवणा ठविज्जइ** त्ति काष्ठकर्मादिषु स्थापनारूपः 'स्थाप्यते' क्रियते, आवृत्त्या बहुवचनान्तत्वे स्थापनारूपाः 'स्थाप्यन्ते' क्रियन्ते सेयं स्थापनानुज्ञेति आदिपदेन सम्बन्ध इति समुदायार्थः । अवयवार्थस्तु–क्रियत इति कर्म, काष्ठे कर्म काष्ठकर्म, काष्ठनिकुट्टितरूपकमित्यर्थः । **पोत्थकम्मे व** त्ति अत्र पोत्थं–पोत्तं वस्त्रमित्यर्थः. तत्र कर्म–तत्पल्लवनिष्पन्नं धीउल्लिकारूपमित्यर्थः, अथवा पोत्थं–पुस्तकं तच्चेह सम्पुटकरूपं माह्यम्, तत्र कर्म तन्मध्ये वर्तिकालिखितं रूपकमित्यर्थः, अथवा पोत्थं–ताडीपत्रादि तत्र कर्म तच्छेदनिष्पन्नं रूपकम् । 'लेप्यकर्म' लेप्यरूपकम् । 'चित्रकर्म' चित्रलिखितं रूपकम् । 'ग्रन्थिमं' कौशलातिशयाद् ग्रन्थिसमुदायनिष्पादितरूपकम् । 'वेष्टिमं' पुष्पवेष्टनक्रमेण निष्पन्नरूपम्, यद्वा एकं द्व्यादीनि वा वस्त्राणि वेष्टयन् कश्चिद् रूप-

कमुत्थापयति तद् वेष्टिमम् । 'पूरिमं' भरिमं पित्तलादिमयप्रतिमावत् । 'सङ्घातिमं' बहुवस्त्रादिखण्डसङ्घातनिष्पन्नं कञ्चुकवत् । 'अक्षः' चन्दनकः । 'वराटकः' कपर्दकः । वाशब्दाः पक्षान्तरसूचकाः । तत्र काष्ठकर्मादिष्वाकारवती सद्भावस्थापना, अनुज्ञावदाकारस्य तत्र सद्भावात्; अक्षादिष्वनाकारवती असद्भावस्थापना, आकारस्य त[त्रास]द्भावात् । सेयं स्थापनानुज्ञा २ ॥

४. णाम-ठवणाणं को पतिविसेसो ? णामं आवकहियं, ठवणा इत्तिरिया वा होज्जा आवकहिया वा ।

४. नाम-स्थापनयोः कः प्रतिविशेषः ? न कश्चित्, तथाहि—यथा जीवादावर्थशून्ये द्रव्यमात्रेऽनुज्ञेति नाम क्रियते तथैव तच्छून्ये काष्ठकर्मादौ द्रव्यमात्रे स्थापनाऽपि क्रियते, अतोऽनुज्ञाशब्दार्थशून्ये द्रव्यमात्रे उभयोः क्रियमाणत्वान्नानयोः कश्चिद् विशेषः । अत्रोत्तरमाह—**नामं आवकहिय**मित्यादि, नाम 'यावत्कथिकं' स्वाश्रयद्रव्यस्यास्तित्वकथां यावदनुवर्त्तते, न पुनरन्तराऽप्युपरमते । स्थापना पुनः 'इत्वरा' स्वल्पकालभाविनी वा स्याद् यावत्कथिका वा, स्वाश्रयद्रव्येऽवतिष्ठमानेऽपि काचिदन्तराऽपि निवर्त्तते, काचित्तु तत्सत्तां यावदवतिष्ठत इति भावः ॥ सम्प्रति द्रव्यानुज्ञाव्याचिख्यासया प्रश्नयति—

५. से किं तं दव्वाणुण्णा ? २ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आगमतो य णोआगमतो य ।

५. **से किं तमिति** । अथ केय द्रव्यानुज्ञा ? हन्त द्रव्यानुज्ञा द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा । नवरं द्रवति—गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं—विवक्षितयोरतीत-भविष्यद्भावयोः कारणम्, अनुभूतविवक्षितभावं अनुभविष्यद्विवक्षितभावं वा वस्त्वित्यर्थः, द्रव्यं च तदनुज्ञा च द्रव्यानुज्ञा, अनुभूतानुज्ञाशब्दार्थपरिणामं अनुभविष्यदनुज्ञाशब्दार्थपरिणामं वा देहादीत्यर्थः । द्रव्यलक्षणं च सामान्यत इदम्—

भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥ १ ॥ [ ]

प्रागेव व्याख्यातेयं नन्दिशब्दार्थप्रस्तावे [पत्र ९९] । तत्रागमतो नोआगमतश्चेति, आगमतोऽत्रानुज्ञाशब्दार्थपरिज्ञानमेव, नोआगमतस्तु अनुज्ञाशब्दार्थपरिज्ञानरहितता ॥

६. से किं तं आगमतो दव्वाणुण्णा ? आगमतो दव्वाणुण्णा जस्स णं अणुण्ण त्ति पदं सिक्खियं ठितं जितं मितं परिजितं णामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं[1] अक्खलियं अमिलियं अविच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं । से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए, नो अणुप्पेहाए, कम्हा ? "अणुवओगो दव्व"मिति कट्टु । णेगमस्स एगे अणुवउत्ते आगमतो एगा दव्वाणुण्णा, दोण्णि अणुवउत्ता आगमतो दोण्णि दव्वाणुण्णाओ, एवं जावतिया अणुवउत्ता तावतियाओ दव्वाणुण्णाओ । एवमेव ववहारस्स वि । संगहस्स एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा दव्वाणुण्णा दव्वाणुण्णाओ वा सा एगा दव्वाणुण्णा । उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते आगमतो एगा दव्वाणुण्णा पुहत्तं नेच्छइ । तिण्हं सद्दणयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थू, कम्हा? जति जाणए अणुवउत्ते ण भवति । से त्तं आगमतो दव्वाणुण्णा ।

६. अथ केयमागमतो द्रव्यानुज्ञा ? अत्रोत्तरम्—आगमतो द्रव्यानुज्ञा **जस्स ण**मित्यादि । णं वाक्यालङ्कारे, 'यस्य' कस्यचिदनुज्ञापदं अनुज्ञापदविषया व्युत्पत्तिरित्यर्थः, शिक्षितं जितं यावद् वाचनोपगतं भवति । 'सः' जन्तुः 'तत्र' अनुज्ञापदेऽनुप्रेक्षावर्जशेषवाचनादिभिर्वर्त्तमानोऽप्यनुज्ञापदार्थोपयोगेऽवर्त्तमानः 'आगमतः' आगममाश्रित्य द्रव्यानुज्ञेति समुदायार्थः ।

१ **अव्वाइद्धं** इति पाठान्तरं टीकायां निष्टङ्कितं व्याख्यातं च ॥

तत्रादित आरम्य पठनक्रियया यदन्तं नीतं तच्छिक्षितमुच्यते। इहानुज्ञापदस्य प्रकृतत्वेऽपि तदितरशास्त्रविषये शिक्षितादिपदानामर्थो व्याख्येयः, तदनुसारेणानुज्ञापदेऽपि तथा योज्यः। **ठियं** ति पठनक्रियया यदन्तं नीतं तदेवाविस्मरणतश्चेतसि स्थितत्वात् स्थितम्, अप्रच्युतमित्यर्थः। परावर्त्तनं कुर्वतः परेण वा क्वचित् पृष्टस्य यच्छीघ्रमागच्छति तज्जितम्। विज्ञातश्लोक-पद-वर्णादिसङ्ख्यं मितम्। परि–समन्तात् सर्वप्रकारैर्जितं–परावर्तनं कुर्वतो यत् क्रमेणोत्क्रमेण वा समागच्छतीत्यर्थः। नाम–अभिधानं तेन समं नामसमम्। इदमुक्तं भवति—यथा स्वनाम कस्यचिच्छिक्षितं स्थितं जितं मितं परिजितं भवति तथैतदपीत्यर्थः। घोषाः–उदात्तादयस्तैर्वाचनाचार्याभिहितघोषैः समं घोषसमम्, यथा गुरुणा अभिहिता घोषास्तथा शिष्योऽपि यत्र शिक्षते तद् घोषसममिति भावः। एक-द्व्यादिभिरक्षरैर्हीनं हीनाक्षरम्, न तथा अहीनाक्षरम्। एकादिभिरक्षरैरधिकमत्यक्षरम्, न तथा अनत्यक्षरम्। **अव्वाइद्धक्खरं** ति विपर्यस्तरत्नमालागतरत्नानीव व्याविद्धानि–विपर्यस्तान्यक्षराणि यत्र तद् व्याविद्धाक्षरम्, [न तथा अव्याविद्धाक्षरम्]। **अव्वाइद्धमिति क्वचित् पाठः**, तत्रापि व्याविद्धाक्षरयोगाद् व्याविद्धम्, न तथा अव्याविद्धम्। उपलशकलाद्याकुलभूभागे लाङ्गलमिव स्खलति यत् तत् स्खलितम्, न तथाऽस्खलितम्। अनेकशास्त्रसम्बन्धीनि सूत्राण्येकत्र मीलयित्वा यत्र पठति तद् मिलितम्, असदृशधान्यमेलकवत्, अथवा परावर्त्तमानस्य यत्र पदादिविच्छेदो न प्रतीयते तद् मिलितम्, न तथाऽमिलितम्। एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्यान्यस्थाननिबद्धानि एकार्थानि सूत्राण्येकत्र स्थाने समानीय पठतो व्यत्याम्रेडितम्, अथवा आचारादिसूत्रमध्ये स्वमतिचर्चितानि तत्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रक्षिपतो व्यत्याम्रेडितम्, अस्थानविरतिकं वा व्यत्याम्रेडितम्, न तथाऽव्यत्याम्रेडितम्। सूत्रतो बिन्दु-मात्रादिभिरन्यूनमर्थतस्त्वध्याहाराऽऽकाङ्क्षादिरहितं प्रतिपूर्णम्। उदात्तादिघोषैरविकलं प्रतिपूर्णघोषम्। अत्राह–घोषसममित्युक्तमेव तत्, क इह विशेषः? इति, उच्यते–घोषसममिति शिक्षाकालमधिकृत्योक्तम्, प्रतिपूर्णघोषं तु परावर्त्तनादिकालमधिकृत्येति विशेषः। कण्ठश्च ओष्ठश्च कण्ठौष्ठमिति, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारः, तेन विप्रमुक्तं कण्ठौष्ठविप्रमुक्तम्, बाल-मूकभाषितवद् यदव्यक्तं न भवतीत्यर्थः। गुरुप्रदत्तया वाचनया उपगतं–प्राप्तं गुरुवाचनोपगतम्, न तु कर्णाघाटकेन शिक्षितं न वा पुस्तकात् स्वयमेवाधीतमिति भावः। तदेवं यस्य जन्तोरनुज्ञेति पदं शिक्षितादिगुणोपेतं भवति स जन्तुः 'तत्र' पदे 'वाचनया' शिष्याध्यापनलक्षणया 'प्रच्छनया' अ[वि]ज्ञातार्थादिर्गुरुं प्रति प्रश्नलक्षणया 'परावर्त्तनया' पुनः पुनः सूत्रार्थाभ्यासलक्षणया 'धर्मकथया' अहिंसादिधर्मप्ररूपणस्वरूपया वर्त्तमानोऽप्यनुपयुक्तत्वादिति साध्याहारमागमतो द्रव्यानुज्ञेत्यनेन सम्बन्धः। ननु यथा वाचनादिभिस्तत्र वर्त्तमानोऽपि द्रव्यानुज्ञा भवति तथाऽनुप्रेक्षयाऽपि तत्र वर्त्तमानः सा भवति? नेत्याह—**नो अणुप्पेहाए** त्ति 'अनुप्रेक्षया' अर्थानुचिन्तनरूपया तत्र वर्त्तमानो न द्रव्यानुज्ञेत्यर्थः, अनुप्रेक्षाया उपयोगमन्तरेणाभावादुपयुक्तस्य च द्रव्यानुज्ञात्वायोगादिति भावः। अत्राह परः–**कम्ह** त्ति ननु कस्माद् वाचनादिभिस्तत्र वर्त्तमानोऽपि द्रव्यानुज्ञा? कस्माच्चानुप्रेक्षया तत्र वर्त्तमानोऽपि न तथा? इति प्रच्छकाभिप्रायः। एवं पृष्टे सत्याह–**अणुवओगो दव्वमिति कट्टु** त्ति 'अनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा' उपयोजनमुपयोगः–जीवस्य बोधरूपो व्यापारः, स चेह विवक्षितार्थे चित्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते, न विद्यते उपयोगो यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः, स विवक्षितोपयोगस्य कारणमात्रत्वाद् द्रव्यमेव भवति 'इति कृत्वा' अस्मात् कारणादनन्तरोक्तमुपपद्यत इति शेषः। एतदुक्तं भवति–उपयोगपूर्वका अनुपयोगपूर्वकाश्च वाचना-प्रच्छनादयः सम्भवन्त्येव, तत्रेह द्रव्यानुज्ञाचिन्ताप्रस्तावादनुपयोगपूर्वकाः गृह्यन्ते। इह जिनमते सर्वमपि सूत्रमर्थश्च श्रोतृजनमपेक्ष्य नयैर्विचार्यते,

नत्थि नएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि। आसज्ज उ सोयारं नए नयविसारओ बूया ॥१॥ [ ]

इति वचनात्, अत इयमपि द्रव्यानुज्ञा नयैश्चिन्त्यते। ते च मूलभेदमाश्रित्य नैगमादयः सप्त। तदुक्तम्—

नेगम संगह ववहार उजुसुए चेव होंति बोधव्वे। सद्दे य समभिरूढे एवंभूते य मूलनया ॥ १ ॥ [ ]

तत्र नैगमस्तावत् कियत्यो द्रव्यानुज्ञा इच्छति? इत्याह—**नेगमस्से**त्यादि सामान्य-विशेषादिप्रकारेण नैकोऽपि तु बहवो

गमाः—वस्तुपरिच्छेदा यस्यासौ निरुक्तविधिना ककारस्य लोपाद् नैगमः, सामान्य-विशेषादिप्रकारैर्बहुरूपवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः । तस्य नैगमस्यैको देवदत्तादिरनुज्ञाशब्दार्थज्ञोऽनुपयुक्त आगमत एका द्रव्यानुज्ञा, द्वौ देवदत्त-यज्ञदत्तावनुपयुक्तौ आगमतो द्वे द्रव्यानुज्ञे, त्रयो देवदत्त-यज्ञदत्त-सोमदत्ता अनुपयुक्ता आगमतस्तिस्रो द्रव्यानुज्ञाः, किं बहुना ? एवं यावन्तो देवदत्तादयोऽनुपयुक्तास्तावत्य एव ता अतीतादिकालत्रयवर्तिन्यो नैगमतो द्रव्यानुज्ञा इति, न पुनः सङ्ग्रहवत् सामान्यवादित्वादेकैवेति भावः । **एवमेव ववहारस्स वि** त्ति व्यवहरणं व्यवहारः—लौकिकप्रवृत्तिरूपः, तत्प्रधानो नयोऽपि व्यवहारः, तस्यापि 'एवमेव' नैगमवदेको देवदत्तादिरनुपयुक्त आगमत एका द्रव्यानुज्ञा इत्यादि सर्वं वाच्यम् । इदमुक्तं भवति—व्यवहारनयो लोकव्यवहारोपकारिण एव पदार्थानभ्युपगच्छति, न शेषान्, लोकव्यवहारे च जलाहरण-व्रणपिण्डीप्रदानादिके घट-निम्बादिविशेषा एवोपकुर्वाणा दृश्यन्ते न पुनस्तदतिरिक्तं तत् सामान्यमिति विशेषानेव वस्तुसत्त्वेन प्रतिपद्यते असौ न सामान्यम्, व्यवहारानुपकारित्वाद् विशेषव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वाच्चेत्यतो विशेषवादिनैगममतसाम्येनातिदिष्टः । अत्र चातिदेशेनैवेष्टार्थसिद्धेर्ग्रन्थलाघवार्थं सङ्ग्रहमतिक्रम्य व्यवहारोपन्यासः कृत इति भावनीयम् । **संगहस्से**त्यादि सर्वमपि भुवनत्रयान्तर्वर्त्ति वस्तुनिकुरुम्बं सङ्गृह्णाति—सामान्यरूपतयाऽध्यवस्यतीति सङ्ग्रहः तस्य मते एको वाऽनेके वाऽनुपयुक्तो वाऽनुपयुक्ता वा यदागमत एका द्रव्यानुज्ञा बह्व्यो वा तत् किम् ? इत्याह—**से एगे** त्ति सेयमेका द्रव्यानुज्ञा । इदमत्र हृदयम्—सङ्ग्रहनयः सामान्यमेवाभ्युपगच्छति न विशेषान्, अभिदधाति च—सामान्याद् विशेषा व्यतिरिक्ता वा स्युः ? अव्यतिरिक्ता वा ? । यद्याद्यः पक्षः तर्हि न सन्त्यमी, निःसामान्यत्वात्, खरविषाणवत् । अथापरः पक्षः तर्हि सामान्यमेव ते, तदव्यतिरिक्तत्वात्, सामान्यस्वरूपवत् । तस्मात् सामान्यव्यतिरेकेण विशेषासिद्धेर्याः काश्चन द्रव्यानुज्ञास्ताः तत्सामान्याव्यतिरिक्तत्वादेकैव संग्रहस्य द्रव्यानुज्ञेति । **उज्जुसुयस्से**त्यादि ऋजु—अतीता-ऽनागत-परकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु सूत्रयति—अभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः । अयं हि वर्त्तमानकालभाव्येव वस्तु अभ्युपगच्छति, नातीतम् विनष्टत्वाद्, नाप्यनागतम् अनुत्पन्नत्वात् । वर्त्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात्, स्वधनवत्; परकीयं तु नेच्छति, स्वकार्याप्रसाधकत्वात्, परधनवत् । तस्मादेको देवदत्तादिरनुपयुक्तोऽस्य मते आगमत एका द्रव्यानुज्ञाऽस्ति । **पुहत्तं नेच्छइ** त्ति अतीता-ऽनागतभेदतः परकीयभेदतश्च 'पृथक्त्वं' प्रार्थक्यं नेच्छत्यसौ, किं तर्हि ? वर्त्तमानकालीनं स्वगतमेव वाऽभ्युपैति, तच्चैकमेवेति भावः । **तिण्हं सद्दनयाण**मित्यादि शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः शब्द-समभिरूढैवम्भूताः, ते हि शब्दं प्रधानमिच्छन्ति अर्थं तु गौणम्, शब्दवशेनैवार्थप्रतीतेः । तेषां त्रयाणां शब्दनयानां ज्ञायकोऽथ चानुपयुक्त इत्येतदवस्तु, न सम्भवतीदमित्यर्थः । **कम्ह** त्ति कस्मादेवमुच्यते ? इत्याह—यदि ज्ञायकस्तर्ह्यनुपयुक्तो न भवति, ज्ञानस्योपयोगरूपत्वात् । इदमत्र हृदयम्—अनुज्ञापदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्त आगमतो द्रव्यानुज्ञेति प्राग् निर्णीतम्, एतच्चामी न प्रतिपद्यन्ते, यतो यद्यनुज्ञापदार्थं जानाति कथमनुपयुक्तः ? अनुपयुक्तश्चेत् कथं जानाति ? तस्योपयोगरूपत्वात् । सेयमागमतो द्रव्यानुज्ञा ॥ उक्ता आगमतो द्रव्यानुज्ञा । सम्प्रति नोआगमतः सोच्यते—

७. से किं तं णोआगमतो दव्वाणुण्णा ? णोआगमतो दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता—जाणगसरीरदव्वाणुण्णा भवियसरीरदव्वाणुण्णा जाणगसरीर-भवियसरीरवतिरित्ता दव्वाणुण्णा ।

७. से किं तमित्यादि । नोशब्दोऽत्रागमस्य सर्वनिषेधे वर्तते, आगमश्च परिज्ञानम्, अनुज्ञापदार्थावगम इत्यर्थः, तत आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यानुज्ञा त्रिविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा—ज्ञशरीरद्रव्यानुज्ञा भव्यशरीरद्रव्यानुज्ञा ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त-द्रव्यानुज्ञेति ॥ तत्राद्यामाह—

८. से किं तं जाणगसरीरदव्वाणुण्णा ? जाणगसरीरदव्वाणुण्णा 'अणुण्ण'त्तिपदत्थाहिगारजाणगस्स जं सरीरगं ववगयचुतचवितचत्तदेहं जीवविप्पजढं सिज्जागयं वा संथारगयं वा निसी-

ज्जियागयं वा सिद्धिसिलातलगतं वा अहो णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं 'अणुण्ण'त्ति पयं आघवियं पण्णवियं परूवियं दंसियं णिदंसियं उवदंसियं, जहा को दिट्ठंतो? अयं घयकुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी। से त्तं जाणगसरीरदव्वाणुण्णा।

८. **से त्ति** अथ केयं ज्ञशरीरद्रव्यानुज्ञा? उच्यते—**अणुण्ण त्ति** इत्यादि, ज्ञातवानिति ज्ञः तस्य शरीरं—देहो ज्ञशरीरं तदेवानुभूतभावत्वाद् द्रव्यानुज्ञा। यच्छरीरकं द्रव्यानुज्ञा तत् कस्य सम्बन्धि? इत्याह—अनुज्ञेति यत् पदं तस्य योऽसावर्थाधिकारः—अर्थघटनव्युत्पत्तिरूपः तं ज्ञातवतः सम्बन्धि। कथम्भूतं सदिदं ज्ञशरीरं द्रव्यानुज्ञा भवति? इत्याह—व्यपगतच्युतच्यावितत्यक्तदेहं जीवविप्रमुक्तमित्यक्षरघटना। तत्र व्यपगतं—चैतन्यपर्यायादचैतन्यलक्षणं पर्यायान्तरं प्राप्तम्; अत एव च्युतं—उच्छ्वास-निःश्वास-जीवनादिदशविधप्राणेभ्यः परिभ्रष्टम् अचेतनस्योच्छ्वासाद्ययोगात्; प्राणेभ्यश्च स्वभावतो न परिभ्रंश किन्तु च्यावितं—बलीयसा आयुःक्षयेण तेभ्यः परिभ्रंशितम्। एवं च सति कथम्भूतं तत्? इत्याह—त्यक्तदेहं—"दिह उपचये" त्यक्तो देहः—आहारपरिणतिजनित उपचयो येन तत् त्यक्तदेहम्, अचेतनस्याहारग्रहण-परिणत्योरभावात्। एवं प्रदर्शितविधिना जीवेन—आत्मना विविधम्—अनेकधा प्रकर्षेण मुक्तं जीवविप्रमुक्तम्। तदेतदनुज्ञापदार्थज्ञस्य शरीरकमतीतानुज्ञाभावस्य कारणत्वाद् द्रव्यानुज्ञा, नोआगमत्वं चास्यास्तदानीमागमस्य सर्वथाऽभावात्। भूयः कथम्भूतं शरीरकम्? इत्याह—**सेज्जागयं** वेत्यादि शय्या—महती सर्वाङ्गप्रमाणा तां गतं शय्यास्थितमित्यर्थः। संस्तारः—अर्द्धतृतीयहस्तमानस्तं गतं तत्रस्थम्। नैषेधिकी—शबपरिस्थापनभूमिस्तां गतं—प्राप्तम्। यत्र महर्षिः कश्चित् सिद्धस्तत् सिद्धशिलातलं तद्गतं तत्र स्थितमिति। भक्तपरिज्ञावनशनप्रतिपत्तिभूमिर्वा सिद्धशिलातलं तद्गतम्। **अहो णमिति** अहोशब्दो अन्यपार्श्वस्थितामन्त्रणे, 'अनेन' प्रत्यक्षतया दृश्यमानेन शरीरमेव पुद्गलसङ्घातत्वात् समुच्छ्रयस्तेन अनुज्ञेति पदं 'आघवियं'ति छान्दसत्वाद् गुरोः सकाशादागृहीतं तदावरणकर्मक्षयोपशमात, 'प्रज्ञापितं' अन्येभ्यः कथितम्, 'प्ररूपितं' तेभ्य एव तदर्थकथनतः, 'दर्शितं' सान्वयोऽयं शब्दो न तु मण्डपादिवन्निरन्वय इत्येवं शिष्येभ्यः प्रकटितम्, 'निदर्शितं' परस्य कथञ्चिद्-गृह्णतः परयाऽनुकम्पया निश्चयेन पुनः पुनर्निवेदितम्, 'उपदर्शितं' पुनः पुनः स्मरणतः। आह—नन्वनेन शरीरसमुच्छ्रयेणाऽनुज्ञा-पदमागृहीतमित्यादि नोपपद्यते, ग्रहण-प्ररूपणादीनां जीवधर्मत्वेन शरीरस्याघटमानकत्वात्, सत्यम्, किन्तु भूतपूर्वगत्या जीव-शरीरयोरभेदोपचारादित्थमुपन्यास इत्यदोषः। यथा कोऽत्र दृष्टान्त? इति पृष्टे सत्याह—यथा **अयमित्यादि**। एतदुक्तं भवति—यथा घृते मधुनि वा प्रक्षिप्यापनीते तदाधारत्वपर्यायेऽतिक्रान्तेऽपि अयं घृतकुम्भ इत्यादि व्यपदेशो लोके प्रवर्त्तते तथाऽनुज्ञा-पदार्थवेत्तृत्वपर्यायेऽतिक्रान्तेऽप्यतीतपर्यायानुवृत्त्या द्रव्यानुज्ञेयमुच्यते। इतीयं ज्ञशरीरद्रव्यानुज्ञा॥

९. से किं तं भवियसरीरदव्वाणुण्णा? भवियसरीरदव्वाणुण्णा जे जीवे जम्मणजोणीणिक्खंते इमेणं चेव सरीरसमुस्सएणं आदत्तेणं जिणदिट्ठेणं भावेणं 'अणुण्ण'त्ति पयं[1] सेयकाले सिक्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ। जहा को दिट्ठंतो? अयं घयकुंभे भविस्सति, अयं महुकुंभे भविस्सति। से त्तं भवियसरीरदव्वाणुण्णा।

९. अथ केयं भव्यशरीरद्रव्यानुज्ञा? इति पृष्टे सत्याह—**जे जीवे** इत्यादि विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यः—विवक्षितपर्यायार्हः तद्योग्य इत्यर्थः तस्य शरीरं तदेव भाविभावानुज्ञापदार्थवेत्तृत्वकारणत्वाद् द्रव्यानुज्ञा भव्यशरीरद्रव्यानुज्ञा। किं पुनस्तत्? इत्यत्रोच्यते—यो जीवो योनीजन्मत्वनिष्क्रान्तोऽनेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण 'आत्तेन' गृहीतेन 'जिनदृष्टेन' तीर्थकराभिमतेन 'भावेन' तदावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणेनानुज्ञेति पदमागामिनि काले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते तद् जीवाधिष्ठितं शरीरं भव्यशरीरद्रव्यानुज्ञेति समुदायार्थः। अवयवार्थस्तु—यः कश्चिद् 'जीवः' जन्तुः योन्याः—योषिदवाच्यदेशलक्षणायाः परिपूर्णसमस्तदेहो जन्मत्वेन—जन्म-

---

[1] **पयं सेय काले** सं०॥

समयेन निष्क्रान्तः, न पुनरामगर्भावस्थ एव पतितो योनिजन्मत्वनिष्क्रान्तः, अनेनैव शरीरमेव पुद्गलसङ्घातत्वादुत्पत्तिसमयादारभ्य प्रतिसमयं समुत्सर्पणाद्वा समुच्छ्रयस्तेन 'आत्तेन' आगृहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा जिनोपदिष्टेनेत्यादि पूर्ववत् **सेयकाले** त्ति छान्दसत्वादागामिनि काले 'शिक्षिष्यते' अध्येष्यते साम्प्रतं तु न तावदद्यापि शिक्षते तद् जीवाधिष्ठितं शरीरं द्रव्यानुज्ञा। नोआगमत्वं चात्राप्यागमाभावमाश्रित्य मन्तव्यम्, तदानीं तत्र वपुष्यागमाभावाद् नोशब्दस्य चात्रापि सर्वनिषेधवचनत्वादिति। यथा कोऽत्र दृष्टान्तः ? इति निर्वचनमाह—यथाऽयं घृतकुम्भो भविष्यतीत्यादि। एतदुक्तं भवति—यथा घृते मधुनि वा प्रक्षेप्तुमिष्टे तदाधारत्वपर्याये भविष्यत्यपि लोके अयं घृतकुम्भो मधुकुम्भो वेत्यादिव्यपदेशो दृश्यते तथाऽत्राप्यनुज्ञापदार्थवेत्तृत्वपर्याये भविष्यत्यपि तदस्तित्वपरनयाऽनुवृत्त्या द्रव्यानुज्ञेयमुच्यते इति भावः। निगमयन्नाह—से त्तमित्यादि तदेतद् भव्यशरीरद्रव्यानुज्ञेति ॥

उक्तो नोआगमतो द्रव्यानुज्ञाद्वितीयभेद.। तृतीयभेदनिरूपणार्थमाह—

१०. से किं तं जाणगसरीर-भवियसरीरवतिरित्ता दव्वाणुण्णा? जाणगसरीर-भवियसरीरवतिरित्ता दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—लोइया कुप्पावयणिया लोउत्तरिया य।

१०. से किं तमित्यादि। यत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीरयोः सम्बन्धि पूर्वोक्तं लक्षणं न घटते तत्र आभ्यां व्यतिरिक्ता—भिन्ना द्रव्यानुज्ञोच्यते। सा च त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—लौकिकी कुप्रावचनिकी लोकोत्तरिकी च ॥ तत्र प्रथमभेदं जिज्ञासुराह—

११. से किं तं लोइया० दव्वाणुण्णा? लोइया० दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया।

१२. से किं तं सचित्ता०? सचित्ता० से जहाणामए राया इ वा जुवराया इ वा ईसरे इ वा तलवरे इ वा कोडुंबिए इ वा माडंबिए इ वा इब्भे इ वा सेट्ठी इ वा सत्थवाहे इ वा सेणावई इ वा कस्सइ कम्हि कारणे तुट्ठे समाणे आसं वा हत्थिं वा उट्टं वा गोणं वा खरं वा घोडयं वा एलयं वा अयं वा दासं वा दासिं वा अणुजाणेज्जा। से त्तं सचित्ता०।

११-१२. से किं तमित्यादि सुगमम्। नवरं 'राजा' चक्रवर्ती वासुदेवो बलदेवो महामाण्डलिकश्च। 'ईश्वरः' युवराजः राज्ञो द्वितीयस्थानवर्ती सामान्यमाण्डलिकोऽमात्यश्च। अन्ये तु व्याचक्षते—अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वरः। परितुष्टनरपतिप्रदत्तरत्नालङ्कृतसौवर्णपट्टविभूषितशिरास्तलवरः। यस्य पार्श्वत आसन्नमपरं ग्राम-नगरादिकं नास्ति तत् सर्वतश्छिन्नं जनाश्रयविशेषरूपं मडम्बमुच्यते, तस्याऽधिपतिर्माडम्बिकः। कतिपयकुटुम्बप्रभुः कौटुम्बिकः। इभः—हस्ती तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीतीभ्यः, यस्य सत्कपुञ्जीकृतहिरण्य-रत्नादिद्रव्येणान्तरितो हस्त्यपि न दृश्यते सोऽधिकतरद्रव्यो वा इभ्य इत्यर्थः। श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गः पुरज्येष्ठो वणिग्विशेषः श्रेष्ठी। हस्त्यश्व-रथ-पदातिसमुदायलक्षणायाः सेनायाः प्रभुः सेनापतिः।

"गणिमं धरिमं मेज्जं पारिच्छं चेव दव्वजायं तु। घेत्तूणं लाभत्थी वच्चति जो अन्नदेसं तु ॥ १ ॥

निवबहुमओ पसिद्धो दीणा-ऽणाहाण वच्छलो पंथे। सो सत्थवाहनामं धणो व्व लोए समुव्वहइ ॥ २ ॥"

एतल्लक्षणयुक्तः सार्थवाहः। एतदन्यतरः कश्चिद् राजादिः कश्चिद् व्यतिकरे कस्यचित् तुष्टः सन्नश्वादिकं परिभोगायानुजानीयात् सेयं सचित्तानुज्ञा ॥

१३. से किं तं अचित्ता०? अचित्ता० से जहाणामए राया ति वा जुवराया इ वा ईसरे इ वा तलवरे इ वा कोडुंबिए इ वा माडंबिए इ वा इब्भे इ वा सत्थवाहे इ वा सेट्ठी इ वा सेणावई

१ वा माडंबिए इ वा कोडुंबिए इ वा इब्भे इ वा सत्थवाहे इ वा सेट्ठी इ वा सेणा° जे० ॥ २ वा आलयं वा बालयं वा अयं वा खं० ॥ ३ वा बालयं वा दासं जे० ॥ ४ राया ति वा जाव सत्थवाहे ति वा कस्सइ खं० ॥

इ वा कस्सइ कम्हि कारणे तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा छत्तं वा चामरं वा पट्टगं[1] वा मउडं वा हिरण्णं वा सुवण्णं वा कंसं वा दूसं वा मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयणमादीयं संतसार-सावदिज्जं अणुजाणिज्जा। से त्तं अचित्ता० द[2]व्वाणुण्णा।

१३. यदा राजादिरेव छत्र-चामरादि अनुजानीयात् कस्यचित् सेयमचित्तानुज्ञा। नवरं कंसं व त्ति 'कांस्यं' कांस्यपात्र्यादिकम्। मणयः—चन्द्रकान्ताद्याः। मौक्तिकानि शङ्खाश्च प्रसिद्धाः। श्रीप्रवालं—वर्णादिगुणोपेतं विद्रुमम्। रत्तरयणं—रक्तरत्नं पद्मरागादिकम्। सत्सारं—शोभनसारं शू(?स्थ)लमण्यादिकम्। स्वापतेयं—रिक्थजातम्॥

१४. से किं तं मीसिया० दव्वाणुण्णा? मीसिया० दव्वाणुण्णा से जहाणामए राया ति वा जुवराया ति वा[3] ईसरे इ वा तलवरे इ वा कोडुंबिए इ वा माडंबिए इ वा इब्भे ति वा सेट्ठी ति वा सेणावती ति वा सत्थवाहे ति वा कस्सइ कम्हि कारणे तुट्ठे समाणे हत्थि[4] वा मुहभंडगमंडियं, आसं वा थासग-चामरमंडियं, सकडगं दासं वा, दासिं वा सव्वालंकारविभूसियं अणुजाणिज्जा। से त्तं मीसिया० दव्वाणुण्णा। से त्तं लोइया० दव्वाणुण्णा।

१४. हस्त्यादिकं मुखाभरणाद्यलङ्कृतम्, अश्वं वा स्थासकः—आदर्शकः चामरं च तन्मण्डितकटीकम्, दासः—स्वदासीसुतः, दासी—कर्मकरी रूपादिगुणान्विता तां सर्वालङ्कारविभूषितां कृत्वा 'अनुजानीयात्' समर्पयेत कस्यचिद् राजादिस्तुष्टः सन् सेयं मिश्रिकी लौकिकी द्रव्यानुज्ञा, हस्त्यादेः सचेतनत्वाद् आभरणादेरचेतनत्वाद् उभययोगे मिश्रद्रव्यता॥

१५. से किं तं कुप्पावयणिया० दव्वाणुण्णा? कुप्पावयणिया० दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया।

१६. से किं तं सचित्ता०? सचित्ता० से जहाणामए आयरिए इ वा उवज्झाए इ वा कस्सइ कम्हि कारणे तुट्ठे समाणे आसं वा[5] हत्थिं वा उट्टं वा गोणं वा खरं वा घोडं वा अयं वा एलगं वा[6] दासं वा दासिं वा अणुजाणिज्जा। से त्तं सचित्ता कु[7]प्पावयणिया० दव्वाणुण्णा।

१७. से किं तं अचित्ता०? अचित्ता० से जहाणामए आयरिए इ वा उवज्झाए इ वा[8] कस्सइ कम्हि कारणे तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा छत्तं वा चामरं वा पट्टं वा मउडं वा हिरण्णं वा सुवण्णं वा[9] कंसं वा दूसं वा मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयणमाईयं संतसार-सावएज्जं अणुजाणिज्जा। से त्तं अचित्ता कु[10]प्पावयणिया० दव्वाणुण्णा।

१८. से किं तं मीसिया० द[11]व्वाणुण्णा? मीसिया० द[12]व्वाणुण्णा से जहाणामए आयरिए इ[13] वा उवज्झाए इ वा कस्सइ कम्हि कारणे तुट्ठे समाणे हत्थिं वा मुहभंडगमंडियं, आसं वा थासग-चामरमंडियं, सकडगं दासं वा, दासिं वा सव्वालंकारविभूसियं अणुजाणिज्जा। से त्तं मीसिया कुप्पावयणिया दव्वाणुण्णा। से त्तं कुप्पावयणिया० दव्वाणुण्णा।

---

१ पडं वा म° डे०॥ २ दव्वाणुण्णा इति ल०पुस्तके नास्ति॥ ३ वा जाव तुट्ठे समाणे ख०॥ ४ वा जाव दासिं वा ख०॥ ५ घोडयं वा वलयं वा दासं ल०॥ ६ वा वलयं वा दासं जे०॥ ७,१० कुप्पावयणिया दव्वाणुण्णा इति पाठो ल०पुस्तके नास्ति॥ ८ वा जाव तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा जाव संतसारं दिज्ज वा अणुजा° ख०॥ ९ वा वासं वा मणि° ल०॥ ११-१२ दव्वाणुण्णा इति जे०पुस्तके नास्ति॥ १३ इ वा जाव तुट्ठे समाणे हत्थिं वा मुहभंडगमंडियं जाव दासिं वा अणुजा° ख०॥

१५-१६. कुप्रावचनिक्यां आयरिए त्ति 'आचार्यः' दर्शनान्तरीयो धिग्जातीयादिः 'उपाध्यायः' गीत-नृत्तादिकलाशिक्षयिता यदा तुष्टः सन्नश्वादिकमनुजानीयात् तदा कुप्रावचनिकी सचित्तद्रव्यानुज्ञा ॥

१७. स एव यदा 'आसनं' आसन्दकादि 'शयनं' खट्वादि अनुजानीयात् तदाऽचित्तद्रव्यानुज्ञा ॥

१८. स एवाश्वाद्याभरणाद्यलङ्कृतं यदाऽनुजानीते तदा मिश्रिकी द्रव्यानुज्ञा ॥

१९. से किं तं लोउत्तरिया० दव्वाणुण्णा ? लोउत्तरिया० दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया ।

२०. से किं तं सचित्ता० ? सचित्ता० से जहाणामए आयरिए इ वा उवज्झाए इ वा थेरे इ वा पवत्ती इ वा गणी इ वा गणहरे इ वा गणावच्छेयए इ वा सीसस्स वा सिस्सिणीए वा कम्हि कारणे तुट्ठे समाणे सीसं वा सिस्सिणिं वा अणुजाणेज्जा । से त्तं सचित्ता० ।

२१. से किं तं अचित्ता० ? अचित्ता० से जहाणामए आयरिए इ वा उवज्झाए ति वा थेरे ति वा पवत्ती ति वा गणी ति वा गणधरे ति वा गणावच्छेतिए ति वा सिस्सस्स वा सिस्सिणियाए वा कम्हिय कारणे तुट्ठे समाणे वत्थं वा पाई वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पादपुञ्छणं वा अणुजाणेज्जा । से त्तं अचित्ता० ।

२२. से किं तं मीसिया० ? २ से जहाणामए आयरिए इ वा उवज्झाए इ वा थेरे इ वा पवत्ती इ वा गणी इ वा गणहरे इ वा गणावच्छेयए इ वा सिस्सस्स वा सिस्सिणीए वा कम्हिय कारणे तुट्ठे समाणे सिस्सं वा सिस्सिणियं वा सभंड-मत्तोवगरणं अणुजाणेज्जा । से त्तं मीसिया० । से त्तं लोगुत्तरिया० । से त्तं जाणगसरीर-भवियसरीरवइरित्ता० दव्वाणुन्ना । से त्तं णोआगमतो दव्वाणुण्णा । से त्तं दव्वाणुन्ना ३ ।

१९-२२. लोकोत्तराः—साधवस्तेषामियं लोकोत्तरिकी । साधवश्चाचार्यादिभेदतः पञ्चविधा भवन्ति । तानेव दर्शयति—**आयरिए** इत्यादि । एते हि यदा सचित्ता-ऽचित्त-मिश्रान्यतरद् द्रव्यमनुजानते तदा तत्तद्भेदानुज्ञा भवति । नवरं 'आचार्यः' अनुयोगाचार्यः । 'उपाध्यायः' सूत्रपाठयिता । येषु तपः-संयमादिषु यः साधुर्योग्यो भवति तं तत्र प्रवर्त्तयति अक्षमं च निवर्त्तयति स गच्छस्थसाधुतप्तिपरः प्रवर्त्तकः । यदाह—

"तव-संजमजोगेसुं जो जोग्गो तत्थ तं पवत्तेइ । असहुं च नियत्तेई गणतत्तिल्लो पवत्ती उ ॥ १ ॥" [ ]

प्रवर्त्तकव्यापारितार्थेष्ववस्थितसाधूनामेव कथञ्चित् प्रमाद्यतां तपः-संयमादिषु यस्तान् स्थिरीकरोति स स्थविरः । गच्छस्यैव क्षेत्रोपध्यादिसम्पादनपरो य आहिण्डते गच्छप्रयोजनेष्वविषादी गीतार्थः स गणावच्छेदकः । शेषं निगदसिद्धं **जाव से त्तं दव्वाणुन्न** त्ति ३ ॥

२३. से किं तं खेत्ताणुण्णा ? खेत्ताणुण्णा जो णं जस्स खेत्तं अणुजाणति, जत्तियं वा खेत्तं, जम्मि वा खेत्ते । से त्तं खेत्ताणुण्णा ४ ।

२३. क्षेत्रानुज्ञा तु यो राजादिर्यस्य परितुष्टः सन् 'क्षेत्रं' ग्राम-नगरादिरूपं तन्मध्येऽपि यावन्मात्रं वा तदंशतया अनुजानीते मुत्कलयति समर्पयति सा क्षेत्रानुज्ञा । यद्वा यस्मिन् क्षेत्रेऽनुज्ञापदं व्याख्यायते तदपि क्षेत्रं क्षेत्रानुज्ञा ४ ॥

१ पवत्तष इ जे०, पवत्तीए इ ल० ॥

२४. से किं तं कालाणुण्णा? कालाणुण्णा जो णं जस्स कालं अणुजाणति, जत्तियं वा कालं, जम्मि वा काले अणुजाणइ, तं०—तीतं वा पडुप्पण्णं वा अणागतं वा वसंतं वा हेमंतं वा पाउसं वा अवत्थाणहेउं। से त्तं कालाणुण्णा ५।

२४. कालानुज्ञायां यो राजादिर्यस्य तुष्टः सन् कालमनुजानीते सर्वकालं मुत्कलयति त्वया यावज्जीवमपि मम न दातव्यमिदं करादीति **जत्तियं वा कालं** ति यथा दुर्लभमांसव्यतिकरे परिमितकालराज्यमभयकुमारमन्त्रियाचितेन श्रेणिकेन नियतदिनरूपकालानुज्ञा राज्यं प्रत्यभयकुमाराय कृता। यस्मिन् वा कालेऽनुज्ञा वर्ण्यते सेयं कालानुज्ञा ५ ॥

२५. से किं तं भावाणुण्णा? भावाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—लोइया कुप्पावयणिया लोगुत्तरिया।

२६. से किं तं लोइया भावाणुण्णा? २ से जहानामए राया इ वा जुवराया इ वा जाव तुट्ठे समाणे कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्जा। से त्तं लोइया भावाणुण्णा।

२७. से किं तं कुप्पावयणिया भावाणुण्णा? २ से जहानामए केइ आयरिए इ वा जाव कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्जा। से त्तं कुप्पावयणिया भावाणुण्णा।

२८. से किं तं लोगुत्तरिया भावाणुण्णा? २ से जहानामए आयरिए इ वा जाव कम्हि कारणे तुट्ठे समाणे कालोचियनाणाइगुणजोगिणो विणीयस्स खमाइपहाणस्स सुसीलस्स सिस्सस्स तिविहेणं तिगरणविसुद्धेणं भावेणं आयारं वा सूयगडं वा ठाणं वा समवायं वा विवाहपण्णत्तिं[1] वा नायाधम्मकहं वा उवासगदसाओ वा अंतगडदसाओ वा अणुत्तरोववाइयदसाओ वा पण्हावागरणं वा विवागसुयं वा दिट्ठिवायं वा सव्वदव्व-गुण-पज्जवेहिं सव्वाणुओगं वा[2] अणुजाणिज्जा। से त्तं लोगुत्तरिया भावाणुण्णा। से त्तं भावाणुण्णा ६।

२५–२८. भावानुज्ञा क्षायोपशमिकभाववर्त्याचारादिश्रुतानुज्ञाविषया। ततश्च य आचार्यादिर्यस्य शिष्यस्य तुष्टः सन् 'भावेन' कर्मनिर्जराभिप्रायेण मनो-वाक्कायैः करण-कारणा-ऽनुमतिभिः शुद्धेन न त्वैहलौकिकवस्त्रादिलिप्सया आचारादिकं यावद् दृष्टिवादं वा 'अनुजानाति द्रव्य-गुण-पर्ययैः' मुत्कलयति व्याख्यानाय अन्येषामध्यापनाय च सेयं भावानुज्ञा ६ ॥

सम्प्रत्यनुज्ञाया यतः प्रवृत्तिरस्यामवसर्पिण्यां प्रथमं जाता तदभिधित्सु प्रश्नानि तावदाह—

२९. किमणुण्ण? कस्सऽणुण्णा? केवतिकालं पवत्तियाऽणुण्णा?।
आदिकर पुरिमताले पवत्तिया उसभसेणस्स ॥ १ ॥

२९. **किमणुण्ण०** गाहा। किमनुज्ञाख्यं वस्तूच्यते? तच्च षड्विधत्वेन वर्णितमेव। कस्यानुज्ञा क्रियते? यो हि गाम्भीर्य-धैर्य-क्षमादिगुणान्वितो भवति तस्येयं भवति। कियति च काले प्रवर्त्तिताऽनुज्ञा? अवसर्पिण्यां तृतीयारकपर्यन्ते। केन प्रवर्त्तिता? क? कस्य? इत्याह—**आदी**त्यादि उत्पन्नज्ञानेनाऽऽदितीर्थकरेण भगवता **'उसभसेनस्य'** पुण्डरीकस्य **पुरिमतालनगरे** 'अनुज्ञा प्रवर्तिता' अनुज्ञा कृता द्वादशाङ्गविषया शिष्यविषया ॥ १ ॥ इदानीमनुज्ञाया एकार्थाभिधायि गाथाद्वयमाह—

३०. अणुण्णा १ उण्णमणी २ णमणी ३ णामणी ४ ठवणा ५ पभवो ६ पभावणं ७ पयारो ८।
तदुभय[3] ९ हिय १० मज्जाया ११ णाओ १२ मग्गो १३ य कप्पो १४ य ॥ १ ॥

---

१ **वियाह°** ल० ॥ २ **वा** इति ख० मुद्रिते च नास्ति ॥ ३ **तदुभयहिय ९ मज्जाया १० णायो ११ मग्गो १२ य कप्पो १३ य ॥ १ ॥ संगह १४ संवर १५ णिज्जर १६ ठितिकरणं १७ चेव जीववुड्ढि १८ पयं १९। पवपवरं २० चेव तहा** जे० ल० मुद्रिते च ॥

संगह १५ संवर १६ णिज्जर १७ ठिइकरणं १८ चेव जीववुड्ढिपयं १९ ।
पदपवरं २० चेव तहा, वीसमणुण्णाए णामाइं ॥ २ ॥

अणुण्णानंदी समत्ता ॥

३०. **अणुण्णा०** गाहा । [**संगह०** गाहा ।] आद्यगाथायां चतुर्दशानुज्ञाभिधानानि, द्वितीयायां षट्, सर्वाणि २० । तद्यथा—अनुज्ञा १ उन्नमनी २ नमनी ३ नामनी ४ स्थापना ५ प्रभवः ६ प्रभावना ७ प्रचारः ८ तदुभयं ९ हितं १० मर्यादा ११ न्यायः १२ मार्गश्च १३ कल्पश्च १४ संग्रहः १५ संवरः १६ निर्जरा १७ स्थितिकरणं १८ जीतवृद्धिपदं १९ पदप्रवरं २० इति विंशतिः । एतेषां च पदानामर्थः सम्प्रदायाभावान्नोच्यते ॥ १–२ ॥

॥ इति समाप्ता श्रीशीलभद्र-प्रभुश्रीधनेश्वरसूरिशिष्यश्री-श्रीचन्द्रसूरिविरचिता नन्दिटीकाया दुर्गपदव्याख्या ॥

[व्याख्याकारप्रशस्तिः–]

स्वं कष्टेऽतिनिधाय कष्टमधिकं मा मेऽन्यदा जायतां, व्याख्यानेऽस्य तथाविधे सुमनसामल्पश्रुतानाममुम् (नामपि) ।
इत्यालोचयता तथापि किमपि प्रोक्तं मया तत्र च, दुर्व्याख्यानविशोधनं विदधतु प्राज्ञाः परार्थोद्यताः ॥ १ ॥

दुःसम्प्रदायादसदूहनाद्वा, प्रकाशितं यद् वितथं मयेह ।
तद् धीधनैर्मामनुकम्पयद्भिः, शोध्यं मतार्थक्षतिरस्तु मैवम् ॥ २ ॥

॥ ग्रन्थाग्रम् ३३०० ॥

---

१ **अणुण्णा** इति जे० नास्ति ॥

जोगणंदी

नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा—आभिणिबोहियनाणं १ सुयनाणं २ ओहिनाणं ३ मणपज्जवनाणं ४ केवलनाणं ५। तत्थ णं चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं नो उद्दिस्सिज्जंति नो समुद्दिसिज्जंति नो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स पुण उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ य पवत्तइ।

जइ सुयनाणस्स उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ ? किं अंगबाहिरस्स उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ ? गो० ! अंगपविट्ठस्स वि उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ, अंगबाहिरस्स वि उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ, इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च अंगबाहिरस्स उद्देसो० ४।

जइ पुण अंगबाहिरस्स उद्देसो जाव अणुओगो पवत्तइ किं कालियस्स उद्देसो० ४?, किं उक्कालियस्स उद्देसो० ४? गो० ! कालियस्स वि उद्देसो० ४ उक्कालियस्स वि उद्देसो० ४, इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च उक्कालियस्स उद्देसो० ४।

जइ उक्कालियस्स उद्देसो० ४ किं आवस्सगस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ आवस्सगवइरित्तस्स० ४? गो० ! आवस्सगस्स वि उद्देसो० ४ आवस्सगवइरित्तस्स वि उद्देसो० ४।

जइ आवस्सगस्स उद्देसो किं सामाइयस्स १ चउवीसत्थयस्स २ वंदणस्स ३ पडिक्कमणस्स ४ काउस्सग्गस्स ५ पच्चक्खाणस्स ६? सव्वेसिं एतेसिं उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ य पवत्तइ।

जइ आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो० ४ किं कालियसुयस्स उद्देसो० ४ उक्कालियसुयस्स उद्देसो० ४? कालियस्स वि उद्देसो० ४, उक्कालियस्स वि उद्देसो० ४।

जइ उक्कालियस्स उद्देसो० ४ किं दसकालियस्स १ कप्पियाकप्पियस्स २ चुल्लकप्पसुयस्स ३ महाकप्पसुयस्स ४ उववाइयसुयस्स ५ रायपसेणीयसुयस्स ६ जीवाभिगमस्स ७ पण्णवणाए ८ महापण्णवणाए ९ पमायप्पमायस्स १० नंदीए ११ अणुओगदाराणं १२ देविंदत्थयस्स १३ तंदुलवेयालियस्स १४ चंदाविज्झयस्स १५ सूरपण्णत्तीए १६ पोरिसिमंडलस्स १७ मंडलप्पवेसस्स १८ विज्जाचरणविणिच्छियस्स १९ गणिविज्जाए २० संलेहणासुयस्स २१ विहारकप्पस्स २२ वीयरागसुयस्स २३ झाणविभत्तीए २४ मरणविभत्तीए २५ मरणविसोहीए २६ आयविभत्तीए २७ आयविसोहीए २८ चरणविसोहीए २९ आउरपच्चक्खाणस्स ३० महापच्चक्खाणस्स ३१? सव्वेसिं एएसिं उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ।

जइ कालियस्स उद्देसो जाव अणुओगो पवत्तइ किं उत्तरज्झयणाणं १ दसाणं २ कप्पस्स ३ ववहारस्स ४ निसीहस्स ५ महानिसीहस्स ६ इसिभासियाणं ७ जंबुद्दीवपण्णत्तीए ८ चंदपण्णत्तीए

९ दीवपण्णत्तीए १० सागरपण्णत्तीए ११ खुड्डियाविमाणपविभत्तीए १२ महल्लियाविमाणपविभत्तीए १३ अंगचूलियाए १४ वग्गचूलियाए १५ विवाहचूलियाए १६ अरुणोववायस्स १७ वरुणोववायस्स १८ गरुलोववायस्स १९ धरणोववायस्स २० वेसमणोववायस्स २१ वेलंधरोववायस्स २२ देविंदोववायस्स २३ उट्ठाणसुयस्स २४ समुट्ठाणसुयस्स २५ नागपरियावणियाणं २६ निरयावलियाणं २७ कप्पियाणं २८ कप्पवडिंसियाणं २९ पुप्फियाणं ३० पुप्फचूलियाणं ३१ [वण्हियाणं ३२] वण्हिदसाणं ३३ आसीविसभावणाणं ३४ दिट्ठिविसभावणाणं ३५ चारणभा० ३६ सुमिणभा० ३७ महासुमिणभा० ३८ तेयग्गिनिसग्गाणं ३९ ? सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो जाव अणुओगो ४ पवत्तइ।

जइ अंगपविट्ठस्स उद्देसो जाव अणुओगो पवत्तइ किं आयारस्स १ सूयगडस्स २ ठाणस्स ३ समवायस्स ४ विवाहपण्णत्तीए ५ नायाधम्मकहाणं ६ उवासगदसाणं ७ अंतगडदसाणं ८ अणुत्तरोववाइयदसाणं ९ पण्हावागरणाणं १० विवागसुयस्स ११ दिट्ठिवायस्स १२ ? सव्वेसिं एएसिं उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ, इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च इमस्स साहुस्स इमाए साहुणीए उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं उद्देसामि समुद्देसामि अणुजाणामि॥

॥ जोगणंदी समत्ता ॥

आचार्यश्रीविमलसूरिशिष्यश्री-चन्द्रकीर्तिसूरिविरचितं

याकिनीमहत्तराधर्मसूनुश्रीहरिभद्रसूरिप्रणीतायाः

नन्दिसूत्रवृत्तेः विषमपदटिप्पनकम् ॥



ॐ नमो जिनाय ॥

[पृष्ठ १]

पं. २. **जयतीति** जेतव्यजयेन विजयते। पं. ९. **ऐकान्तिक** इति नैश्चयिक। **आत्यन्तिक** इति अव्यवच्छेदपरः। पं. १२. **प्राय** इति माषतुषादिभिर्व्यभिचारो मा भूदिति प्रायोग्रहणम्।

[पृष्ठ २]

पं. ३. **यस्येति** इश्च अश्च यं तस्य। पं. ४. **नन्दन्त्यनयेति** समृद्धिमाप्नुवन्ति। पं. १७. **आगमतो भावनन्दी(न्दिः), आगमत** इति गमनं गमः—परिच्छेद, आ—सामस्त्येन गम आगमः तस्माद् आगमतः।

[पृष्ठ ३]

पं. १३. **न अज्जावेयव्वा** बुद्ध्या, **न परिघेत्तव्वा** सङ्घट्टने, **न परितावेयव्वा** क्लमः, **न उद्दवेयव्वा** विनाशः; **समेच्च** विज्ञाय, **खेयन्नेहिं** खेदज्ञैः। पं. २४. **इङ्गनेति** संज्ञा।

[पृष्ठ ७]

पं. २४. **वेदिका-जलान्तररमणलक्षणा,** वेदिका-जलयोरन्तरे यद् रमणं तल्लक्षणा जलवृद्धिलक्षणा वा वेदिका पर्यवसानं मर्यादा वा वेलेति।

[पृष्ठ ८]

पं. २१. **उज्ज्वलानि** सप्रकाशानि। चिन्त्यते—सञ्ज्ञायते।

[पृष्ठ ९]

पं. ११. **समवायाः** साधुवृन्दानि। पं. १३. **संवरः** अम्भसां प्रसवः। पं. १४. **उज्झरमिति** निर्झरणम्। पं. १७. **कुहराणि** पर्वतदेशाः।

[पृष्ठ ११]

पं. २६. गा. २७. **पेयाला** विचाराः।

[पृष्ठ १२]

पं. ९. **बोधानां** श्रद्धानाम्। चरणपरिग्रहः **गुण**शब्देन वा।

[पृष्ठ १३]

पं. १४. **फिडियाणं** निर्गतानाम्। पं. १८. **संधरे** सन्धृतः—जीवितः।

[पृष्ठ १६]

पं. १२. **उल्लेऊण** आर्द्रीकर्तुं—जलेन भेत्तुमिति। पं. १३. **रविउ त्ति** द्रवित [इति]। **उल्लो मि न व त्ति** आर्द्रोऽस्म्यहं न वेति। पं. १९. **इमो गमो** इति प्रकारः। **छिड्ड** इति बुध्ने, **भिष्म** इति कण्ठे, **खंड** इति कण्ठैकदेशे। पं. २२. **तावसखउर** इति तापसानां भोजनादिनिमित्तं उपकरणविशेषः खउरकठिनकमुच्यते, वंशीपत्रमयं पुटकमिति लक्ष्यते। **परिपूणग** इति सुघरीरचितो नीडविशेषः। पं. २४. **कूचिया** चरेडिकाः। पं. २६. **सुढिओ** सङ्कुचिताङ्गः। पं. २९. **जियमिति** परिचितम्।

[पृष्ठ १७]

पं. ४. **पुयजुज्झ**मिति अधिष्ठानिकामुद्घाट्य पुताभ्यां पराङ्मुखीभूय। पं. ८. **विच्चामेलिय**मिति व्यत्याम्रेडितः।

[पृष्ठ १८]

पं. ३. **तदेवे**ति ज्ञानमात्मानं जानाति। ननु कथमेक एव कर्ता कर्म वा ? इति भेदादिति। पं. १०. **कुव्याख्या० विध** इत्यकारान्तोऽयमित्यस्य। पं. १९. **तन्मयं** अभिनिबोधस्य विकारः मनस्त्वेन परिणमिताः [? पुद्गलाः]।

[पृष्ठ १९]

पं. १६. **आदेश[त]** इति, आदेश–प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च, सामान्यतो द्रव्यजातिं जानीते, विशेषतो धर्मास्तिकायस्तस्य च देश इत्यादिविभागं जानीते। पं. १८. **विशिष्ट** इति विशिष्ट एव कश्चिद् मतिविशेष एव श्रुतम्। पं. ३०. **सामान्येन** इति मनोवर्गणाविशेषतो विशेषो यस्याः।

[पृष्ठ २०]

पं. १०. **अपर** इति न परम्–अक्षादि निमित्तं यस्य, द्रव्यं मनश्चेत्यत्राध्याहारः, कुतः(अतः) परत्वमनयोः।

[पृष्ठ २३]

पं. १५. अपवरकादिशालान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्थानानीव, अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यानि अवधिज्ञाननिर्गमस्थानानीह **फड्डकानि** उच्यन्ते।

[पृष्ठ २६]

पं. २७. **नान्य** इति किं त्रिसमयाहारकोऽत्र गृह्यते ? अत्रोत्तरम्।

[पृष्ठ २८]

पं. २४. **द्रव्यं भाज्य**मिति अवस्थितेऽपि हि द्रव्ये तथाविधक्षयोपशमवृद्धौ पर्याया वर्द्धन्त एव। पं. २५. **अक्रमवर्तिना**मिति एककालवर्तिनां रूपादीनाम्। ननु यदि द्रव्यवृद्धौ वर्धन्ते तत. पर्यायाणां क्रमवर्तित्वात् कालवृद्धिः कथं न भवति ? उच्यते–कालवृद्धीत्यादि।

[पृष्ठ ३३]

पं. ७. **उत्पत्तिस्वामी**ति उत्पत्तेः स्वामी तस्य मार्गणा प्राग्वत्। पं. १४. **अणाइसेसी**ति अनतिशयी।

[पृष्ठ ३४]

पं. २४. **घटोऽनेन चिन्तित** इत्यादिना दर्शितरूपः।

[पृष्ठ ३५]

पं. १७. **मन्तार** इति चिन्तकाः **मन्येरन्** चिन्तयेयुः। पं. १८. **भिन्नालम्बन**मिति एतदीयदर्शनं न भिन्नं किन्तूक्तम्। **तत्र चे**ति चतुर्विधदर्शने। पं. २८. **संवट्ट(ट्टो)** इति सङ्कोचनम्।

[पृष्ठ ३६]

पं. १३. **तदायुष्क** इति आगामिभवः। पं. १६. **हेतुवाद** इति तापादिसन्तप्तछायादिसमाश्रयणात्। पं. २५. **बध्यमान** इति तारतम्येन।

[पृष्ठ ३७]

पं. २८. [**? सयोगीति**] सह योगेनेति–जीवव्यापारेण।

[पृष्ठ ३९]

पं. १६. **नोतित्थसिद्धा** इति प्रत्येकबुद्धसिद्धाः। पं. १७. **तित्थकरिसिद्धा** इति केवलिनी। **नोतित्थगर** इति सामान्यकेवलिपुरुषाः। पं. १८. **न [तु] नपुंसक** इति तीर्थकराः स्युः।

[पृष्ठ ४१]

पं. २. **मिथ्यावरण** इति ज्ञानावरणादिक्षयो विहितः स मिथ्या जिनस्य प्राप्नोति, समयादूर्ध्वं केवलज्ञान-दर्शनोपयोगयोः पुनरप्यभावात् ।

[पृष्ठ ४३]

पं. १५. **सुत्तक्कमोद्देश[त]** इति **नन्द्यादि**सूत्रे इत्थमेवोपन्यस्तम् । पं. १९. **भेदोपचार** इति केवलज्ञानाभेदेऽपि व्यभिचार इति, न केवलमुभयपदव्यभिचारे यथा नीलोत्पलम् । पं. २६. **क्षयस्ये**ति समस्तावरणक्षयसम्भूतत्वात् ।

[पृष्ठ ४४]

पं. ६. **निबन्धनत्वादि**ति वाक्परिस्पन्दस्य ।

[पृष्ठ ४५]

पं. १६. **नाणाणऽन्नाणाणि य समकालाइ**मित्यादि, **न तूवयोगो** इति समकाल. । पं. १९. **कज्जतया** निषेध इति । पं. २१. **भेदा(द)भेदादि**ति भेदानां भेदः । पं. २३. **सोइंदिय** इति भावश्रुतग्रन्थः । **अक्खरलंभ** इति यथा गन्धं गृहीत्वा सुरभिअक्षरग्रहणम् । **सेसेसु** इति इन्द्रियेषु । पं. २६. **आवरण**० इति मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरण० ।

[पृष्ठ ४६]

पं. ६. **सदसतोरविशेषादि**ति स्यात्पदवैधुर्यात् । पं. ७. द्रव्यत्वेन **मिच्छद्दिट्ठिस्स** इति सर्वो बोधोऽज्ञानम् । पं. ९. **देवादिधर्म**मिति देवतत्त्वम् । पं. १९. **औत्पत्तिक्यादि** इति प्रातिभमिति हृदयम् ।

[पृष्ठ ४९]

पं. १४. **अविच्युति-स्मृति-वासनारूपा** [ं] । पं. २८. **न पश्यती**ति चक्षुः कर्तृ । **नालम्बत** इति मनः कर्तृ ।

[पृष्ठ ५०]

पं. १६. **श्रूयतेऽनेने**ति अत्र व्युत्पत्तिर्नाद्रियते किन्तु अर्थमात्रम् ।

[पृष्ठ ५१]

पं. १३. **अपाय** इति सामस्त्येन परिच्छेद ।

[पृष्ठ ५४]

पं. ६. **द्रव्यं व्यञ्जन**मिति द्रव्यादिविषयपरिणतपुद्गलसमूहरूपम् । पं. ७. **स्वविषयव्यक्ता**विति ग्राहकज्ञानजनने ।

पं. ९. **तमर्थ**मिति व्यञ्जनार्थम्, इन्द्रिय-मनोव्यापारेणालम्बते इत्यर्थः । पं. १०. **कल्पनारहित**मिति एतच्च "ताहे हुं ति करेति" [सूत्र. ५८. पत्र. ५३ पं. १५] इत्यस्य व्याख्यानम् । पं. १४. **अथवा यदुक्तं** इत्यादिकपातनिकाद्वयस्य व्याख्या । पं. १७. **अव्यक्त**मिति शब्दोऽयं रूपादिर्वा इत्यादिप्रकारेण वक्तव्यम् । **स्वरूप(पं) नामादी**ति आदिशब्दाद् जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यग्रहः । पं. १८. **तस्य चे**ति अर्थावग्रहस्य । पं. २३. **नैतदेव**मिति सूरिराह । पं. २५. **शब्दबुद्ध्या** इति शब्दोऽयमित्यध्यवसायेन । **तस्यैवे**ति अर्थावग्रहं विनैव शब्दमात्रस्यैव । पं. २८. **जइ एव**मिति पर आह । **जं** इति **गन्धाध्ययन**प्रोक्तं तेन इत्यादि ।

[पृष्ठ ५५]

पं. १५. **अन्यत्रापी**ति स्वप्नादन्यत्र सान्धकारापवरकादौ ।

[पृष्ठ ५६]

पं. १. **पंचोदइयाइया** इति औदयिकौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकाः । **जं नेयमिति** यतो ज्ञेयमेतावदेव । पं. २. **तब्भा(?ब्भा)वनया** इति श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव ।

[पृष्ठ ५८]

पं. १. **स्तोकद्रव्यत्वादि**ति शब्दद्रव्यापेक्षया गन्धादिद्रव्याणि स्तोकानि। **विनिश्चिनोति** इति घ्राणादि इन्द्रियं कर्तृ। पं. ४. **तद्योग्य** इति भाषायोग्यः। पं. ६. **क्षेत्र** इति• आकाशम्। पं. १२. **पराघाए(ते)** इति वासनायां सत्याम्।

[पृष्ठ ५९]

पं. २६. यस्तदावरणक्षयोपशमो यश्च तज्ज्ञानोपयोगश्च एतौ द्वावपि **लब्ध्यक्षरम्**।

[पृष्ठ ६०]

पं. १. **एवं शेषेष्वपि** इति घट-कर्पर-कर्करा-हंसतूली[षु]। पं. १५. **व्यापार** इति उच्छ्वसितादिः। पं. २७. **कालिक्युपदेश** इति सञ्ज्ञिश्रुतव्यपदेशः।

[पृष्ठ ६१]

पं. २८. **न सन्ति लोका** इति "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति०" इत्यादि।

[पृष्ठ ६३]

पं. २३. **भग्गा** इति ये भग्नास्ते न निधानगताः। **निव्वुया** इति वर्तमानकाले सुखिनः।

[पृष्ठ ६४]

पं. ३. **आयारम्मि** इति **आचारनिर्युक्तौ**।

[पृष्ठ ६५]

प. १५. **अधिकारवशादि**ति प्रतिपक्षसम्बन्धवशादिति। पं. २२. **अधिकृत**मिति साद्यादिस्वरूपम्।

[पृष्ठ ६६]

पं. १८. **गु(तु)डियाणि** नी(त)तादीनि। पं. २०. **आयखेमु य** इति अनागम्येषु। पं. २१. **अखेमु य** इति दशातिरिक्तेषु। **पुणब्भवरहिया** इति मृत्वा पुनर्युगलधर्मिका न(न)।

[पृष्ठ ६७]

पं. १६. **गति-स्थित्यादी**त्यत्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभावना कार्या।

[पृष्ठ ६८]

पं. ९. **नज्ञे(तज्ज्ञे)य**मिति घटाद्यभिलाप्यार्थरूपम्। **आ(अ)कारादि** इति अर्थान् क्षरति सशब्दयति वाऽर्थलोपादक्षरम्। पं. १०. **अक्षरस्ये**ति सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरस्य। पं. १६. **सव्वागास** इति लोका-ऽलोकाकाश इति। पं. २२. **अत एवे**ति प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा। पं. २३. **उभयमपी**ति श्रुताक्षरं केवलाक्षरम्।

[पृष्ठ ६९]

पं. ३. **स्वपर्यायविशेषण** इति स्वपर्यायाणां विशेषणेन—विशेषव्यवस्थापकेन उपयोगात्। पं. ८. **अविरोध** इति विशेषणत्वेन। पं. १८. **गमिक**मिति भिन्ने अर्थजाते यत् सदृशाक्षरालापकं तद् गमिकम्, असदृशं त्वगमिकम्। पं. २७. **गायदुगद्ध**मिति पूर्व-पश्चिमउदर-पृष्ठिरूपम्। पं. ३१. **नियय**मिति सर्वतीर्थकरतीर्थेषु नियतम्।

[पृष्ठ ७१]

पं. २०. **दिन**मिति कर्कसंक्रान्तिदिनम्। पं. २९. **चेत्यादि** इति मरणम्।

[पृष्ठ ७३]

पं. ४. **समाणे** इति सन् । पं. ७. **अंतद्धिए** इति आकाशस्थ इत्यर्थः । प. ११. **सिंगनाइयमिति** सङ्घकार्यम् । पं. २७. **वुण्णिदशा** इति अवस्थाः ।

[पृष्ठ ७४]

पं. २०. **तच्छिष्यभाव** इति शासनप्रणेतृतीर्थकरः ।

[पृष्ठ ७५]

पं. १७. **इह चेति** अथवा आचारगोचरविनयेत्यादौ ।

[पृष्ठ ७६]

पं. ९. **मतिपत्तय** इति मतान्तराणि । पं. १४. **महापरिन्नोवहाणसुयं** इति पढमो सुयक्खंधः(धो) । पं. २९. **सपंचचूलो** इति द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्च चूडाः । पं ३०. **आयारग्गा** इति चूलादिकम् ।

[पृष्ठ ७७]

पं. ८. **निकाचिता** इति प्रतिष्ठिताः । पं. २८. **रूढ्या उच्यते** इति द्वितीयमेवाङ्गम् । पं. २९. **व्यूह-मिति** तिरस्कारम् ।

[पृष्ठ ७८]

पं. ५. **ईश्वरकारिण(कारणिन)** इति "अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुख-दुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥१॥" । पं. १०. **पूर्ववदिति** व्यूहं कृत्वा निवार्य । प. २६. **उत्पत्तेरिति** अप्रेतनानां त्रिविकल्पानाम-सम्भवात् । पं. २७. **सत्त्वमिति** जीवः सन्, ततः किम्? इति विकल्पाः कार्याः । पं. ३२ **अवमः** लघुभ्राता ।

[पृष्ठ ८१]

पं. १९. **ते दट्ठव्वा** इति अर्थाधिकारसमूहात्मकान्येवाध्ययनानि दश वर्गा द्रष्टव्या । पं २४. **एवं ठिए** इति प्रथमश्रुतस्कन्धवक्तव्यतायां भणितायाम् । पं. २८. **अति(इ)गा** इति अतिगच्छन्तीति ।

[पृष्ठ ८४]

पं. १६. **साहं(घे)ति** इति शुभा-ऽशुभम् ।

[पृष्ठ ८५]

पं. १७. **इदं प्राय** इति प्रायोग्रहणेन **प्रथमानुयोग**मात्रस्यास्तित्वं तत्कालं सूचयति ।

[पृष्ठ ८७]

पं. ६. **चिंताए वि** इति चिन्तायामपि ।

[पृष्ठ ८९]

पं. १६. **छंदकिरिया** इति छन्दः—शार्दूलादि करोति ।

[पृष्ठ ९०]

पं. १५. **पउप्पए** पश्चोपके । **सगरसुयाण** इति पर्यन्ते, यतः **सगरस्य जितशत्रुः** भ्रातृजः ।

॥ इति नन्दीविषमपदपर्यायाः समर्थिताः ॥

१

प्रथमं परिशिष्टम्

नन्दीसूत्रान्तर्गतानां सूत्रगाथानामकारादिवर्णक्रमेणानुक्रमणिका।



द्वितीयं परिशिष्टम्

नन्दीहारिभद्रीवृत्ति-तद्दुर्गपदव्याख्या-लघुनन्दिवृत्त्यन्तर्गतानामुद्धरणाना-मकारादिवर्णक्रमेणानुक्रमणिका ।

[1] हारिभद्रीवृत्तौ ५५ पत्रस्य २७ पङ्क्त्यनन्तरमियं गाथा शुद्धिपत्रके निष्टङ्किता ॥



तृतीयं परिशिष्टम् ।

नन्दीसूत्रमूल-हारिभद्रीवृत्ति-हा.वृ.दुर्गपदव्याख्या-हा.वृ.विषमपदटिप्पनक-सवृत्तिलघुनन्दी-योगनन्दीमूलान्तर्गतानां विशेषनाम्नामकारादिवर्णक्रमेणानुक्रमणिका ।

[अस्मिन् परिशिष्टे *एतादृक्पुष्पिकायुतानि नामानि नन्दीसूत्रमूलादिसूत्रपाठगतानि ज्ञेयानि]

४

चतुर्थं परिशिष्टम्।

नन्दीसूत्रवृत्त्याद्यन्तर्गतानि पाठान्तर-मतान्तर-व्याख्यान्तरावेदकानि स्थानानि।

पञ्चमं परिशिष्टम् ।

नन्दीसूत्रमूल-हारिभद्रीवृत्त्याद्यन्तर्गतानां व्याख्याताव्याख्यातशब्दानामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका ।

[अस्मिन् परिशिष्टे *एतत्फुल्लिकाचिह्नान्विताः शब्दा मूले व्याख्याताः, +एतदङ्किता +*एतच्चिह्नद्वयाङ्किताश्च शब्दाः 'पाइयसद्दमहण्णवा'-ख्यकोशानुपलभ्यमाना व्याख्याताः, +§एतच्चिह्नद्वयान्विताः शब्दाः 'पाइय० स० म०' कोशानुपलभ्यमाना अव्याख्याताश्च ज्ञेयाः]

शुद्धिपत्रकम् ।

पत्रस्य	पङ्क्तौ	अशुद्ध	विशोध्यम्
२	२६	जगजीवओ°	जग-जीव-ओ°
४	९	ईद्	' ईद्
८	२०	व्याख्या	व्याख्या
९	३	जीवदयव	जीवदयैव
,,	३०	एव	एव
१०	९त' १२	गत गाथायुगल हस्तावक्षरश उपलभ्यते ।	
,,	२०	इन्यनेन	इत्यनेन
१३	९	अजा वि	अज्जावि
,,	२९	°खमासणे	°खमासमणे
१४	१०	चपयवि°	°चपय-वि°
१५	२५	सेलधण	सेलघण
१७	१०	६१]	६१]॥४४॥
१८	३	स्त्रविषय°	स्त्र-विषय°
,,	२०	°स्याद् अमेदो°	°स्याद् मेदो°
२४	१२	मज्झगय ! से	मज्झगय ² मज्झगय से
,,	२२	°णाण ।	°णाण ²।
२६	२८	°विष्कम्भ सं°	°विष्कम्भसं°
२८	२५	क्रमवर्ति°	अक्रमवर्ति°
३०	१०	उस्सप्पिणीओ अव- सप्पिणीओ	ओसप्पिणीओ उस्सप्पि- णीओ
,,	१२	°भाग जाणइ पासइ ४ ।	°भागो ४ ।
३१	११	विदिक्षु	विदिक्षु
३३	७	°मुत्पत्ति-स्वा°	°मुत्पत्तिस्वा°
३४	५	°प्रर्याप्ति°	°पर्याप्ति°
३५	९	'स्कधान्'	स्कन्धान्'
३६	१४	°क्षेत्रपाप्ता	°क्षेत्रप्राप्ता
३८	७	प्रश्चानु°	पश्चानु°
३९	२०	'अणेगसिद्धा:'	'अणेगसिद्धा'
४०	११	साक्षाज्जा°	साक्षाज्जा°
,,	१३	°मां क्रमोप°	°या क्रमा-ऽक्रमोप°
४३	१५	शुद्धिला°	शुद्धितो ला°
,,	१८	°विश्रसो°	°विस्रसो°
४७	२५	अनाचार्यक	अनाचार्यक
४९	३०	रुचोऽभ्र°	काचाभ्र°
५१	२	स्वधर्मा°	सद्धर्मा°
,,	२२	°मुर्हूर्त्त	°मुहूर्त्त°
,,	२७	इहाऽऽऽगमनो	इह चाऽऽऽगमनो

पत्रस्य	पङ्क्तौ	अशुद्ध	विशोध्यम्
५२	२६	"अमादिमानागमः"	'अमादिमानागमः'
५३	१	°भ्य ग्रहण°	°भ्य [पुद्गला] ग्रहण°
,,	२	प्रविष्टैरसङ्ख्येय°	प्रविष्टा असङ्ख्येय°
,,	४	एव ग्रहण°	एव [विज्ञानजनकत्वेन] ग्रहण°
५४	१७–१८	अनिर्देश्यस्वरूप नामा°	अनिर्देश्य स्वरूपनामा°
,,	२४	°कार इति, क°	°कार 'इति' क°
५५	८	°णालादि य	°णालादिव
,		२७पङ्क्त्यनन्तरमिय गाथा वाच्या— [तं पुण चउव्विह नेयभेयओ तेण जं तदुवउत्तो । आएसेण सव्व दव्वाइ चउव्विह मुणइ ॥१॥]	
५७	२१	भवत्येव, स्मृ°	भवति, एव स्मृ°
५९	६	क्षर "स°	"क्षर सं°
६०	२५	52	25
,,	२९	स्तेन	तेन
६२	४	°वादोपशेन	°वादोपदेशेन
६३	३	तरर्हद्भिः,	तैरर्हद्भिः,
,,	२४	वक्तव्यम्	वक्तव्यम् ,
६४	१४	समयक्छत°	सम्यक्छ्रुत°
,,	२५	°हिद्रिया	°हिद्वीया
,,	,,	वयंति	वयति
६५	९	°दर्शन स्या°	°दर्शी न स्या°
,,	१९	एव	ए(इ)व
,,	२९	तहा	तदा
६६	२१	भविय पुण°	भवियपुण°
६८	१८	°विकारायेव	°विकारा[दकारा]येव
,,	३०	°सतुष्टयथं	°सतुष्टयथं
६९	५	°पर्याया अभाव°	°पर्यायाभाव°
,,	२७	गातद्दुग च	गातदुगद्ध च
७२	२२	विवाह°	त्रियाह°
७४	१३	संचराण	संभराणं
७६	१६	१६ वि°	१५ वि°
७७	१८	अकिरियवा°	अकिरियावा°
७८	६	इ०	१०
,,	९	°नव गुणा	°नवगुणा
८७	६	°चिंताए ते	°चिंताए वि ते

पत्रस्य	पङ्क्तौ	अशुद्धं	विशोध्यम्
१०८	१९	सङ्क प°	°सङ्कप°
११४	३२	योग-क्षेमौ	''योग-क्षेमौ''
११६	५	आदिग्रहणा°	आदिग्रहणा°
,,	१५	११	१४
,,	२७	'संक्षिप्तश्च'	°संक्षिप्तश्च ?'
,,	३१	°त्यादि	°त्यादि
११७	२०	सूक्ष्मश्वा°	सूक्ष्मैश्वा°
११८	१३	°यःशिलाका°	°य·शलाका°
,,	२२	°तम्। प. १६	°तम् । [पृष्ठ २८]·१६
,,	,,	°वृद्धौ	°वृद्धौ
११९	१	तदाऽङ्गल°	तदाऽङ्गुल°
,,	१४	°दिवु'-	°दिवु'
,,	२६	'अन्तराद्'	'अतरा'
१२५	१७	°योगभावे	°योगाभावे
१२७	१६	तमोभेंद	तमोभेंद
१४०	९	१२	२१
१४१	२६	दिट्ठो	दिट्ठो
१४२	१४	निग्गछंती	निग्गच्छंती
,,	२४	आहा	आहो
१४४	२	°णयासमत्ता	°णया समत्ता
१४५	२३	°मित्यादिका	°मित्यादिना
१४५	३१	°मिति। प्रा°	°मिति प्रा°
१५०	१	स्वातन्त्र्य प्र°	स्वातन्त्र्यप्र°
,,	३१	°लिङ्गित°	°लिङ्गित°
१५१	२१	तः	तः
,,	२७	यद्दिव°	यदि व°
१५२	२०	संङ्-	सङ्-
१५३	३	शेटितादि	शेण्टितादि
१५४	८	क्षयिक°	क्षायिक°
१५५	५	सत्यादय	सत्या(? सत्यक्या)दय
१५७	१६	गतिस्थि°	गति-स्थि°
१५८	२०	°भूतधटा°	°भूतघटा°
१५९	१३	संज्ञाव्य°	संज्ञा-व्य°
,,	३१	दाषः	दोषः
१६३	३	ज्ञज्ञातीय शृसङ्ग-	शृङ्गज्ञातीय सङ्ग-
१६५	२	७७	७८
,,	१०	15	10
,,	२५	20	25
१७४	१४	सिद्धशिला°	सिद्धिशिला°
१७५	२२	कौटुम्त्रिकः	कौटुम्बिकः
१८५	शिर्षके	°सत्र°	°सूत्र°



PRAKRIT TEXT SERIES

PUBLISHED WORKS.

1. ANGAVIJJĀ.

-Demy Quarto size..Pages-8+94+372..Price Rs. 21/-

Angavijjā is published for the first time by the Prakrit Text Society. It is critically edited by Muni Shri Punyavijayaji, with English Introduction by Dr. Motichandra and Hindi Introduction by Dr. V. S. Agarwal.

Angavijjā is an ancient Prakrit Text relating to prognostication on the basis of bodily signs. The work is of unknown authorship but was considered to be of high antiquity and great sanctity having been delivered by Mahāvīra himself. Its internal evidence points to its having been finally compiled at the end of the Kushan period, about 4th Century A. D.

It is highly important document firstly, for the history of Prakrit language and secondly, for the cultural history of India. It contains hundreds of lists of all descriptions, for example, seats, postures, utensils, containers, flowers, trees, personal names, food and drinks, bedsteads, conveyances, textiles, ornaments, jewellery, coins, birds, animals, arrows, weapons, boats, gods, goddesses, etc.

2, 4 PRĀKRTA-PAIṄGALAM Part I, II

Part I-Demy Octevo size. Pages 700-Rs. 16/- : Part II-Pages 16+16+592+12..Price Rs 15/-

Prākritapaiṁgalaṃ is a text on Prakrit and Apabhraṁśa Metres. It is critically edited with three Sanskrit commentaries on the basis of the two earlier editions and further available manuscript material by Dr. Bholashankar Vyas, a distinguished member of the Hindi Department of the Banaras Hindu University. He has also added Hindi translation with philological notes and glossary of Prakrit and Apabhramśa words.

Part II contains the editor's comprehensive Introduction dealing with the problems of the Prākṛta Paiṅgalaṃ together with a critical and comparative study of the metres that form the subject matter, as well as, the exact nature of the language of the original text, and also a literary assessment of the portion which the author intended to serve as illustrations to the Matrika and Varnika metres dealt with by him.

3. CAUPPANNAMAHĀPURISACARIYAM

-Demy Quarto size..Pages-8-68+384. Price Rs. 21/-

Cauppannamahāpurisacariyam is a great biographical work by Ācārya Śīlāṅka of the 9th Century A. D. It is critically edited by Pt. Amritlal Mohanlal, Research Scholar of Prakrit Text Society. Its Introduction is written by Dr. K. L. Bruhn

It gives the lives of 54 great men revered by the Jains, viz. 24 Tīrthankaras, 12 Cakravartins, 9 Baladevas and 9 Vāsudevas.

5. ĀKHYĀNAKAMAṆIKOŚA.

-Demy Quarto size..Pages 8+16+25+422..Price Rs. 21/-

Ākhyānakamaṇikośa is critically edited for the first time by Muni Shri Punyavijayaji.

It is written by Nemichandra and is commented upon by Āmradeva of the 12th Century A. D. This book is a mine of historical and legendary stories in Prakrit and Apabhraṁśa.

6. PAUMACARIAṂ Part I

-Demy Quarto size..Pages-8+40+376..Rs. 18/-

This is the earliest Prakrit version of the story of Rāma. It was written in about the third Century A. D. by Vimala. The work is printed with Hindi translation. It is revised by Muni Shri Punyavijayaji and translated by Prof. S. M. vora, M. A., Jainadarśanācārya Its Introduction is written by Dr. V. M. Kulkarni.

7. PĀIASADDAMAHAṆṆAVO

-Demy Quarto size..Pages 64+952. Price Rs. 20 for student edition and Rs. 30 for the library edition.

This great Prakrit-Hindi Dictionary is published in its second edition adding some new words.

8 NANDĪSŪTRACŪRṆI

-Demy Quarto size, Pages 104 · Price Rs. 12/-

Nandīsūtra with its Cūrni is critically edited by Muni Shri Punyavijayji for the first time Five indiecs have been added at the end.

WORKS IN THE PRESS.

1. PAUMACARIAṂ Part II

-Demy Quarto size..

The second part of this great work will be published very soon.

2. PĀSACARIU

-Demy Quarto size.

This work is critically edited and translated in Hindi by Prof. P. K. Modi, Principal, Sanskrit College, Indore.

This is a work on the life of Pārśvanātha, the 23rd Tīrthankara in Apabhraṁśa language

3 SŪTRAKRITĀNGA

-Demy Quarto size..

Sūtrakṛtānga is an important canonical text of the Jains. It gives the fare idea of the various Sects and Philosophical Schools of the sixth Century B C. and also deals with fundamental teachings of Lord Mahāvīra.

This is critically edited by Muni Shri Punyavijayaji with two commentaries in Prakrit, viz. Niryukti and Cūrṇi.

4 DASAKĀLIKA

-Demy Quarto size..

Dasakālika is written by Śayyambhava in the 4th Century B. C. It will be published with Niryukti and Cūrni of Agastyasiṃha for the first time. It deals with the conduct of the Jaina Monks.

It is edited by Muni Shri Punyavijayaji

5. PUHAVICANDACARIYAM

This work written by Ācārya Śāntisūri deals with the famous story of Pṛthvicandra, It is a fine piece of ornate Prakrit poetry.

6. MŪLAŚUDDHI

The text is written by Ācārya Pradyumnasūri and is commanted by Ācārya Devacandra the Guru of Hemacandrasūri. This important work contains many stories regarding purity of the faith etc.

